A.C.-22.11.2022
Appendix-117

Department of Distance and Continuing Education
University of Delhi

दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

बी.ए.(प्रोग्राम) राजनीति विज्ञान

सेमेस्टर-I

कोर्स क्रेडिट-4

Multi-Discipline Specific Core Course (MDSC-1A)

राजनीतिक सिद्धांत का परिचय

(Introduction to Political Theory)

As per the UGCF and National Education Policy 2020

Editorial Board

Dr. Mangal Deo

Dr. Shakti Pradayani Rout

Dr. Sudhir Kumar Parida

Content Writer

Dr. Mangal Deo

Disclaimer:

The current study material is an edited, reframed, and rewritten version of a previous study material from the C.B.C.S/Annual Mode.

© **Department of Distance and Continuing Education**

Ist edition: 2022

E-mail: ddceprinting@col.du.ac.in
politicalscience@col.du.ac.in

Published by:

Department of Distance and Continuing Education under the aegis of Campus of Open Learning, University of Delhi

Printed by:
School of Open Learning, University of Delhi

Table of Contents

Sl. No.	Title	Writer/Translator	Pg. No.
Unit-1	राजनीतिक सिद्धांत क्या है और इसकी प्रासंगिकता क्या है	डॉ. मंगल देव	01
Unit-2	स्वतंत्रता, समानता, न्याय और अधिकार की अवधारणाएं	डॉ. मंगल देव	30
Unit-3	राजनीतिक सिद्धांत में वाद-विवाद के मुद्दे (क) सुरक्षात्मक भेदभाव और निष्पक्षता के सिद्धांत? (ख) सार्वजनिक बनाम निजी बहस: नारीवादी परिप्रेक्ष्य सेंसरशिप और इसकी सीमाएं	डॉ. मंगल देव	81

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

इकाई–I

राजनीतिक सिद्धांत क्या है और इसकी प्रासंगिकता क्या है

डॉ. मंगल देव

संरचना

1.1 उद्देश्य
1.2 सिद्धांत का अर्थ
1.3 राजनीतिक सिद्धान्त का अर्थ
1.4 राजनीतिक सिद्धान्त वस्तु एवं कार्य क्षेत्र-विषय :
1.5 राजनीतिक सिद्धान्त प्रकृति एवं महत्त्व :
1.5.1 राजनीतिक सिद्धान्त की प्रकृति कुछ प्रारंभिक तत्त्व :
1.5.2 राजनीतिक सिद्धान्त ऐतिहासिक संदर्भ में :
1.5.3 राजनीतिक सिद्धान्त की वैज्ञानिकता
1.6 राजनीतिक सिद्धान्त एवं दर्शन
1.7 राजनीतिक सिद्धान्त महत्त्व :
1.8 राजनीति के विभिन्न दृष्टिकोण
1.8.1 राजनीति का उदारवादी दृष्टिकोण
1.8.2 राजनीति के विषय में मार्क्सवादी दृष्टिकोण
1.8.3 समझौतावादी दृष्टिकोण
1.8.4 राजनीति का लोकहित दृष्टिकोण
1.9 निष्कर्ष
1.10 प्रश्न
1.11 संदर्भ सूची

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

1.1 उद्देश्य

राजनीतिक सिद्धान्त एक प्राचीन विषय रहा है, भले ही इसके नाम पर विचारकों में एकमत का अभाव रहा हो। जबजब - राजनीतिक मुद्दे उभरते रहे हैं, तबतब राजनीतिक सिद्धान्त का अध्ययन आवश्यक समझ गया है। आरम्भ से ही विचारकों - ने राजनीतिकमुद्दों जैसे राज्य तथा सरकार अथवा राजनीतिक संस्थाओं का गठन), उनके स्वरूप, उनके लक्ष्य उनका कार्यसंचालन-, सत्ता, आदिअपने समय -विमर्श का केन्द्र बनाया है। अनेक विचारकों ने न केवल अपने-को अपने विचार (

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

के राजनीतिक मुददों से सम्बन्धित समस्याओं को उठाया है, अपितु उनके समाधान भी अपनेअपने दर्शन के माध्यम से - बताने का प्रयास किया है।

अतः स्पष्ट है कि राजनीतिक सिद्धान्त राजनीतिक मुद्दों से सम्बन्धित ज्ञान है। यह अमुक काल के राजनीतिक मुद्दों की तलाश करता है, उन्हें पहचान देता है, उनका विश्लेषण करके उन से सम्बन्धित सिद्धान्त का निर्माण करता है। राजनीतिक सिद्धान्त सार्वजनिक जीवन के राजनीतिक प्रबन्ध का दूसरा नाम है। राजनीतिक सिद्धान्त के अर्थ को समझने से पूर्व यह जरूरी है कि हम सिद्धान्त शब्द का अर्थ समझ लें। इसके उपरान्त तथा इसके आधार पर राजनीतिक सिद्धान्त का अर्थ समझना सरल हो सकता है।

1.2 सिद्धान्त का अर्थ

सिद्धान्त शब्द की व्युत्पत्ति यूनानी शब्द थ्योरिया से हई है। मनन की अवस्था : का अर्थ है "थ्योरियो", चिन्तन की स्थिति। जब हम किसी भी तथ्य को समझने के लिए उस तथ्य पर मनन करते हैं तो उसे थ्योरियों अर्थात् सिद्धान्त कहा जाता है। अर्नोलट ब्रेश्ट ने थ्योरियो अर्थात् सिद्धान्त शब्द को व्यापक एवं संकीर्ण अर्थों में बताया है तथा उस प्रक्रिया में उनमें परस्पर भेद की ओर संकेत दिया है। थ्योरियो शब्द का व्यापक अर्थ है। किसी विचारक के समस्त विचार व किसी विषय का समग्र प्रतिपादन जिसमें तथ्यों का वर्णन उनकी व्याख्या, उसकी इतिहास की धारणा उसकी मूल्य परकता तथा लक्ष्यों, नीतियों व नियमों पर उसके सुझाव आदि सम्मिलित हों। ब्रेश्ट के अनुसार, सिद्धान्त का संकीर्ण अर्थ किसी विचार का मात्र अथवा मूल रूप से व्याख्या है। अतः अपने सकीर्ण अर्थ में सिद्धान्त का अर्थ किसी विचार की व्याख्या है जबकि व्यापक अर्थ में इसका अर्थ एक विचारक अथवा किसी संकल्पना का समस्त चिंतन है। संकीर्ण अर्थ में सिद्धान्त के "व्याख्या" ऊपर नहीं उठता, व्यापक अर्थ में सिद्धान्त में व्याख्या के साथ"आलोचना" तथा "समीक्षा" "विश्लेषण" साथ- आदि को भी जोड़ता है। -शब्द के अर्थ में निम्नलिखित विशेषताएँ होना उसके अर्थ को समझने के लिए अनिवार्य है "सिद्धान्त"

1. सिद्धान्त व्यवहार से अवश्य बनता है, परन्तु उसमें मनन का गुण होना आवश्यक है। इस कारण व्यवहार सिद्धान्त के लिए आधार की भूमिका निभाता है, परन्तु इस क्रम में वह स्वयं सिद्धान्त का स्थान नहीं ले लेता।
2. सिद्धान्त मात्र व्याख्या का नाम नहीं है। व्याख्या तो मनन अर्थात् सोचने का एक अंश है। इस कारण सिद्धान्त के अर्थ में व्याख्या के साथसाथ किसी तथ्य की खोज-, निश्चयन, परिवर्धन, परिमार्जन आदि विशेषताएँ भी होती हैं। सिद्धान्त से कहीं अधिक बड़े स्थान पर विराजमान है। "व्याख्या"
3. सिद्धान्त संकल्पना भी नहीं होता। संकल्पना में संपूर्ण सत्य नहीं होता और न ही उसमें निश्चितता होती है। इस कारण सिद्धान्त संकल्पना के विपरीत सत्यता तथा निश्चितता का प्रतीक है।
4. सिद्धान्त समस्त दर्शन नहीं होता, वह तो दर्शन का एक भाग होता है। वास्तव में दर्शन समग्रता से सम्बन्धित होता है जबकि सिद्धांत केवल कुछ बातों से ही सम्बन्धित होता है।

© DDCE,COL,SOL,University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

5. सिद्धान्त जैसे दर्शन का एक अंश मात्र है, वह विचार का भी एक अंश है। यह विचार का एक हिस्सा है। सिद्धान्त तो विचार का मात्र एक विचार है, समस्त विचार नहीं है।
6. सिद्धान्त में मात्र मनन ही नहीं होता, उसमें विवेक की मात्रा भी होती है। तथा उसका विज्ञान से सम्बन्ध होता है। इस कारण सिद्धांत विवेक की अपेक्षा किसी विचार की विवेकता तथा वैज्ञानिकता के साथ साथ उस विचार का-चिंतन भी है।

1.3 राजनीतिक सिद्धान्त का अर्थ

राजनीतिक सिद्धान्त राजनीति के विज्ञान व उसके दर्शन से है। स्वयं राजनीति शब्द : से सम्बन्धित सिद्धान्त है "राजनीति" अपने आप में व्यापक है। जिसमें राजनीतिक संस्थाओं की संरचना, उनकी कार्यप्रणाली उनके अंग, उनके लक्ष्य, उनकी कानून बनाने व कानून मनवाने की शक्ति तथा उनके अन्य व्यवस्थाओं जैसे आर्थिक -, समाजिक, राजनीतिक से सम्बन्ध आदि सम्मिलित हैं। राजनीतिक सिद्धान्त राजनीति के सभी पहलुओं के अध्ययन, विश्लेषण समीक्षा तथा व्यवहार का विषय है। राजनीतिक सिद्धान्त से सम्बन्धित कुछेक महत्त्वपूर्ण परिभाषाएँ हैं

1. व्यापक तौर पर राजनीतिक सिद्धान्त का अर्थ उन सब बातों से है जो कि राजनीति से सम्बधित अथवा प्रासंगिक है। संकीर्ण दृष्टि से इसका अर्थ राजनीतिक समस्याओं की विधिवत जाँच से है सेबाइन। -
2. राजनीतिक सिद्धान्त राजनीति का विषयवस्तु की व्याख्या है। यह राजनीतिक संसार को समझने के लिए एक वैचारिक संरचना है। यह संदर्भो की एक ऐसी व्यवस्था है जिसके बिना किसी घटना को कहना "राजनीतिक" कठिन होगा और यह कहना भी कठिन होगा कि ऐसी घटना घटी तो क्या घटी और घटी तो घटी "अच्छी" बल्हम - अथवा बुरी और न ही हम यह जान पाएँगे कि इस घटना के बाद भविष्य में क्या घटने वाला है।
3. राजनीतिक सिद्धान्त अच्छे राज्य और अच्छे समाज से सम्बन्धित नियमों की पक्षपातरहित तलाश एक ओर करता है और दूसरी ओर राजनीतिक और सामाजिक वास्तविकता से सम्बन्धित ज्ञान की खोज करता है – एंड्रहैक्कर
4. राजनीतिक सिद्धान्त राजनीतिक जीवन विषयक अवधारणाओं और सामान्य सिद्धान्तों का बना हुआ जाल है। जिसमें सरकार, राज्य और समाज की मुख्य विशेषताओं उनकी प्रकृति व उद्देश्य से सम्बन्धित विचारों मान्यताओं व वक्तव्यों तथा मनुष्य के राजनीतिक सामर्थ्य का अध्ययन करते हैं हैल्ड। -

राजनीतिक सिद्धान्त से सम्बन्धित उपर्युक्त परिभाषाओं के प्रकाश में उसके अर्थ में निम्नलिखित पहलुओं को स्पष्ट देखा जा सकता है :

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

1. राजनीतिक सिद्धान्त जिस क्षेत्र से सम्बन्धित है, वह क्षेत्र राजनीतिक है। अतः इसके अंतर्गत एक नागरिक के राजनीतिक जीवन, उसके राजनीतिक व्यवहार, उसके राजनीतिक विचार, उसके द्वारा सरकार के गठन और उस सरकार को दिए जाने वाले कार्यों आदि का अध्ययन किया जाता है।
2. राजनीतिक सिद्धान्त किसी भी राजनीतिक मुद्दे अथवा तथ्य के अध्ययन में जो पद्धति अपनाता है, वह एक साथ वर्णगत्मक व्याख्यात्मक, अन्वेषात्मक है।
3. निःसन्देह राजनीतिक विज्ञान का सम्बन्ध उससे है जिसे हम राजनीतिक कह रहे हैं, परन्तु इस शास्त्र का सम्बन्ध उन सब सामाजिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, पर्यावणीय, ऐतिहासिक और नैतिक पहलुओं से है जो राजनीतिक पहलू को या तो प्रभावित करते हैं या उससे प्रभावित होते हैं।
4. अन्ततः राजनीतिक सिद्धान्त का लक्ष्य एक अच्छे समाज में अच्छी सरकार का गठन करता हैं और उस प्रक्रिया में वह ऐसी प्रक्रियाओं, संस्थाओं व सरंचनाओं का निर्माण करता है जो कि ऐतिहासिक दृष्टि प्रक्रिया में वह ऐसी प्रक्रियाओं, संस्थाओं व सरंचनाओं का निर्माण करता है जो कि ऐतिहासिक दृष्टि से परखे गए हों तथा तार्किक रूप से अनुकूल हों।

अतः राजनीतिक सिद्धान्त के अर्थ को प्लमनाज के शब्दों में इस प्रकार बताया जा सकता है राजनीतिक सिद्धान्त का - उद्देश्य राजनीति शब्द का विश्लेषण और स्पष्टीकरण है तथा उससे सम्बन्धित सभी अवधारणाओं की आलोचनात्मक समीक्षा, सत्यापन तथा औचित्य सम्मिलित है जो राजनीतिक तर्कवितर्क का अंश होते हैं।-

यहाँ यह समझना आवश्यक है कि राजनीतिक सिद्धान्त एक प्राचीन विषय होने के कारण सदैव एक जैसा नहीं रहा है। प्रायः इसके विकास में तीन धाराएँ बतायी जाती हैं प्राचीन आधनिक प्राचीन राजनीतिक सिद्धान्त का सम्बन्ध मुख्यतः - मूल्यों, मानकों, आदर्शों आदि से रहा है एक अच्छे राज्य व समाज की स्थापना कैसे की जा सकती है। यह धारा अपने - स्वरूप में उपदेशात्मक होने के कारण काल्पनिक अधिक है। आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त विवेक तथा विज्ञान पर आधारित राजनीति का विश्लेषण है जिसके अध्ययन में आंकड़े, उनकी वैज्ञानिकता, उनकी जांच, उनका वर्गीकरण तथा उन सबके आधार पर निष्कर्षों को महत्त्व दिया जाता है। समकालीन राजनीतिक सिद्धान्त आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त के हाल के राजनीतिक मुद्दों से सम्बन्धित है जिसमें कहीकहीं केवल विज्ञान पर-, कहीं-कहीं केवल मूल्यों पर और कहीं- कहीं दोनों के सम्मिश्रण पर जोर दिया जाता है।

1.4 राजनीतिक सिद्धान्त वस्तु एवं कार्य क्षेत्र-विषय :

राजनीतिक सिद्धान्त के अर्थ को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए उसका विषयक्षेत्र जानना -वस्तु तथा कार्य- लाभकारी हो सकता है। प्रायः यह देखने में आया है कि राजनीतिक गतिविधि को सामान्यतः आत्मनिष्ठता, तिकडमीपन, अविश्वास और सनक आदि शब्दों से जोड़ा जाता है। परन्तु राजनीतिक विज्ञान में बतायी जाने वाली यह नकारात्मक प्रवृतियाँ उसके अर्थ की सही जानकारी नहीं देती। वस्तुतः राजनीति का स्वरूप न तो नकारात्मक है और न ही

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

इस सिद्धान्त को छल कपट का शास्त्र कहा-जा सकता है। यदि हम यह मानते हैं कि राजनीतिक सिद्धान्त का उससे है जो राजनीतिक है तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि राजनीतिक सिद्धान्त राजनीतिक गतिविधियों के एक अनुशासिक अन्वेषण से सम्बन्धित है।

राजनीतिक सिद्धान्त के विषयसमय पर बदलाव आता रहा है-वस्तु का समय-। प्राचीन काल से लेकर लगभग अठारहवीं शताब्दी के प्रारंभ तक राजनीतिक सिद्धान्त ऐसी समस्याओं का समाधान तलाशता रहा है जो यह बता सकते हों कि राज्य एवं सरकार का स्वरूप कैसा हो और उन्हें क्यातब राजनीतिक सिद्धान्त अधिकांशतः मानकीय -क्या कार्य सौपें जाएँ- स्वरूप रखत ा था। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों के अधिकांश भाग में राजनीतिक सिद्धान्त राजनीतिक संस्थाओं की संरचनाओं से सम्बन्धित शास्त्र समझा जाता रहा। बीसवीं शताब्दी के दौरान वैज्ञानिकता के प्रभाव में आकर अमरीकी राजनीतिशास्त्रियों ने राजनीतिक सिद्धान्त को मृत घोष-ित कर दिया। तब अमरीकी व्यवहारवादियों और ब्रिटिश परम्परावादियों में चली बहस क्रमशः राजनीतिक सिद्धान्त के पतन तथा उसकी उपयोगिता का अन्ततः परिणाम इस तथ्य में समाप्त हुआ कि राजनीतिक सिद्धान्त एक वैज्ञानिक अध्ययन के साथ मूल्यपरक दर्शन भी है। आज राजनीतिक सिद्धान्त का कार्यक्षेत्र सरकार के उद्देश्यों के साथ उसके स्वरूप की भी चर्चा करता है।-

परन्तु राजनीतिक सिद्धान्त सरकार के अध्ययन तक ही सीमित नहीं है, वह उन सब गतिविधियों से जड़ा है जो अपने स्वरूप में राजनीतिक है। इस दृष्टि से राजनीतिक सिद्धान राजनीतिक संस्थाओं के गठन, स्वरूप, प्रकृति, कार्यपद्धति, लक्ष्यों आदि से सम्बन्धित ज्ञान है। राजनीति राजनीतिक सिद्धान्त का सारअध्ययन है-, परन्तु राजनीति का अस्तित्व कहीं हवा में तो होता नहीं है। स्वयं राजनीति अपनी राजनीतिक व्यवस्था का अंग है, राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था का एक अंश है और समाजिक व्यवस्था स्वयं अन्य प्रकार की सामाजिक व्यवस्थाओं के साथ जुड़ी होने के कारण एक पर्यावणीय व्यवस्था से सम्बन्धित है। इस कारण राजनीतिक सिद्धान्त का कार्यक्षेत्र राजनीतिक पहल से उठकर सामाजिक पहलुओं को छूता है और साथ ही समाज में उठने वाली अन्य समस्याओं का समाधान ढूँढता है। स्पष्ट है कि राजनीतिक सिद्धान्त किसी भी राजनीतिक तथ्य को उसके संदर्भ में समझने का प्रयास करता है यह संदर्भ अपने रूप में आर्थिक -, सामाजिक, नैतिक, सांस्कृतिक पर्यावरणीय और भूराजनीतिक हो सकते हैं। राजनीतिक सिद्धान्त भले ही- अपने स्वरूप में राजनीतिक है, परन्तु, "राजनीतिपर पड़े जाने वाले सभी बाहरी पहलुओं के प्रभाव को भी राजनीतिक सिद्धान्त " नजरअंदाज नहीं कर सकता। यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक सिद्धान्त का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत हो गया है। जिसमें राज्यों-हम राष्ट्र, अन्तर्राष्ट्रीय कानून और विश्व राजनीतिक अर्थव्यवस्था की भिन्न प्रणालियों को भी प्रशासकीय यंत्र पर प्रभाव का अध्ययन करते हैं।

1. राजनीतिक सिद्धान्त की विषय सूची में मुख्यतः निम्नलिखित का अध्ययन स्वाभाविक बन गया है –
2. राज्य का अध्ययन उसके अतीत, वर्तमान व भविष्य का अध्ययन उसके स्वरूप, उसके लक्ष्यों तथा उसकी कार्यपद्धति का अध्ययन।

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

3. सरकार का अध्ययन उसके विभिन्न अंग :, उन अंगों में पारस्परिक सम्बन्ध उसका स्वरूप तथा उसकी प्रवृत्ति।
4. राजनीतिक गतिविधियों का अध्ययन, उनका विश्लेषण उन की समीक्षा।
5. राज्य, सरकार व राजनीतिक संस्थाओं की ओर से सत्ता, वैधानिकता, शक्ति, आदि का अध्ययन तथा समाज और मनुष्य की ओर से अधिकारों, स्वतंत्रताओं, समानता, समाजीकरण, राजनीतिकरण, राजनीतिक संस्कृति, भिन्न प्रकार के शासन यंत्रों का अध्ययन।
6. राजनीतिक सिद्धान्त राजनीतिक गतिविधियों को स्थानीय राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय पृष्ठभूमि में अध्ययन करता है।
7. राजनीतिक सिद्धान्त आधुनिक राजनीतिक मुद्दों जैसे कर्त्तव्य पालना, मूल मानवीय अधिकार नारीवाद, उपआश्रितअध्ययन-, पर्यावरण तथा विकास से सम्बन्धित समस्याओं से सम्बन्धित है।
8. राजनीतिक सिद्धान्त साथ गैर राजनीतिक तथ्यों का अध्ययन करता है। अतः राजनीतिक -के साथ "राजनीतिक" सिद्धान्त का कार्यक्षेत्र उसके अवयवों तक सीमित नहीं है, अपितु, उन सभी विषयों को भी या समाहित करता है। जिनका राजनीति पर प्रभाव पड़ता है अथवा जो उससे प्रभावित होते हैं।

राजनीतिक सिद्धान्त का सम्बन्ध राजनीति से अथवा राजनीतिक गतिविधि से है। राजनीतिक गतिविधि तो कोई घटनाक्रम होती है जिसमें एक घटना से सम्बन्धित अनेक संघटक होते हैं। राजनीतिक सिद्धान्त इन संघटकों का भी अध्ययन करता है। ब्रेश्ट ने राजनीतिक सिद्धान्त की प्रमुख संघटक इकाइयों को निम्नलिखित बताया है –

1. राजनीतिक सिद्धान्त का आधार है। "समूह" न होकर "व्यक्ति"
2. क्योंकि राजनीति का सम्बन्ध से है इसलिए यह स्वाभावित ही है कि न केवल व्यक्तियों अपितु समूहों के "समूह" हितों में टकराव हो। फलस्वरूपराजनीतिक सिद्धान्त का दूसरा आवश्यक अवयव इन परस्पर विरोधी हितों में संतुलन बनाना है।
3. राजनीति के क्षेत्र में सामूहिक जीवन राजनीतिक सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु है। इसलिए उसका वास्ता सहज रूप से शक्ति, प्रभाव, नियंत्रण, वैधानिकता और न्याय जैसी अवधारणाओं से रहता है। अतः इअवधारणाओं को . राजनीतिक सिद्धान्त का अभिन्न अंग माना जा सकता है।
4. राजनीतिक सिद्धान्त का एक अन्य तत्त्व गतिविधि है। गतिविधि दर्शन मात्र नहीं है अपितु यह तो दर्शन और व्यवहारिकता का समन्वय है। ऐसा कोई सिद्धान्त जो गतिविधि अथवा नीतियों से जुड़ा न हो, राजनीतिक सिद्धान्त का तत्त्व नहीं कहलाया जा सकता।
5. राजनीतिक सिद्धान्त में हम उस राजनीतिक गतिविधियों का संचालन करने वाले कार्यकर्ताओं तथा लौकिक प्रतिनिधियों का अध्ययन करते हैं। राजनीति के क्षेत्र में इन्हीं व्यक्तियों के समूह को विशिष्ट वर्ग कहा जाता है। यह विशिष्ट वर्ग भी राजनीतिक सिद्धान्त का अपरिहार्य अंग है।
6. राजनीतिक सिद्धान्त में चयन और निर्णय प्रक्रिया की भी अध्ययन होता है। इस के अध्ययन से हमें यह जानकारी मिलती है कि शक्ति कहाँ केन्द्रित है।

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

1.5 राजनीतिक सिद्धान्त : प्रकृति एवं महत्त्व

राजनीतिक सिद्धान्त की प्रकृति उसके अर्थ से जुड़ी हुई है। जैसे उसके अर्थ पर विचारकों में एक मत नहीं है, वैसे उसकी प्रकृति के विषय में भी विचारकों में एक मत का अभाव है। कुछ विद्वान ऐसे हैं जो राजनीतिक सिद्धान्त को भिन्न विचारों एवं दार्शनिकों के ग्रन्थों के जोड़ का नाम देते हैं, परन्तु ऐसी सोच राजनीतिक सिद्धान्त को राजनीतिक चिंतन बना देती है। कुछ अन्यों ने राजनीतिक सिद्धान्त को राजनीतिक दर्शन कहने का प्रयास किया है। परन्तु जहाँ यह ठीक है कि राजनीतिक सिद्धान्त राजनीतिक दर्शन का एक अंश है, परन्तु वहाँ यह भी ठीक है कि राजनीतिक सिद्धान्त मात्र एक अंश है और अंश तो अंश होता है राजनीतिक सिद्धान्त - किसी संपूर्ण वस्तु का एक अंश मात्र अंश संपूर्ण वस्तु से बड़ा नहीं हो सकता - राजनीतिक दर्शन का एक हिस्सा है। कुछ अन्य और उनमें अधिकांशतः अमरीकी आधुनिकवादी विज्ञान के प्रभाव में आकर राजनीतिक सिद्धान्त की प्रकृति में राजनीतिक विज्ञान की विशेषताएं देखते हैं, परन्तु जहाँ यह ठीक है कि राजनीतिक सिद्धान्त में विज्ञान की मात्रा सम्मिलित है, वहाँ उसमें उसका इतिहास भी शामिल है, उसकी संस्कृति तथा उसका दर्शन भी सम्मिलित है। अतः राजनीतिक सिद्धान्त अपनी प्रकृति में राजनीतिक विज्ञान से अत्याधिक व्यापक है। क्योंकि राजनीति राजनीतिक सिद्धान्त से संबंधित है, इसलिए उसके स्वरूप को राजनीतिक सिद्धान्त का स्वरूप मान लेना स्वाभाविक है, परन्तु इन दोनों में भेद उतना है जितना कि व्यवहार और सिद्धान्त में। राजनीति राजनीतिक सिद्धान्त का व्यवहार है और राजनीतिक सिद्धान्त राजनीति का सिद्धान्त है। एक व्यक्ति एक समय पर राजनीतिज्ञ हो सकता है, राजनीति शास्त्री हो सकता है, राजनीतिक सिद्धान्तवादी हो सकता है, अथवा राजनीतिक दार्शनिक हो सकता है, परन्तु वह एक समय पर सब कुछ तो नहीं हो सकता है और न ही इनमें अधिकांशतः हो सकता है -

1.5.1 राजनीतिक सिद्धान्त की प्रकृति कुछ प्रारंभिक तत्त्व :

राजनीतिक सिद्धान्त को राजनीति, राजनीति विज्ञान, राजनीतिक दर्शन, राजनीतिज्ञता के साथ भेद करके हमने राजनीतिक सिद्धान्त के कुछेक प्रारंभिक तत्त्वों को उभारने का प्रयास किया है। इस प्रारंभिक तत्त्वों को निम्नलिखित प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है - :

1. राजनीतिक सिद्धान्त राजनीतिक दार्शनिकों द्वारा लिखे गए ग्रन्थों से अपनी सामग्री प्राप्त करके अपने अध्ययन कोष में वृद्धि करता है। राजनीतिक सिद्धान्त अपनी अनेक अवधारणाओं के अर्थों को समझने के लिए राजनीतिक दार्शनिकों की रचनाओं से प्रेरणा लेता है। मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने के तथ्य अरस्तू की देन मानकर हम राजनीतिक सिद्धान्त के अनेक मुद्दों में एक महत्त्वपूर्ण मान्यता मान लेते हैं। चिन्तन राजनीतिक सिद्धांत का आधार अवश्य है, परन्तु प्रत्येक नींव को इमारत भी तो चाहिए बड़ा सामान -इमारत का सब छोटा - स्वयं राजनीतिक सिद्धान्त जुटाता है।

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

2. राजनीतिक सिद्धान्त की अपनी विशेष प्रकृति किसी तथ्य के चिंतन से आरंभ होती है और दर्शन उस चिंतन का समग्र रूप होता है। इस दृष्टि से दर्शन राजनीतिक सिद्धान्त की जननी का कार्य करता है। किसी तथ्य का चिंतन तथा सभी तथ्यों का चिंतन एक बात नहीं होती।
3. राजनीतिक सिद्धान्त किसी तथ्य की मात्र व्याख्या अथवा उसका वर्णन नहीं है, वह तो उस तथ्य का विश्लेषण भी है, उसकी समीक्षा भी है, उसकी छानबीन है। राजनीतिक सिद्धान्त को मात्र एक विज्ञान कहना उतना ही गलत है जितना उसे इतिहास, दर्शन, अथवा संस्कृति कहना है। राजनीतिक सिद्धान्त को राजनीतिक मुद्दों का विज्ञान, इतिहास, दर्शन तथा उसकी संस्कृति सबका संगम है। -
4. राजनीतिक सिद्धान्त राजनीतिज्ञों की गतिविधियों, दलबंदी राजनीतिक जोड़तोड़ जैसे तथ्यों से दूर है। इसलिए - यह बहुत कम देखा गया है कि कोई राजनीतिज्ञ राजनीतिक सिद्धान्तवादी भी हो। हमारे पास चाणक्य और विल्सन के उदाहरण बहुतअधिक नहीं हैं। राजनीतिक सिद्धान्त राजनीति को मार्ग दर्शन देता है, उसे राजनीतिक अवधारणाओं के सिद्धान्तों से परिचित कराता है।

उपर्युक्त विवरण से यह जानना कठिन नहीं है कि राजनीतिक सिद्धान्त की प्रकृति में हतिहास, दर्शन तथा विज्ञान के अंश अपनीअपनी सामानांतर म-ात्रा में दिखाई देते हैं। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि राजनीतिक सिद्धान्त की प्रकृति इतिहास, दर्शन तथा विज्ञान के आभार से मुक्त नहीं है।

1.5.2 राजनीतिक सिद्धान्त ऐतिहासिक संदर्भ में :

राजनीतिक सिद्धान्त का अध्ययन ऐतिहासिक संदर्भ में किया जा सकता है। इस युक्ति का समर्थन सेबाइन जैसे अनेक विद्वानों ने किया है। इतिहास के बिना राजनीतिक सिद्धान्त नींव के बिना ढाँचा होता है। राजनीतिक सिद्धान्त बिना इतिहास के निर्मल है। इतिहास को बीती हुई राजनीति तथा राजनीति को वर्तमान इतिहास प्रायः अनेक विद्वानों ने कहा है। ऐसा सोचना गलत नहीं है कि राजनीति इतिहास से अपना संपर्क तोड़ ले, तो वह बर्बर बन जाता है और यदि इतिहास राजनीति से अपना संबंध भूला दे, तो वह साहित्य मात्र रह जाता है।

राजनीति के अध्ययन तथा उसके विश्लेषण में हमें राजनीतिक परंपरा और व्यवहार के सुनिश्चित स्वरूप का ज्ञान होता है। इसलिए यह आवश्यक है कि राजनीति का अध्ययन सही अर्थों में ऐतिहासिक अध्ययन हो। इतिहास केवल बीते हुए युग की घटनाओं का संग्रह मात्र नहीं है, अपितु ज्ञान और अनुभव का भण्डार है। भविष्य में होने वाले नये विकास की नींव उसी में है और तथा मानवता के निरंतर विकास के साथ वह शाश्वत रूप से जुड़ा हुआ है। इतिहास के अभाव में राजनीतिक सिद्धान्त रंगहीन हैं राजनीतिक सिद्धान्त के ऐतिहासिक संदर्भ को निम्नलिखित बताया जा सकता है।

1. इतिहास राजनीतिक सिद्धान्त का अध्यापक है। उसका प्रत्येक पन्ना राजनीति का शिक्षक है।

© DDCE, COL,SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

2. अतीत की घटनाओं के वर्णन के रूप में इतिहास राजनीति के लिए एक मार्गदर्शक के साथसाथ उसकी - प्रयोगशाला का भी काम करता है। इतिहास में वर्णित अनेक प्रयोग सफलता व विफलता के संकेत बनकर राजनीति को सावधान किये रखते हैं।
3. राजनीति सिद्धान्त को इतिहास आधार प्रदान करता है। ऐतिहासिक दृष्टि से ही हम किसी राजनीतिक मुद्दे को सही रूप से समझ सकते हैं। राजनीति इतिहास की धारा में उसी प्रकार संचित है जिस प्रकार नदी के रेत में सोने का कण।

राजनीति सिद्धान्त के अध्ययन के लिए इतिहास का अध्ययन अनिवार्य अवश्य है, परन्तु जैसे समस्त राजनीति इतिहास नहीं है, वैसे समस्त इतिहास राजनीति नहीं होता। इतिहास का कुछ भाग ही राजनीतिक सिद्धान्त के लिए आवश्यक होता है, उतना भाग जहाँ तक राजनीतिक मुददे समझने में सहायता मिले।

1.5.3 राजनीतिक सिद्धान्त की वैज्ञानिकता

राजनीतिक सिद्धान्त को यदि इतिहास आधार प्रदान करता है तो विज्ञान उसे कार्यपद्धति की एक विशेष विधि । अतः - क्रम -विज्ञान के बिना राजनीतिक सिद्धान्त व्यर्थ है। यदि सिद्धान्त किसी घटनाहै तो वैज्ञानिक तत्त्वों के अभाव में वह घटना केवल एक विश्वास अथवा एक धारणा बनकर ही रह जाता है। सिद्धान्त में विज्ञान उतना अनिवार्य है जितना कि वह सिद्धान्त को सिद्धान्त बना सके। इसका अर्थ यह है कि सिद्धान्त को विज्ञान की आवश्यकता है, परन्तु उतनी जितनी आवश्यक हो। अतिविज्ञानवाद से राजनीतिक सिद्धान्त की आत्मा का दम घुटने लगता है।

राजनीतिक सिद्धान्त की वैज्ञानिकता को निम्नलिखित बताया जा सकता है :

1. वैज्ञानिकता व्याख्या, विश्लेषण तथा समीक्षा का तरीका है। राजनीतिक सिद्धान्त के मुद्दों को समझने के लिए विज्ञान का सहारा लेना स्वाभाविक है।
2. वैज्ञानिक पद्धति के बिना राजनीतिक सिद्धान्त भावों, आदेशों व कल्पनाओं मान्यताओं का भंडार बन कर रह जाता है।
3. राजनीतिक सिद्धान्त को जहाँ इतिहास सरीखा मजबूत आधार चाहिए, वहाँ उसे विज्ञान जैसी तर्कयुक्त पद्धति भी आवश्यक है।

विज्ञान जैसी संपूर्ण शुद्धता राजनीतिक सिद्धान्त के लिए बेकार है। इसका मुख्य कारण यह है कि राजनीतिक सिद्धान्त जैसे सामाजिक विज्ञान को शुद्ध विज्ञान के उपकरणों से परखा नहीं जा सकता और वास्तव में परखा जाना भी नहीं चाहिए। कोई भी सामाजिक विज्ञान भौतिकी एवं रसायन शास्त्र की भाँति शुद्ध (जिस में राजनीतिक सिद्धान्त भी सम्मिलित है) विज्ञान नहीं हो सकता। राजनीतिक सिद्धान्त तो एक सामाजिक विज्ञान है। जैसे प्राकृतिक नियमों को प्राकृतिक विज्ञान निर्धारित करते हैं, उसी प्रकार सामाजिक नियमों को सामाजिक विज्ञान नियमित करते हैं। राजनीतिक सिद्धान्त सामाजिक

© DDCE, SOL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

विज्ञान के होने के कारण राजनिति को समझने के लिए वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण करता है, परन्तु उस सीमा तक की पद्धति जो राजनीतिक सिद्धान्त के लिए उपयोगी सिद्ध हो सके।

1.6 राजनीतिक सिद्धान्त एवं दर्शन

आज यदि इतिहास राजनीतिक सिद्धान्त को आधार प्रदान करता है और विज्ञान उसे कार्य करने की विधि, तो दर्शन राजनीतिक सिद्धान्त को एक लक्ष्य, उद्देश्य तथा मंजिल किसी भी इमारत के ढांचा के लिए नींव, उसे बनाने का विशेष तरीका तथा स्वयं उस इमारत की संरचना उस भवन के प्रमुख अंग होते हैं। अतः यह कहना कि दर्शन पर राजनीतिक सिद्धान्त का ढाँचा टिका हुआ है, कोई गलत युक्ति नहीं है। दर्शन राजनीतिक सिद्धान्त को सामान्य नियम प्रदान करता है। दर्शन, वास्तव में, जीवन का मार्गदर्शक होता है। राजनीतिक सिद्धान्त रूपी जीवन का मार्ग दर्शक भी स्वयं दर्शन है। यही कारण है कि हम दर्शन के बिना राजनीतिक सिद्धान्त की कल्पना ही नहीं कर सकते। दर्शन अपने स्वरूप में आदर्श होने के कारण अव्यवहारिक भले ही हो, परन्तु मानवीय व सामाजिक जीवन में आदर्शों की बैसाखी के बिना चला भी तो नहीं जाता। हम क्या हैं के साथसाथ हमें क्या करना चाहिए। भी जुड़ा होता है अथवा जुड़ा होना चाहिए। हमारी व्यवहारिकता - हमारे आदर्शों को जन्म देती है। किसी भी विद्वान का दर्शन उसकी समय की समस्याओं का उत्तर होता है उत्तर भले आदर्श मूलक हो, समस्याएँ तो समय के यथार्थवाद का संकेत देती हैं।

दर्शनशास्त्र की एक विशेषता होती है। वह अपने विशेष प्रकार के समय पर आधारित होता है, अपने युग की समस्याओं से झूजता है, अपने काल का संकेत देता है। तथा उस युग की समस्याओं अथवा त्रुटियों के उत्तर में अपने सुझाव देता है। क्योंकि समस्याओं की प्रकृति और सुझावों के स्वरूप में अन्तर होता है, इसलिए दर्शनशास्त्र में निहित काल्पनिकता को उसकी कमजोरी मानी जाती है। परन्तु इस तथ्य से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि दार्शनिक की दृष्टि से सुझाव उन समस्याओं का उत्तर होते हैं। दार्शनिक के सुझाव अर्थात् उस का दर्शन बड़ेप्रोत हो सकते हैं अथवा -बड़े आदर्शों से ओत-नहीं भी हो सकते। दर्शन शास्त्र की विशेषता इस तथ्य में निहित नहीं है कि दार्शनिक का दर्शन माना जाना चाहिए, विशेषता इस तथ्य में है कि दार्शनिक ने एक मार्ग दिखाया है, मार्ग बनाने की प्रेरणा दी है।

राजनीतिक सिद्धान्त को दर्शनशास्त्र की यह सबसे बड़ी देन है। राजनीतिक सिद्धान्त के दार्शनिक मानकों की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

1. राजनीतिक सिद्धान्त दर्शनशास्त्र से लक्ष्यों व उद्देशों की प्रेरणा की आशा रखता है। दर्शनशास्त्र राजनीतिक सिद्धान्त का मार्गदर्शक है।
2. दर्शनशास्त्र जीवन का मार्गदर्शक है, राजनीतिक दर्शन राजनीतिक जीवन का मार्गदर्शक है। इस दृष्टि से राजनीतिक सिद्धान्त राजनीतिक दर्शन से अच्छे राजनीतिक जीवन की प्रेरणा लेता है।

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

3. दर्शनशास्त्र उस सीमा तक व्यवहार का प्रतीक होता है जहाँ तक वह अपने कालय/ुग का प्रतिनिधित्व करता है, वह उस समय काल्पनिक होता है जब समस्याओं के समाधान की उड़ान में वह धरती से अपना संपर्क खो देता है।

यह याद रहे कि दर्शन राजनीतिक सिद्धान्त का आधार नहीं हैं और न ही वह उसकी कार्यविधि । दर्शन तो राजनीतिक सिद्धान्त को उद्देश्य प्रदान करता है। इस दृष्टि से दर्शन राजनीतिक सिद्धान्त का एक अंश है।

निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि दर्शन व विज्ञान में, विज्ञान व इतिहास में तथा इतिहास व दर्शन में कहींकहीं परस्पर -विरोध देखा जा सकता है, परन्तु राजनीतिक सिद्धान्त की प्रकृति में इन तीनोंदर्शन-, विज्ञान व इतिहास अपना -का अपना -योगदान है। राजनीतिक सिद्धान्त का आधार इतिहास है, परन्तु समस्त इतिहास राजनीतिक सिद्धान्त नहीं होता, राजनीतिक सिद्धान्त दर्शन का प्रतीक है, परन्तु समस्त दर्शन राजनीतिक नहीं होता और न ही वह पूर्णतः वैज्ञानिक होता है और न ही ऐतिहासिकराजनीतिक सिद्धान्त को इतिहास/, विज्ञान तथा दर्शन से अलग भी नहीं किया जा सकता इन सब की विशेषताएँ और तत्त्व राजनीतिक सिद्धान्त में देखें जा सकते हैं। अतः (जितने राजनीतिक सिद्धान्त के लिए आवश्यक है) स्पष्ट है कि राजनीतिक सिद्धान्त इतिहास, विज्ञान तथा दर्शन से शून्य नहीं है।

राजनीतिक सिद्धान्त के अर्थ तथा उसकी प्रकृति को देखते हुए राजनीतिक सिद्धान्त में निम्नलिखित विशेषताएँ बतायी जा सकती है-

राजनीतिक सिद्धान्त व्यक्ति के राजनीतिक जीवन में निहित रहस्यों को खोलने तथा उन्हें समझाने के प्रभाव में इतिहास, विज्ञान तथा दर्शन की सहायता लेता है।

1. राजनीतिक सिद्धान्त राजनीतिक जीवन से सम्बन्धित भिन्न मुद्दों की व्याख्या करता है।
2. राजनीतिक सिद्धान्त का कार्य राजनीतिक मुद्दों की व्याख्या मात्र नहीं है, वह उनका विश्लेषण व समीक्षा भी है।
3. राजनीतिक सिद्धान्त का संबंध राजनीतिक मुददों को समझने से है, परन्तु उसका इन्हें किसी एक "समझना" काल तक सीमित नहीं है, अपितु एक काल से दूसरे काल तक फैला हुआ है। इस दृष्टि से राजनीतिक सिद्धान्त राजनीतिक इतिहास का निर्माणकत्ता भी है
4. राजनीतिक सिद्धान्त का लक्ष्य राजनीतिक मुद्दों को समझने के साथसाथ आवश्यक समझे जाने वाले परिवर्तनों -का कार्यरूप भी है।
5. राजनीतिक सिद्धान्त राजनीतिक लक्ष्यों के तानेबाने को बनने का कार्य भी करता है।-

सारांश यह है कि राजनीतिक सिद्धान्त राजनीतिक मुद्दों का इतिहास विज्ञान तथा उनका दर्शन है ।

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

1.7 राजनीतिक सिद्धान्त : महत्त्व

राजनीतिक सिद्धान्त को पूर्ण राजनीतिक दर्शन तथा पूर्ण राजनीतिक विज्ञान नहीं कहा जा सकता। यह अंशतः दर्शन है और अंशतः विज्ञान। यह विज्ञान समाजशास्त्र की कसौटियों पर खरा उतरने वाला विज्ञान है, न कि ऐसा विज्ञान जिसमें सभी प्रकार के नियमों की जाँच करके उन्हें सिद्ध किया जा सके। यह दर्शन की भाँति मात्र कल्पना भी नहीं है, अपितु जीवन के सत्य की खोज है। जान प्लमनाज का कहना हैराजनीतिक सिद्धान्त न तो कल्पना की उड़ान है और ना ही " - पूर्वाग्रहों का प्रदर्शन अथवा बौद्धिक खिलवाड़। यह एक कठिन, तथा उपयोग उद्यम है और उसकी उतनी आवश्यकता है जितनी किसी अन्य शास्त्रीय विज्ञान की ।

सत्य तो यह है कि राजनीतिक सिद्धान्त के महत्त्व तथा उसकी उपयोगिता को भुलाया नहीं जा सकता। इस संदर्भ में ट्रेश्ट कहते हैं कि राजनीतिक शास्त्री का महत्त्व इस बात में है कि वह समाज के राजनीतिक जीवन की तत्कालिक और सम्भावित समस्याओं को औरों से पहले समझ कर राजनीतिज्ञों को समय रहते वैकल्पिक सुझाव दे सकें। राजनीतिक सिद्धान्त लच्छेदार वाक्यों का जाल नहीं है। अपितु ज्ञान का सुदृढ़ आधार है, ज्ञान की प्राप्ति का अमुक क्रमबद्ध तरीका है तथा भावी समाज की रूपरेखा है।

इसमें संदेह नहीं है कि राजनीतिक सिद्धान्त एक विज्ञान के साथसाथ एक इतिहास तथा दर्शन भी है। इतिहास के नाते - राजनीतिक सिद्धान्त घटनांश नहीं, एक घटनाक्रम है, यह अंश नहीं, एक संपूर्णता है। विज्ञान के रूप में राजनीतिक सिद्धान्त सत्य की खोज का एक तरीका है किन्हीं बन्द कमरों में कुछेक उपकरण एक प्रयोगशाला तो बना सकते हैं परन्तु ज्ञान की ऐसी प्राप्ति सीमित विज्ञान है। दर्शन के रूप में राजनीतिक सिद्धान्त मात्र मानकों का सूमह नहीं है, अपितु मंजिल की पहचान है।

राजनीतिक सिद्धान्त किसी विशिष्ट संदर्भ की उपज होता है, परन्तु इसका महत्त्व उस संदर्भ से कहीं अधिक दूरगामी है। यह वर्तमान का बोध कराता है, परन्तु इसके साथसाथ वह उसके स्वरूप को उसके आई पार को तथा उसकी मान्यताओं की - जानकारी भी देता है। यह वर्तमान को समझने के लिए उसके अतीत को समझाता है और उस आने वाले कल की तस्वीर बनाने में सहयोग देता है। राजनीतिक सिद्धान्त मनुष्य में स्वयं अपनी व्यवस्था को, उसके समाज और अपने इतिहास को समझने की क्षमता को बढ़ाता है। अतः राजनीतिक सिद्धान्त के माध्य में मनुष्य न केवल अपनी व्यवस्था को समझ पाता है, बल्कि अपनी क्रियाकलापों की कमान को सम्भालने योग्य भी बना पाता है।

मनुष्य के सामाजिक और प्राकृतिक वातावरण को समझने और उस पर नियंत्रण करने के प्रयास में तिक सिद्धान्त एक शिक्षक मार्गदर्शक आलोचक, समीक्षक और दार्शनिक की भूमिका निभाता है। सीराइट मिल्स ने राजनीतिक सिद्धान्त के . – महत्त्व में निम्न की ओर संकेत किया है

© DDCE COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

1. अपने आप में राजनीतिक सिद्धान्त एक सामाजिक वास्तविकता है। यह एक ऐसी विचारधारा है जो कुछ संस्थाओं और कार्यों को उचित ठहराती है और कुछ प्रहार करते हुए आलोचना करती है।
2. राजनीतिक सिद्धान्त एक नीतिशास्त्र की भी भूमिका निभाता है। यह अपनेअपने समय के आदर्शों की रूपरेखा - तैयार करके लोगों, घटनाओं आन्दोलनों पर उन्हें परखने का प्रयास करता है।
3. राजनीतिक सिद्धान्त कर्म, सुधार, क्रान्ति और संरक्षण की संस्थाओं का निर्धारण करता है। यह ऐसा चक्रव्यूह और कार्यक्रम बनाता है जिनमें साध्य और साधन दोनों समाहित होते हैं। यह ऐतिहासिक मानदंडों का निर्माण करता है। जिनके आधार पर आदर्शों को प्राप्त और उन्हें पाने के बाद उनका अनुरक्षण संभव हो सके।
4. राजनीतिक सिद्धान्त में हम मनुष्य, समाज और इतिहास के सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं। इसमें समाज के निर्माण तत्त्व का इतिहास की भिन्न धाराओं को समझते हैं।

निष्कर्ष में हम कह सकते हैं कि राजनीतिक सिद्धान्त राजनीतिक व्यवस्था का एक प्रतिमान बनाता है तथा राजनीतिक आँकड़ों के विधिवत संग्रह और विश्लेषण के लिए आवश्यक निर्देशन प्रदान करता है। एक विज्ञान के रूप में यह राजनीतिक वास्तवितकताओं पर बिना कोई प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष टिप्पणी किए उनका विवरण प्रदान करता है। एक दर्शन के रूप में राजनीतिक सिद्धान्त सभी के बेहतर जीवन के लिए उनके इतिहास से सीखते हुए उचित व्यवहार के नियम सुझाता है।

1.8 राजनीति के विभिन्न दृष्टिकोण

यूनानी विचारक अरस्तू ने अपने उस ग्रन्थ का नाम, जिसमें उसने राज्य और शासन सम्बन्धी विषयों की चर्चा की है, पॉलिटिक्स रखा था। पाल जेने, जेलीनेक, पोलक लेविस और बेन आदि कई आधुनिक लेखकों ने भी अपनी रचनाओं में 'पॉलिटिक्स' शब्द का प्रयोग किया है। दूसरी ओर, अधिकांश विचारकों का अभिमत है कि 'पॉलिटिक्स' शब्द केवल राजनीति के व्यवहारिक रूप को प्रकट करता है तथा दैनिक राज गयों से संबद्ध है। उन्होंने राज्य और शासन से सम्बन्धित शास्त्र के विधिवत् अध्ययन के लिए राजनीति विज्ञान शब्द का प्रयोग करना अधिक उपयुक्त माना है।

राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत प्रायः तीन तथ्यों का अध्ययन आता है :

1. औपचारिक संस्थाएँकार्यपालिका-सरकार और उसके अंग -, विधायिका, न्यायपालिकाइनके परस्पर सम्बन्ध : आदि।
2. अनौपचारिक संस्थाएँ राजनीतिक शक्तियाँ -, राजनीतिक दल, प्रभाव गुट, लोकमत आदि।
3. राजनीति दर्शन एवं सिद्धांत।

राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध राजनीति के व्यावहारिक और सैद्धांतिक दोनों ही पक्षों से है। राजनीति विज्ञान एक व्यापक अभिव्यक्ति है।

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

राजनीति शब्द से प्राचीन यूनान के विचारकों का कुछ भी अभिप्रायः क्यों न रहा हो, परन्तु आधुनिक युग में इस शब्द का प्रयोग राजनीतिक प्रक्रियाओं यानी व्यावहारिक राजनीति के लिए ही किया जाता है। राजनीति के अन्तर्गत मुख्यतया निम्नलिखित बातों का अध्ययन आता है –

- मतदान के अवधारणा का अध्ययन,
- विशिष्ट जन अथवा अभिजनों का अध्ययन,
- निर्णयकारी प्रक्रिया का अध्ययन तथा
- व्यक्तिगत और वर्गीय निष्ठाओं का अध्ययन।

अतः राजनीति विज्ञान की तुलना में राजनीति का क्षेत्र सीमित है। राजनीति विज्ञान राज्य और सरकार के सैद्धांतिक और व्यवहारिक दोनों ही पक्षों पर प्रकाश डालता है जबकि राजनीति शब्द उन बातों पर बल देता है जिनका सम्बन्ध व्यावहारिक राजनीतिक प्रक्रियाओं से है।

1.8.1 राजनीति का उदारवादी दृष्टिकोण

जॉन लॉक)1632-1704आधुनिक उदारवाद का जन्मदाता माना गया है। उसने व्यक्ति के अधिकार (, व्यक्ति की स्वतंत्रता और सरकार के सीमित कार्यक्षेत्र का समर्थन करके यह सिद्ध करने की चेष्टा भी कीआदि से अन्त तक उसे व्यक्ति की " ! ही चिन:ता थीअन्य उदारवादी "लॉक की व्यवस्था में व्यक्ति ही मुख्य केन्द्र है जिसके चारों ओर हर चीज घूमती है।- विचारकों में बैन्थल, जॉन स्टुअर्ट मिल, हरबर्ट स्पेंसर, जेफरसन, लिन्डसे, बार्कर और मैकीवर का नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। आरम्भ में हैरोल्ड लास्की भी उदारवाद के समर्थक थे परन्तु के बाद वह समाजवादी विचारों के प्रबल समर्थक 1930 बन गये थे हालाँकि उदारवादी आवरण उन पर अन्त तक बना रहा।

राजनीति के सम्बन्ध में उदारवादी विचारधारा का निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता है - :

1.समाज में एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से जो संघर्ष होता है। उसे रोकने के लिए ही राज्य की उदारवादियों का यह अभिमत है कि राज्य की संस्था के विकास के लिए मानव की कुछ मूलभूत प्रवृत्तियाँ उत्तरदायी है। मनुष्य की, एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है उसकी सामाजिकता। जीवन रक्षा और उत्कर्ष ये दोनों स -माज में रहकर ही सम्भव है। परन्तु मनुष्य की यह सामाजिकता कई प्रकार की समस्याओं को जन्म देती है। व्यक्ति में यदि दया, परोपकार न्याय और शौर्य आदि सद्गुण हैं तो साथ ही हिंसा, स्वार्थ और दमन भी मानवीय स्वभाव के अनिवार्य अंग है। स्वार्थ व हिंसा द्वारा उत्पन्न संघर्ष को टालने के लिए यह जरूरी है कि कुछ ऐसे नियमों और परम्पराओं का विकास किया जाये जो मनुष्य की उन्नति में सहायक सिद्ध हों। सम्भवतः इसी मौलिक जरूरत ने राज्य नामक संस्था को जन्म दिया। राजनीति का प्रतिपाद्य विषय राज्य, व्यवस्था व शासक ही है।

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

उदारवादी लेखक राज्य को सार्वजनिक हितों की पूर्ति का साधन मानते हैं। वे यद्यपि इस बात से सहमत नहीं हैं कि राज्य समाज के एक विशिष्ट वर्ग की तो भलाई करे और किसी दूसरे वर्ग का शोषण, तथापि वास्तविकता इस तथ्य मूलतः अलग नहीं है जिसकी विस्तृत जानकारी आपको आगे दी जायेगी। राजनीति के उदारवादी दृष्टिकोण की चर्चा करते हुए मौरिस दुवर्जर लिखते हैं, "राजनीति एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा न्याय और व्यवस्था की जाती है। राज्य निजी स्वार्थों)Private interests) के विपरीत सामान्य हितों)General interests) को संरक्षण देता है। इसी बात को जेब.डी.ी . .....कुछ ऐसे विवाद जिन्हें लोग सरकार की सहायता के बिना नहीं सुलझा सकते" - मिलर ने इस प्रकार व्यक्त किया है "मिलाप की जिन्दगी बिता सकें।-राजनीतिज्ञों का यह कर्त्तव्य है कि इन सामाजिक विवादों को निपटाएँ ताकि लोग मेल बैन्थम और जेम्स मिल का कहना था कि कानूनोें की श्रेष्ठता या उनकी निकृष्टता का मापदण्ड केवल यह है कि वे किस सीमा तक और कितने लोगों को सुख पहुँचाते हैं।

2. राजनीति के क्षेत्र में उत्तरदायी और प्रतिनिधि संस्थाओं का समर्थन राजनीति के क्षेत्र में उदारवादियों ने प्रतिनिधि - संस्थाओं का समर्थन किया। जैफरसन ने यूरोप के तत्कालीन सम्राटों का खाका खींचते हुए यह कहा, "वे मूर्ख हैं, विलासी हैं और सनकी हैंअच्छा शासन वह है जिसमें राजशक्ति किसी एक व्यक्ति के हाथों में केन्द्रित न होकर जनसाधारण के ..... उदार लोकतंत्रीय पद्धति के कुछ प्रमुख लक्षण इ "बीच बाँट दी जाए।स प्रकार हैं –

1. देश में एक से अधिक राजनीतिक दल होने चाहिए। राजनीतिक दल विचारधारा के आधार पर संगठित किये जाते हैं तथा राजनीतिक सत्ता हथियाने के लिए उनमें खुलकर प्रतियोगिता होती है।
2. राजनीतिक, प्रतियोगिता में शान्तिपूर्ण और सांविधानिक उपायों पर बल दिया जाता है। उदारवादी राज्यों में ") युद्ध-राजनीति एक ऐसा गृहCivil war) है जो अहिंसक और मृदु साधनों से लड़ा जाता है; हिंसा, बगवत या क्रांतिकारी साधनों से नहीं।
3. ऊँचे राजनीतिक पदों से सम्बन्धित नियुक्तियाँ खुले रूप से होती हैं और उनके लिए समयसमय पर चुनाव होते - रहतेहैं।
4. राजनीतिक निर्णयों पर प्रभाव गुटों)Pressure groups) का काफी असर पड़ता है। औद्योगिक वर्ग, कृषक तथा पेशेवर संघ अपने हितों की रक्षा प्रभावक गुटों के माध्यम से भी कर सकते हैं।
5. न्यायपालिका काफी सीमा तक कार्यपालिका के नियंत्रण से मुक्त होती है।

3. विविध स्वतन्त्रताएँ तथा जनसम्पर्क साधनों पर सरकार के एकाधिकार का अभाव उदारवादियों ने नागरिक स्वतंत्रता-)civil liberty), वैयक्तिक स्वतंत्रता)personal liberty), पारिवारिक स्वतंत्रता)domestic liberty) और आर्थिक स्वतंत्रता पर विशेष बल दिया है। नागरिक स्वतंत्रता से यह अभिप्राय है कि सरकार नागरिकों पर अनुचित दबाव न डाले। स्वेच्छाचारी और निरंकुश शासन के स्थान पर लोकतन्त्रीय और विधि के शासन' की स्थापना उसका प्रमुख लक्ष्य है। वैयक्तिक स्वतंत्रता के अन्तर्गत कई प्रकार की स्वतन्त्रताएँ आती हैं जैसे, विचार, भाषण और प्रकाशन की स्वतंत्रता तथा

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

©DDCE, COL, SOL, University of Delhi

शांतिपूर्ण ढंग से वादइसी स्वतंत्रता के अन्तर्गत प्रकाशन व लेखन की स्वतंत्रता भी आती है ! विवाद करने का अधिकार- जिसका प्रयोग गैर जिम्मेदार तरीके से नहीं होना चाहिए। लेकिन उत्तरदायी प्रेस की स्थापना के नाम पर'मानहानि विधेयक - जैसे निष्ठुरव कुत्सित प्रयास उदारवादी दृष्टिकोण के अन्तर्गत भी युक्तिसंगत व न्यायसंगत नहीं माने जा सकते। धर्म के क्षेत्र में उदारवाद 'धार्मिक सहिष्णुता' पर बल देता है। पारिवारिक स्वतंत्रता से अभिप्राय घरेलू व्यवस्था से है। विवाह और तलाक की स्वतंत्रता तथा बच्चों की इच्छानुसार शिक्षादेने का अधिकार इसके मुख्य पहलू हैं। आर्थिक स्वतंत्रता से उदारवादियों का अभिप्राय 'आर्थिक उदारवाद' (economic liberalism) है। आर्थिक उदारवाद के मुख्य लक्षणों की चर्चा हम अलग से करेंगे।

4. आर्थिक उदारवाद)Economic liberalism)-शुरू शुरू में उदारवादियों ने-'अहस्तक्षेप)Laissez Faire) का समर्थन किया। एडम स्मिथ, माल्थस और रिकार्डो आदि अर्थशास्त्रियों का यह विचार था कि व्यक्ति अपने हानि लाभ को स्वयं अच्छी तरह समझता है। इसलिए सरकार आर्थिक क्षेत्र में सबको स्वतंत्र छोड़ दे। वस्तुओं का मूल्य, मजदूरी की दरें और उद्योगपति का मुनाफा, माँग और पूर्ति की आवश्यकताओं के अनुसार निर्धारित होने दे। अभिप्राय यह कि सरकार को आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए और उसे प्राकृतिक नियमों के अनुसार कार्य करना चाहिए। आयात और निर्यात पर प्रतिबन्ध उचित नहीं है।

अहस्तक्षेप की नीति' से मजदूरों की स्थिति बहुत दयनीय व निरीह हो गई। पूँजीपतियों ने श्रमिकों को कम से कम मजदूरी देकर उनसे अधिक से अधिक काम लेना शुरू कर दिया। उन्हें न तो श्रमिकों के भोजन की चिन्ता थी, न उनके स्वास्थ्य और न मकानों की। इसीलिए बाद के उदारवादियों ने श्रमिकों को संरक्षण देने की बात उठाई। बैन्थम, जान स्टुअर्ट मिल तथा टी०एच० ग्रीन जैसे उदारवादियों ने स्पष्टतया यह स्वीकार किया कि आर्थिक मामलों में सरकार की भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। अनिवार्य सेवाएँ जुटाना राज्य का कर्तव्य है। परन्तु उदारवाद समूचे आर्थिक जीवन में राज्य के हस्तक्षेप को कदापि स्वीकार नहीं कर सकता। वह आर्थिक क्षेत्र में प्रतियोगिता को बढ़ावा देने के पक्ष में है।

आधुनिक युग के प्रमुख राजनीतिक विचारक मैकीवर उदारवादी होते हुए भी, राज्य के कार्यक्षेत्र को बहुत व्यापक मानते हैं। उनके मतानुसार आधुनिक युग के तकाजों का ध्यान रखते हुए सरकार को 'प्रगतिशील बनाना पड़ेगा। अमर्यादित पूँजीवाद न केवल शोषण को जन्म देता हैं बल्कि धन की बरबादी का भी कारण बनता है। इसलिए आधुनिक उदारवादी लेखक 'आर्थिक नियोजन, (Economic Planning) के पक्ष में हैं। इसके अतिरिक्त, वे उद्योगों व कम्पनियों पर सरकारी नियंत्रण का समर्थन करते हैं। मैकीवर का कहना है 'रसायन, खाद, चीनी, खाद्यपदार्थ-, सीमेंट व तेल आदि धन्धे इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उनके विषय में उद्योगपतियों को स्वतंत्र नहीं छोड़ा जा सकता।व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो उदारवादी " लोकतन्त्रीय राज्यों में कई महत्त्वपूर्ण धन्धों पर सरकार का अधिपत्य स्थापित हो चुका है। इंगलैंड में लोहे, कोयले, विद्युत और गैस आदि धन्धों का राष्ट्रीयकरण किया जा चुका है। स्विट्जरलैंड में रेलवे, गैस और विद्युत शक्ति पर सरकार का ही नियन्त्रण है। फ्रांस में हवाई जहाज और मोटर गाड़ियाँ बनाने वाली कई कम्पनियों को सरकार ने अपने हाथ में ले लिया है तथा पश्चिमी जर्मनी का संविधान 'समाजवाद के आदर्श, को स्वीकार करता है।

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

संक्षेप में, आधुनिक उदारवादी लेखक आंशिक राष्ट्रीयकरण)Partial nationalization) को स्वीकार करते हैं और साथ ही वे यह भी कहते हैं कि सम्पर्ण अर्थव्यवस्था का संचालन सरकार नहीं के व औद्योगिक क्षेत्र में काफी सीमा तक वे निजि स्वामित्व के समर्थक हैं। उदारवादी दृष्टिकोण के अन्तर्गत व्याप्त अन्तर्विरोध यहाँ स्वतः स्पष्ट है।

उदारवाद के प्रमुख लक्षण : उदारवादी राजनीति के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं -

1. **सत्ता के लिए खुलकर प्रतियोगिता -** उदारवादी विचारकों का मानना है कि परिवार, शिक्षण संस्थाएँ, जन सम्पर्क यानि प्रचार के साधन और राजनीतिक दल ये सभी मतदान के आचरण को प्रभावित करते हैं। जरूरी यह है कि वे सब स्वतन्त्र वातावरण में फूलेंफलें। शिक्षण प्रणाली में उदारता का पुट हो-, यह नहीं कि सभी को किसी खास विचारधारा में रंगने का प्रयास किया जाये, हालाँकि उदारवाद में भी होता यही है। इसी प्रकार जनसम्पर्क - के साधनों को सरकार के व्यापक नियंत्रण से मुक्त रखा जाए। राजनीतिक दलों के गठन पर प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए और साथ ही दलों को अपनी कहने की छूट दी जाये। यदि वे सभी व्यवस्थाएँ विद्यमान नहीं हैं तो मतदान या चुनावकेवल दिखावा बन कर रह जायेगा। चुनाव प्रक्रिया का सूक्ष्म विश्लेषण, हालाँकि, यही दर्शाता है। नेतृत्व की आवश्यकता पर तो उदारवादी विचारक अवश्य बल देते हैं परन्तु उनका कहना यह है कि उदार लोकतन्त्रीय व्यवस्था में विभिन्न व्यक्ति और दल सत्ता प्राप्ति के लिए खुली प्रतियोगिता कर सकते हैं, हालांकि इसमें अन्तर्निहित पूर्वाग्रहों को भी उदारवाद स्वीकार करता है। इसके अतिरिक्त राजनीति सत्ता से सम्बन्धि त जो पद है उनके लिए चुनाव या नियुक्तियाँ छिपावदुराव के साथ नहीं-, बल्कि खुले रूप में होती हैं परन्तु यहाँ भी यह संकीर्ण तथा संकुचित हाथों में ही सीमित रहती है।
2. **राजनीतिक निर्णयउदारवादी सरकारें मुख्यतः-** व्यक्तिगत स्वतंत्रता में आस्था रखती हैं। अखबार, रेडियो और टेलीविज़न जो सरकार के एकाधिकार से मुक्त रहते हैं, (हालाँकि प्रत्येक उदावादी व्यवस्था में यह सच्चाई नहीं है काफी सीमा (तक राजनीतिक निर्णयों को प्रभावित करते हैं। इसके अतिरिक्त ट्रेड यूनियन, धार्मिक समुदाय और अन्य संघ या संस्थायें भी सरकार की आलोचना करने की स्वतंत्रता रखती हैं। फलस्वरूप वे सरकारी निर्णयों को प्रभावित करने की क्षमता रखती हैं। बोफर्स, पनडुब्बी आदि कांडों ने, जिन्हें अखबारों ने भारत में उजागर किया, भारतीय राजनीति रंगमंच को झकझोर कर रख दिया, इसमें संदेह नहीं इसी तरह इंगलैंड ! और अमेरिका सरीखे उदारवादी देशों में प्रभावक गुट भी सरकारी निर्णयों को प्रभावित करने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इंगलैंड के'पर्पूयमों व अमेरिका के 'वाटरगेट' कांडों ने इन देशों के राजनीति रंगमंच को जिस तरह प्रभावित किया, वह सर्वविदित है। अतएव निर्णयों को लेने और उन्हें क्रियान्वित करने में नौकरशाही का भले ही एक महत्त्वपूर्ण हाथ रहता हो परन्तु उदारवादी राजनीति के अन्तर्गत किसी भी गुट का राजनीति पर एकाधिकारी नियंत्रण कायम नहीं हो पाता।
3. **निष्ठा और विचारों का प्रश्न -** उदारवादी लोकतन्त्रीय देशों में कोई एक ऐसी सुस्पष्ट विचारधारा नहीं होती जो सम्पूर्ण राजनीति का संचालन कर सके। फासिस्ट या समग्रवादी सरीखे सर्वाधिकारी शासक भले ही व्यापक जन

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

समर्थन हासिल कर लें परन्तु व्यापक जन समर्थन प्राप्त करने के लिए उन्हें एक खास तरह की सक्रियता)Mobilization) का सहारा लेना पड़ता है। इन देशों में एक ही दल या एक ही विचार द्वारा राजनीति का संचालन करती हुई दिखती है। दूसरी ओर, उदारवादी लोकतन्त्रीय देशों में एक से अधिक दलों के होने से विचारों व निष्ठाओं का क्षेत्र कहीं ज्यादा अधिक व्यापक होता है परन्तु वास्तविकता सदैव यही होती हो, यह जरूरी नहीं है।

उदार राजनीति का मूल्यांकन वीं सदी में उदारवाद ने बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। राजनीतिक क्षेत्र में 19 वीं व18 - उदारवाद की मुख्य उपलब्धियाँ हैं प्रतिनिधि लोकतन्त्र की स्थापना -, स्वायत्त शासन के सिद्धान्त का प्रचार, लोकसत्ता के सिद्धांत की स्थापना तथा लोकमत पर विशेष बल दिया जाना। सामाजिक क्षेत्र में उदारवादियों ने एक ऐसे समाज की स्थापना पर बल दिया जिसमें जाति, रंग, धर्म, भाषा व लिंग के आधार पर किसी को भी मानवोचित अधिकारों से वंचित न किया जाये। उदारवादियों ने यह भी कहा है कि प्रत्येक राष्ट्र को स्वशासन का अधिकार मिलना चाहिए। दूसरे शब्दों में, सिद्धान्ततः उन्होंने साम्राज्यवादी शोषण की निन्दा की। आर्थिक क्षेत्र में इन विद्वानों के विचारों के परिणामस्वरूप पूँजीवाद को काफी बढ़ावा मिला। 'अहस्तक्षेप' की नीति, बड़ेबड़े उद्योगों और कल कारखानों की स्थापना का कारण बनी। पूर्वोक्त - उपलब्धियों को स्वीकार करते हुए भी, हम उदारवादी राजनीति की कुछ कमियों की उपेक्षा नहीं कर सकते। उदारवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं ने साम्राज्यवादी मूल्यों की स्थापना की जिसके फलस्वरूप एक विकसित राजनीतिक व्यवस्था अल्पविकसित एवं विकासशील शासन व्यवस्थाओं और देशों का शोषण करती है भले ही इन संबद्ध देशों की शासन व्यवस्थायें उदारवादी प्रकृति की ही क्यों न हों। पूँजी निवेश के नाम पर किस तरह शोषण होता है, यह अब एक सर्वविदित सच्चाई है। मार्क्सवादियों को कहना है कि उदारवादी देशों में 'जनता का शासन' जैसी कोई चीज नहीं क्योंकि राजनीति पर धन का प्रभुत्व कायम हो गया है। बड़ेबड़े उद्योगों के मालिक प्रचार साधनों पर नियन्त्रण रख-ते हैं और वे राजनीतिक दलों पर छाए हुए हैं। इसलिए उदारवादी लोकतन्त्रीय देशों की सरकार ऐसे कानून बनाती हैजो उद्योगपतियों के हित में हों। इसकारण पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत जनसाधारण के हितों की रक्षा सम्भव है ही नहीं। कुछ विद्वानों ने यहाँ तक कहा है कि उदारवादी लोकतन्त्रीय देशों में विचारों का स्वतन्त्रता जैसी कोई भी चीज नहीं है। कारण यह है कि इन देशों के प्रचार साधनों पर पूँजीपतियों का प्रभुत्व पाया जाता है। उद्योगपतियों का यह प्रयत्न रहता है कि जनता अपने आर्थिक कष्टों से बेखबर रहे और उसमें बगावत की भावना पैदा ही न हो। आज बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भी उदारवादी शासन व्यवस्थाओं में बधुआ मजदूर व रंगभेद की नीति पाई जाती है जो किसी भी दृष्टि से उदारवाद के लिये शोभनीय नहीं माना जा सकता। इसी तरह भूखमरी व गरीबी, जो उदारवादी व्यवस्थाओं में व्याप्त है, किसी भी तरह मानवोचित नहीं कहे जा सकते। इन्हीं कमियों के कारण उदारवाद के भविष्य के सामने एक प्रश्न चिन्ह लग गया है जो निरन्तर बड़ा होता जा रहा है। उदारवादी सरकारों का भविष्य इस बात पर निर्भर करता है कि वे किस सीमा तक नागरिकों का आराम व विश्राम की सुविधाएँ प्रदान कर पाती हैं और साथ ही किस सीमा तक वे नागरिक स्वतन्त्रताओं की रक्षा कर पाती है। उदारवादी राजनीति नागरिकों से आत्म संयम की अपेक्षा रखती है।

© DDCE, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

1.8.2 राजनीति के विषय में मार्क्सवादी दृष्टिकोण

जैसाकि हमने ऊपर बतलाया है उदारवादियों के अनुसार सामान्य हितों की पूर्ति का साधन है और विवादों व झगड़ों से ग्रस्त समाज में सामंजस्य लाने का प्रयास करती है। उदारवादियों के अनुसार सांविधानिक व शान्तिपूर्ण उपायों के द्वारा समाज में परिवर्तन लाया जा सकता है।

इसके ठीक विपरीत मार्क्सवादियों ने राज्य को 'वर्गीय संरचना' (class organization) और राजनीति को 'संघर्ष' के रूप में देखा है। उनके अनुसार वह वर्ग जो आर्थिक शक्ति से सम्पन्न होता है, राजनीति के माध्यम से समाज के सम्पूर्ण राजनीतिक व सांस्कृतिक ढाँचे पर छाया हुआ है। यह केवल अपने हित की बात सोचता है, जनसाधारण के हितों से उसका कोई वास्ता नहीं होता। कार्ल मार्क्स, एंगिल्स और लेनिन ने राज्य को स्पष्टतया 'वर्गीय' संघर्षों की उपज और वर्गीय भेदों को बढ़ावा देने का साधन माना है। एंगिल्स ने लिखा है राज्य उस यंत्र अथवा मशीन का नाम है जिसके द्वारा एक वर्ग " हीन लोगों को सताए। इस वर्ग का कल्याण -दूसरे वर्ग का दमन करता है। हर युग में सरकार का लक्ष्य यह रहा है वह दीन तब तक संभव नहीं जब तक कि सशस्त्र क्रांति के द्वारा राजसत्ता पर कब्जा नहीं कर लेता। राजसत्ता को हथियाये बिना उसका उद्धार नहीं होगा, यह एक ठोस एवं शाश्वत सच्चाई है।

राजनीति के सम्बन्ध में मार्क्सवादी दृष्टिकोण की चर्चा निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत की जा सकता है।

राज्य एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग को दबाने का साधन है मार्क्सवादियों ने - राज्य को एक वर्गीय संगठन माना है। उनके अनुसार हर युग में राजनीतिक शक्ति उन लोगों के हाथों में रही जिनका उत्पादन के साधनों पर अधिकार रहा है। दास प्रथा वाले युग में स्वतन्त्र लोग राजसत्ता का उपयोग करते थे, सामन्ती युग में जमींदार और व्यापारी शासक थे तथा पूँजीवादी राज्यों में पूँजीपतियों की प्रभुता पाई जाती है। ये वर्ग केवल अपने हितों से प्रेरित होकर ही कार्य करते हैं। समाज का एक छोटासा वर्ग अधिकांश लोगों को जोर जबरदस्ती या बलप्रयोग के द्वारा अपने अधीन रखता है। यही कारण है कि - असमाजवादी राज्यों का स्वरूप दमनकारी रहा है।

मार्क्सवादियों का कहना है कि सरकार का स्वरूप कुछ भी हो सकता है। गुलाम प्रथा के युग में निरंकुश शासन प्रणाली भी विद्यमान थी और एथेन्स जैसे कुछ नगरों में कुलीनतन्त्र या गणतन्त्र शासन भी विद्यमान था। इसी प्रकार सामन्ती युग में राजतन्त्र और अभिजाततंत्र, दोनों तरह की सरकारें प्रचलित थीं। आधुनिक पूँजीवादी देशों में सरकारों के विविध रूप देखने को मिलते हैं। कुछ देशों में राजतन्त्र विद्यमान है, कहीं फासिस्ट सरकारें कायम हैं और इंगलैंड और अमेरिका जैसे कुछ देशों में प्रतिनिधि संस्थाएँ पाई जाती हैं। सरकार का स्वरूप कुछ भी हो, परन्तु यह निश्चित है कि शासक वर्ग केवल यही कानून बनाएगा जो उसके हितों की रक्षा करे। पूँजीवादी देशों में जो लोकतन्त्र पाया जाता है, वह दिखावटी है। वह केवल धनियों के लिए है जिनकी संख्या बहुत थोड़ी है। मार्क्सवादियों के अनुसार तथाकथित लोकतन्त्रीय सरकारें भी

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

केवल हिंसा और दमन पर आधारित हैं। समाज का धनी वर्ग सर्वसाधारण लोगों को बलप्रयोग के द्वारा अपने अधीन रखता है।

1. सशस्त्र क्रान्ति के बिना वर्तमान व्यवस्था में परिवर्तन नहीं लाया जा सकता साधारणतया मार्क्सवादियों का - सुझाव सशस्त्र क्रान्ति की ओर ही है। मार्क्सवादियों के अनुसार श्रमिकों को मानकर चलना चाहिए कि वर्तमान पूँजीवाद को समाप्त किए बिना उसका कल्याण सम्भव नहीं है। उन्हें उदारवादियों या सुध पारवादियों के इस बहकावे में नहीं आना चाहिए कि वर्तमान लोकतन्त्रीय संस्थाओं के द्वारा समाजवाद आ सकेगा। लेनिन के शब्दों में पूँजीवादी प्रतिनिधि संस्थाओं के द्वारा प्रगति सम्भव नहीं है। संसद लोगों को बहकावे में रखने के अलावा " और कोई कार्य नहीं करती। इसीलिए श्रमिकों को चाहिए कि वे क्रान्ति के द्वारा राजसत्ता को हथियाएँ ताकि नौकरशाही, सेना और पुलिस के ऊपर उनका अधिपत्य स्थापित हो सके।"
2. मजदूरों की तानाशाही के दौरान राजनीति का स्वरूप कार्ल मार्क्स और एंगिल्स ने विस्तार से इन बातों का - उल्लेख नहीं किया कि मजदूरों की तानाशाही के दौरान राजनीति का क्या स्वरूप होगा। परन्तु रूस, चीन या अन्य समाजवादी देशों में जो कुछ हुआ तथा लेनिन और स्तालिन ने इस सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, उसके आधार पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि क्रान्ति के बाद समूची राजनीतिक सत्ता श्रमिकों के हाथ में आ जाती है। मार्क्सवादियों का कहना है पूँजीवाद आसानी से हार स्वीकार नहीं करेगा। इसलिए सरकार हर सम्भव उपाय द्वारा प्रतिक्रियावादी तत्त्वों का दमन करेगी। लेनिन के शब्दों में, "सेना, अर्थव्यवस्था, शिक्षा संस्थाओं और प्रशासन, इन सभी के द्वारा प्रतिक्रियावादी शक्तियों के विरुद्ध लड़ाई छेड़नी पड़ेगी।"

   i. जहाँ तक सेना व पुलिस का प्रश्न है उनमें केवल वे व्यक्ति ही रखे जाएँगे जिनकी मार्क्सवादी व्यवस्था में पूर्ण निष्ठा होगी। समाजवादी राज्य में भी हिंसा और दमन की आवश्यकता रहेगी। परन्तु अब उसका रूप बदल जायेगा। पूँजीवादी व्यवस्था में सेना का उपयोग उन लोगों के दमन के लिए किया जाता है जो समाजवाद के लिए लड़ रहे हों, परन्तु समाजवादी व्यवस्था में उसका उपयोग पूँजीपतियों और उनके दलालों के विनाश के लिए किया जायेगा ताकि समाज में व्याप्त शोषण की वीभत्स संस्था का अन्त हो सके।

   ii. आर्थिक क्षेत्र में सरकार का प्रथम कार्य यह होगा कि बिजली, रेल, बैंक और बड़ेकारखानों -बड़े कल-को वह अपनी हाथ में ले ले। बड़े-फार्मों का भी राष्ट्रीयकरण कर दिया जायेगा परन्तु छोटे-बड़े कृषि-छोटे खेत किसानों के पास बने रहेंगे। आर्थिक आयोजन के द्वारा उत्पादन में वृद्धि की जायेगी। जब अपनी शक्ति, आन्दोलन में न लगाकर देश की सम्पदा को बढ़ाने में लगायेंगे। प्रत्येक व्यक्ति के लिए मेहनत करना जरूरी होगा और उसे उसकी योग्यता व काम के अनसार पारिश्रमिक मिलेगा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सोवियत रूस पहला ऐसा देश है जहाँ नागरिकों को 'काम पाने का अधिकार कानूनी

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

आधार पर प्रदान किया गया। चीनी जन गणराज्य में भी यह अधिकार लोगों को कानूनी आधार पर दे दिया गया है।

iii. शिक्षण संस्थाओं व सांस्कतिक समुदायों पर राज्य का कडा नियन्त्रण होगा। शिक्षा का उद्देश्य समाजवादी विचारधारा को फैलाना होगा। सोवियत संघ, चीन, पोलैंड आदि समाजवादी देशों में शिक्षण संस्थाएँ पूर्णतया सरकार के नियन्त्रण में हैं। इन-देशों में संविधान नागरिकों को भाषण व प्रकाशन की स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं किन्तु साथ ही यह भी कहते हैं कि इन स्वतन्त्रताओं का उपभोग श्रमिक वर्ग के हितों में किया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, ऐसे किसी विचार की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती जो साम्यवादी दल की नीति से मेल न खाती हो। समाजवादी देशों में ट्रेड यूनियन, युवजन सभाएँ, अखबार, टेलीविज़न और शिक्षण संस्थाएँ केवल उन्हीं विचारों का प्रचार कर सकती हैं जो दल की मौलिक नीतियों के विरुद्ध न हों।

iv. पूँजीवादी देशों की प्रतिनिधि संस्थाओं में मार्क्सवादी की बिल्कुल भी निष्ठा नहीं है। सोवियत रूस में कानूनों का निर्माण करने वाली सर्वोच्च संस्था 'सुप्रीम सोवियत' है, हंगरी में उसे 'राज्य विधानमण्डल' के नाम से पुकारते हैं और पोलैंड का विधानमण्डल 'राष्ट्रीय परिषद' (नेशनल काउन्सिलके नाम से (जाना जाता

यहाँ इस तन्त्र का उल्लेख करना आवश्यक है कि 'मजदूरों की तानाशाही की राजनीतिक प्रक्रिया स्थाई न होकर अस्थाई है तथा पूँजीवाद से सामाजवादी समाज की स्थापना के अन्तराल के समय की संक्रमणकालीन स्थिति है और साथ ही यह बहुमत का अल्पमत के वर्गीय हितों के विरूद्ध तानाशाही है, समस्त समाज के विरूद्ध तानाशाही नहीं जिसका अन्तिम उद्देश्य है एक ऐसे वर्ग विहीन समाज की स्थापना जहाँ मानव का मानव द्वारा शोषण न हो सके।

3. वर्गहीन समाज में राजनीति का वर्गीय स्वरूप समाप्त हो जायेगामार्क्स और एंगिल्स के अनुसार मजदूरों की - तानाशाही केवल संक्रमणकालीन व्यवस्था है। पूँजीवाद का सम्पूर्ण विनाश हो जायेगा, तो अपराध की भावना अपनेधीरे न पुलिस की आवश्यकता रहेगी और न जेल या अदालतों की। एंगिल्स -आप समाप्त हो जायेगी। धीरे- - ने इस प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए'The State shall witheraway'- वाक्यांश का प्रयोग किया है। अब अपराध मिट जायेंगे तो यह स्वाभाविक ही है कि पुलिस, जेल, अदालतें, मजिस्ट्रेट व अधिकारी निरर्थक लगने लगेंगे। नूतन आदर्श समाज न केवल वर्गहीन होगा बल्कि राज्यविहीन भी। यह साम्यवाद की स्थिति होगी जो मार्क्सवादी शिक्षाओं का उपास्य लक्ष्य है। एंगिल्स ने इसे 'सम्पूर्ण लोतन्त्र' की स्थिति माना है। मार्क्सवादी इसे स्वर्णिम काल की संज्ञा देते हैं।

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

शुरूशुरू में लेनिन की भी यही धारणा थी कि एक ऐसा युग अवश्य आयेगा जिसमें राज्य संस्था की - आवश्यकता न रहेगी। परन्तु बाद में उनका यह सुनिश्चित अभिमत था कि जब तक स ाम्यवादी व्यवस्था पूर्णतया खतरे से रहित नहीं बन जाती तब तक राज्य संस्था अवश्य विद्यमान रहेगी। स्तालिन ने इस समबन्ध में कहा है कि मार्क्सवादी व्यवस्था में राज्य का स्वरूप बदल जाता है। वह 'शोषण का यन्त्र' न रहकर 'सार्वजनिक कल्याण' का साधन बन जाता है। इसलिए साम्यवादी व्यवस्था में राजनीति का वर्गीय स्वरूप जरूर समाप्त हो जायेगा।

राजनीति प्रक्रिया का मार्क्सवादी दृष्टिकोण

मार्क्सवादी समाज की 'वर्गीय संरचना' पर प्रकाश डालता है और इस बात पर बल देता है कि राज्य की संस्था पर उस सामाजिक वर्ग का नियन्त्रण होता है। जिसके हाथों में उत्पादन और वितरण के साधन केन्द्रित हैं। मार्क्सवादियों ने सर्वहारा वर्ग के शोषण को चिरस्थायी नहीं माना है। उनका कहना है कि पूँजीवाद का विनाश अनिवार्य है। मार्क्सवाद एक क्रान्ति का पैगाम है। मार्क्सवादियों ने उन विधियों का विस्तार से विश्लेषण किया है जिन्हें अपनाकर बुर्जुआवर्ग का अन्त किया जा सकता है। अतः मार्क्सवादी राजनीति के अन्तर्गत, वर्गसंघर्ष, क्रान्ति के सिद्धान्त और श्रमिकों की तानाशाही का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। यहाँ हम इन तीनों पर संक्षिप्त रूप से विचार करेंगे -

i. **वर्ग संघर्ष)Class Struggle)** कार्ल मार्क्स का कहना है कि वर्गीय सामाजिक जीवन परस्पर विरोधों से परिपूर्ण है। मानवता का इतिहास संघर्ष और युद्धों का इतिहास है। परस्पर राष्ट्रों के बीच भी संघर्ष चलता रहता हैं और समाज के विभिन्न वर्गों के बीच भी। यहाँ जिन विभिन्न वर्गों की चर्चा की जाती है, वे ६ पार्मिक या जातीय वर्ग न होकर आर्थिक वर्ग हैं। इतिहास विभिन्न आर्थिक वर्गों के पारस्परिक संघर्ष की एक लम्बी कहानी है। गुलामों का सदैव अपने स्वामियों से संघर्ष चलता रहा है, कृषक दासों का सामन्तों से और मजदूरों का पूँजीपतियों से संघर्ष आज भी जारी है वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था में मजदूर का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, वह तो केवल 'भाड़े का टटू, बन कर रह गया है। सभी मजदूरों का कष्ट, दुःखदर्द एक जैसा है। दूसरी ओर सभी पूँजीपतियों के एक जैसे हित हैं। ऐसी स्थिति में पूँजीवादी समाज स्पष्टतया दो वर्गों में बँट गया है पूँजीपति - -वर्ग और मजदूर वर्ग जिनके वर्गीय हित एक दूसरे के विरुद्ध हैं जिसके परिणामस्वरूप इन दोनों वर्गों के मध्य वर्ग शोर से की है। वर्ग संघर्ष का प्रमाण -संघर्ष चलेगा वर्ग सहयोग नहीं जिसकी कामना उदारवादियों ने बड़े जोर इतिहास देता है, जो एक सच्चाई है।

ii. **क्रांन्ति का सिद्धान्त)Theory of Revolution)**-वर्ग संघर्ष के कारण परिर्वतन चाहने वाली शक्तियाँ निरंतर मजबूत बनती जाती हैं। पूँजीपति वर्ग परिवर्तन का विरोध करता है। धीरेधीरे समाज क्रान्ति की ओर उन्मुख - होता है। पूँजीवादी व्यवस्था क्योंकि श्रमिको और किसानों के हित में कभी काम नहीं करती इसलिए श्रमिकों और किसानों के पास इसके अलावा और कोई चारा नहीं होता कि वे बलपूर्वक सत्ता को हथिया लें। कार्ल मार्क्स के शब्दों में) क्रांति वह दाई"Midwife) यानि प्रसवकारिणी शक्ति है जो नये समाज रूपी शिशु के जन्म

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

में मदद देती है।क्रान्ति के माध्यम से ही मजदूरों को सत्ता हथियाने का मौका मिल सकता है। लेनिन की तो यह " धीरे समाजवाद लाने यानि विकासवादी समाजवाद में विश्वास रखते हैं-धारणा थी कि जो लोग धीरे, वे भूखों की दुनिया में रह रहे हैं। उन्होंने विस्तार से इस बात पर प्रकाश डाला कि कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य किस प्रकार पुलिस सेना और प्रशासन में घुसपैठ करके क्रांन्ति के मार्ग को प्रशस्त करेंगे।

iii. **श्रमिकों की तानाशाही)Dictatorship of the Proletariat)**- क्रांन्ति द्वारा सत्ता को हथिया लेने के बाद श्रमिक वर्ग धीरेधीरे- एक ऐसे समाज का निर्माण करेगा जिसमें सभी को आगे बढ़ने के अवसर उपलब्ध हों। इसके लिए सबसे पहला काम यह होगा कि पूँजीवादी ढाँचे को पूतिया तहसनहस कर दिया जाय। इस उद्देश्य की - पूर्ति के लिए मार्क्सवादियों ने कुछ काल के लिए'मजदूरों की तानाशाही' की प्रक्रिया पर बल दिया है। श्रमिकों की तानाशाही के दौरान विधानमण्डल, न्यायपालिका, पुलिस, सेना, सिविल कर्मचारी और शिक्षणसंस्थाएँ-, ये सभी केवल एक दल यानि साम्यवादी दल के नेतृत्व में कार्य करेंगे। भूमि और उत्पादन के साधन सरकार के हाथों में आ जायेंगे, विरोधियों और देश के बाहर भाग जाने वाले लोगों की सम्पत्ति पर सरकार अपना कब्जा कर लेगी तथा बैंक, यातायात के साधन और कलकारखानों पर भी श्रमिकों की सरकार का ही नियन्त्रण होगा। - प्रत्येक को योग्यता के अनुसार श्रम करना पड़ेगा तथा सभी को जीविकोपार्जन करने का अधिकार हासिल होगा। 'तानाशाही' से कार्ल मार्क्स का उद्देश्य, "क्रान्ति और क्रान्ति द्वारा जनित उस व्यवस्था से है जिसम राज्य की शक्तियों का उपयोग क्रान्ति के शत्रुओं के दमन के लिए किया जाता है।"
यह स्थिति क्योंकि संक्रमणकालीन है इसलिए यह निरन्तर नहीं रहेगी अर्थात् प्रतिक्रियावादी तत्त्वों, रूझानों, शोषण की रही सही प्रवृत्तियों के दमन के पश्चात् इसका स्थान समाजवादी व्यवस्था ले लेगी जिसमें प्रत्येक व्यक्ति से उसकी योग्यतानुसार कार्य लिया जायेगा तथा उसके कार्य के अनुपात में उसे पारिश्रमिक दी जायेगी अर्थात् व्यक्ति द्वारा किये कृत्य का प्रतिफल उसे ही प्राप्त होगा किसी अन्य को नहीं दूसरे शब्दों में !, मानव समाज से शोषण का सम्पूर्ण उन्मूलन हो जायेगा जो वर्ग समाज की आधारशिला है।

iv. वर्गविहीन समाजवादी व्यवस्था प्रश्न यह है कि श्रमिकों की तानाशाही कितने दिन चलेगी -? मार्क्स का कहना है कि श्रमिकों की क्रान्ति से न केवल पूँजीवादी व्यवस्था का ही विनाश होगा बल्कि धीरेधीरे राज्य की संस्था भी - समाप्त हो जायेगी। पूँजीवादी व्यवस्था के समाप्त हो जाने के बाद वर्ग संघर्ष क्योंकि खत्म हो जायेगा, इस लिए शनैः शनैः 'राज्य विहीन व्यवस्था की ओर समाज अग्रसित होगा। उस व्यवस्था में आर्थिक दृष्टि से सभी संतुष्ट होंगे और सामाजिक दृष्टि से भी सब समान होंगे। अतः श्रमिकों की तानाशाही कोई स्थायी व्यवस्था नहीं है। दूसरे शब्दों में, पूँजीवादी राज्य को तो समाप्त किया जाता है। परन्तु श्रमजीवी राज्य धीरे सिकुड़कर अपने-धीरे सूख-आप समाप्त हो जायेगा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि रूसी क्रान्ति के नेता लेनिन शुरू में यही कहते थे कि राज्य की संस्था का लोप हो जायेगा। परन्तु बाद में उन्होंने यह कहा कि जब तक साम्यवाद के लिए किसी भी तरह का कोई खतरा शेष है तब तक राज्यसंस्था कायम रहेगी। लेनिन की यह आस्था पूँजीवाद के चरम रूप साम्राज्यवाद

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

के संदर्भ में है जो नितान्त समयोचित है। यह राज्य को निरन्तर रूप से बनाये रखने का समर्थन किसी भी रूप में नहीं है राज्य का लोप भले ही न हो उसका 'वर्गीय रूप' जरूर मिट जायेगा अर्थात् राजनीति का संचालन किसी वर्ग विशेष के हितों में न होकर समाज के लिए किया जायेगा।

तुलनात्मक मूल्यांकनउन्नीसवीं सदी के दौरान और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में उदारवाद ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका - निभाई । उदारवादियों ने सामाजिक दासता पर प्रहार किया और स्त्रियों व बच्चों की बुरी अवस्था को दूर करने के उपाय सुझायें। उन्होंने संसदीय संस्थाओं, कानून के शासन और न्यायपालिका की स्वतंत्रता पर भी बल दिया। परन्तु आर्थिक क्षेत्र में उदारवाद जहाँ एक ओर उद्योगधन्धों के विस्तार का कारण बना-, वहाँ दूसरी ओर श्रमिकों के शोषण का भी। इससे उद्योगपतियों के हितों को ही संरक्षण मिला। इसी कारण राजनीतिक क्षेत्र में वास्तविक लोकतन्त्र की स्थापना न हो सकी।

राजनीति के मार्क्सवादी दृष्टिकोण का मूल्यांकनसोवियत रूस -, चीन, प्रोलैण्ड, हंगरी, यूगोस्लाविया, क्यूबा आदि मार्क्सवादी देशों के राजनेता व विचारक यह कहते हैं कि समाजवादी देशों में राजनीति का आधार ज्यादा व्यापक है और इन देशों का लोकतन्त्र पश्चिम के उदार लोकतन्त्रीय देशों की अपेक्षा कहीं ज्यादा वास्तविक है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि समाजवादी सरकारों ने आर्थिक व वैज्ञानिक प्रगति की दृष्टि से बहुत कारगर कार्य कर दिखलाया है। पश्चिम के उदार लोकतन्त्रीय देशों की ही तरह समाजवादी देशों में भी नागरिकों को आराम की अनेक वस्तुएँ उपलब्ध हैं। परन्तु मार्क्सवादी राजनीति की कुछ कमियों को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। कहने के लिए सोवियत रूस, चीन या हंगरी में नागरिकों को धार्मिक स्वतन्त्रता है, परन्तु वास्तव में इन देशों की नीति धर्मप्रचार के विरुद्ध है। लेकिन यह कोई गम्भीर दोष नहीं - माना जा सकता। समाजवादी देशों में न्यायपालिका एक प्रकार से साम्यवादी दल के अधीन कार्य करती है। उदारवादी देश इस दोष से सर्वथा अछूते हों, ऐसा भी नहीं है क्योंकि प्रतिबद्ध न्यायपालिका की अवधारणा इन देशों में भी जोर पकड़ती जा रही है। सुरक्षा पुलिस भी व्यापक अधिकारों का उपयोग करती है। जिसके कारण नागरिकों को मनमाने ढंग से बन्दी बनाये जाने के बहुत से उदाहरण पेश किये जा सकते हैं हालाँकि उदारवादी देश भी इस तथ्य के अपवाद नहीं हैं। आपातकालीन स्थिति के दौरान जो कुछ भारत में हुआ वह इस तथ्य की पुष्टि करता है।

1.8.3 समझौतावादी दृष्टिकोण

राजनीति व राजनीतिक शक्ति के संबंध में प्रचलित प्रमुख दृषि टकोणों, उदारवाद व मार्क्सवाद, के अतिरिक्त एक और दृष्टिकोण का प्रचलन है और वह है समझौतावादी दृष्टिकोण। उदारवाद व मार्क्सवाद में न केवल मौलिक अन्तर है अपितु ये दोनों एक दूसरे के अन्तर्विरोधी भी हैं जैसे उदारवाद समाज में जहाँ वर्गसहयोग के सिद्धान्त को अनिवार्य मानता है। वहाँ मार्क्सवाद वर्गसंघर्ष के सिद्धान्त की निरन्तरता पर बल देता है। उदारवाद जहाँ राजनीतिक शक्ति से सार्वजनिक भलाई की - अपेक्षा करता है वहाँ मार्क्सवादका सुस्ष्ट अभिमत है कि राजनीतिक शक्ति पर जिस वर्ग का नियन्त्रण होता है, वह उसी के संकेतानुसार कार्य करती है, निदेशानुसार कार्य करती है-इसलिये सार्वजनिक भलाई की उससे अपेक्षा करना मात्र मृग . तृष्णा है इसी तरह अन्य पक्षों पर भी ये दोनों दृष्टिकोण, एक दूसरे से सर्वथा सहमत नहीं हैं।

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

यह सर्वविदित तथ्य है कि व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है और समाज में रहकर ही उसके व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास संभव है व्यक्ति के व्यक्तित्व के चहुमुखी विकास हेतु उसके व्यक्तित्व से संबद्ध समस्त पक्षों का विकास आवश्यक है इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु समाज में अनन्त समुदाय कार्यरत होते हैं ये संगठन क्योंकि व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में सहायक होते हैं इसलिए व्यक्ति इनकी सदस्यता स्वीकार करता है इन्हीं समुदायों में से एक समुदाय राज्य है जो राजनीतिक शक्ति का प्रयोग व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिये करता है। व्यक्ति अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं व आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निरंतर प्रयास में लीन रहता है। जिसके कारण विवादों का उत्पन्न होना स्वाभाविक हो जाता है। इन विवादों का जब तक संपूर्ण समाधान न हो जाए तब तक सांमजस्य अथवा समझौते की प्रक्रिया कार्यरत रहती है। इस प्रक्रिया के समर्थकों ने राजनीति को संभाव्यकला अथवा समझौते की कला के रूप में देखा है ऐसे विचारकों में बिरमार्क, वास्बी व मिल्लर के नाम उल्लेखनीय हैं। बिस्मार्क के अनुसार राजनीति एक सम्भाव्य कला है जिसके द्वारा समाज में आपसी मेल-मिलापकी स्थापना होती है। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि बिस्मार्क एक संक्रिय राजनीतिज्ञ था जिसके नेतृत्व में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जर्मनी ने काफी सफलता अर्जित की। राजनीति की व्युत्पति के संबंध में वास्बी ने सटीक टीका की है। उसके अनुसार सामान्यतया यह माना जाता है जहाँ विवाद होंगे वहाँ राजनीति का होना आवश्याम्भावी है। जहाँ समस्यायें होंगी वहाँ राजनीति अवश्य होगी। विवाद व समस्यारहित समाज में राजनीति के अस्तित्व का तो प्रश्न ही नहीं है। मिल्लर के अनुसार 'सामाजिक विविधता राजनीति की जननी है। दूसरे शब्दों में, सामाजिक विविधता जहाँ होगी, राजनीति वहां अवश्य होगी। सामाजिक विविधता ही विवादों को जन्म देती है और यह विवाद व्यक्ति से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक चलता है। विवाद का वास्तविक अथवा क्षीणक समाधान राजनीति व राजनीतिक शक्ति की क्षमता पर निर्भर करता है।

यह स्पष्ट है कि विवाद का होना ही राजनीति के अस्तित्व को जन्म देता है व उसकी निरंतरता ही राजनीति को भी निरंतरता प्रदान करती है। व्यक्ति व व्यक्ति में विवाद, व्यक्ति व व्यक्ति समूहों में विवाद, शाशक और शाशित में विवाद धनी व निर्धन में विवाद अथवा राज्य व राज्य में विवाद हमें सदैव देखने को मिलते हैं इन विवादों का समाधान चाहे वास्तविक हो अथवा क्षणिक, राजनीति व राजनीतिक शक्ति पर ही निर्भर करता है। समझौता राजनीतिक शक्ति के माध्यम से ही होता है। लेकिन राजनीतिक शक्ति पर जिसका नियंत्रण अधिक होता है। प्रभाव अधिक होता है, उसका झुकाव भी उसी की ओर हो जाता है भले की वह न्याय संगत न हो लेकिन कारण संगत अवश्य हो जाता है। यह आवश्यक नहीं कि कारण अर्थात् राजनीतिक शक्ति का आदेश सदैव न्यायसंगत ही हो, जो शक्तिशाली होता है जिसका प्रभाव अधिक होता है, राजनीतिक उससे निश्चिततौर पर प्रभावित होने को बाध्य होती है।

विवादों के निपटारे के संबंध में राजनीति शक्ति की भूमिका कभीकभी एकतरफा हो जाती है। इस स्थिति में समाधान - क्षणिक बनकर रह जाता है। क्यों आक्रान्त पक्ष उसे हृदय से स्वीकार करने को तत्पर नहीं होता हालाँकि दण्ड के भय से वह उसे कुछ समय के लिये मान जरूर लेता है इसी कारण कानूनों में प्रायः संशोधन परिवर्तन अथवा पूर्ण परिवर्तन अर्थात उलट स्थिति भी देखने को मिलती है। राजनीति का यह समझौतावादी दृष्टिकोण धीरेधीरे समान कार्य करता दिखलाई देता -

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

है, लेकिन यह तब तक ही चल सकता है जब तक किसी टकराव, विवाद अथवा समस्या का निदान वास्तविक रूप में नहीं हो जाता जैसे मजदूर व मालिक, शोशक व शोशित धनी व गरीब अथवा शक्तिशाली देश व निर्बल देश के मध्य जो समझौते होते हैं वे न तो सदैव न्यायसंगत होते हैं और न ही चिरस्थाई। राजनीतिक शक्ति में परिवर्तन इन समझौतों को - निर्णायक रूप में प्रभावित करते हैं। मानव इतिहास इस तथ्य का साक्षी है।

राजनीति के इस समझौतेवादी दृष्टिकोण के अन्तर्गत विभिन्न कारक तत्त्वों की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। जैसे विवादों के संबंध में कानूनों की उपस्थिति, संघर्षों व मतभेदों के बावजूद एकता व सहमति की भूमिका का सिद्धान्त शांतिपूर्ण परिवर्तन की सतत् प्रक्रिया का उपाय, लोकतान्त्रिक मूल्यों की वकालत, राजनीतिक दलों के गठन करने की स्वतंत्रता तथा दबाव व हितसमूहों की प्रस्थापना तथा समझौते की राजनीति में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका आदि इन्हीं माध्यमों की - भूमिका के विश्लेषण ने संभवतः बनार्ड क्रिक को यह कहने को बाध्य किया है कि आधुनिक लोकतांत्रिक समाजों के राजनःीति के माध्यम से ही शासन किया जाता है।

1.8.4 राजनीति का लोकहित दृष्टिकोण

बीसवीं शताब्दी के दौरान राजनीति के संबंध में एक नये दृष्टिकोण की प्रस्थापना का प्रयास हुआ है और वह है कि राजनीति के माध्यम से सार्वजनिकहित की स्थापना की जाती है। अर्थात् राजनीति व राजनीतिक शक्ति का उद्देश्य - सार्वजनिक हित की पूर्ति है।

प्राचीन काल से लेकर आज तक, मार्क्सवादियों को छोड़कर, लगभग सभी राजनीतिक विचारकों व राजनीतिक शक्ति के प्रयोगकर्ताओं में से किसी ने इस बात से सिद्धान्ततः इन्कार नहीं कि व राजनीतिक शक्ति का उद्देश्य जनकल्याण (शासकों) नहीं है। अर्थात् सभी ने राजनीति को लोकहित के साधन के रूप में प्रस्तुत किया, प्लैटो, अरस्तु, लौक, रूसो व हीगल आदि सभी विचारकों ने यह अपेक्षा की कि राज्य को सार्वजनिक कल्याण करना चाहिये। लेकिन यह एक कटु सच्चाई है कि राजनीतिक शक्ति के सतत् प्रयोग होने के बावजूद सार्वजनिक हित की प्राप्ति मात्र मृगतृष्णा बनी रही-, उसका ठोस रूप देखने को कभी भी नहीं मिला।

राजनीतिक सिद्धान्तों के इतिहास के अध्ययन करने पर इस तथ्य की पुष्टि होती है कि राजनीतिक शक्ति का प्रयोग सदैव होता आया है व शासकों ने सदैव इस बात की वकालत की है कि उन्होंने राजनीतिक शक्ति का प्रयोग सार्वजनिक भलाई हेतु ही किया है, लेकिन सार्वजनिक भलाई कभी भी नहीं हुई, जनकल्याण कभी भी नहीं हुआ अर्थात् लोकहित साधन नहीं हुआ। प्रश्न उठता है कि राजनीतिक शक्ति का प्रयोग जब लोकहित की पूर्ति के लिए नहीं हुआ तो उसका प्रयोग हुआ किसलिये? जाहिर है उसका प्रयोग शासकवर्ग के हितों की पूर्ति के उद्देश्य से हुआ। उदारवादी दृष्टिकोण का सदैव यह मानना रहा है कि राज्य का उद्देश्य सार्वजनिक कल्याण है राजनीतिक शक्ति जनकल्याण हेतु प्रयोग होती है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण इस संदर्भ में सुस्पष्ट है और वह है कि राज्य कभी भी जनकल्याण का साधन नहीं रहा व राजनीतिक शक्ति का

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

प्रयोग अल्पवर्गीय आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न लोगों के लिये हुआ है। मार्क्सवादी के इस अभिमत का तर्क के आधार पर खंडन नहीं हो पाया है जिसके कारण उसके प्रभाव में व्यापक अविवृद्धि हुई है जो उदारवादी दृष्टिकोण के लिए न केवल स्वीकार्य व मान्य नहीं हैं अपितु वह येनजान से संलग्न है -केन प्रकारेण मार्क्सवाद के बढ़ते प्रभाव को रोकने में जी- एसे शोषणविहीन समाज की प्रस्थापना का राजनीतिक दर्शन है जहाँ व्यक्ति द्वारा व्यक्ति का शोषण न हो/मार्क्सवाद एक, उदारवाद खुले तौर पर , व्यक्ति द्वारा व्यक्ति के शोषण के औचित्य को सिद्ध नहीं कर पाता लेकिन अप्रत्यक्षतः वह इसका समर्थक है। समयसमय पर उसने ऐसे राजनीतिक अवधारणाओं की वकालत की है जिनसे समाज में शांति व्यवस्था की - स्थापना हो सके, लेकिन उसकी कोई भी अवधारणा चिरकाल तक नहीं चल सकी जैसे व्यक्तिवाद, आदर्शवाद, जनकल्याणवाद, बहुलवाद, अभिजनवादी, लोकतांत्रिक व्यवस्थायें आदि ऐसी अवधारणायें हैं जो देखने में लोकहित से ओतप्रोत दिखलाई तो देती हैं लेकिन वास्तव में उनका उद्देश्य कभी भी सफलतापूर्वक पूरा नहीं हो सका ऐसी ही - अवधारणाओं में से'लोकहित दृष्टिकोण' भी एक अवधारणा प्रतीत होती है।

राजनीति के लोकहित दृष्टिकोण के अन्तर्गत जिन तथ्यों व धारणाओं पर बल दिया गया है। उनमें से कुछ का उल्लेख आवश्यक है। राज्य व्यक्ति के लिये है। व्यक्ति राज्य के लिये नहीं। दूसरे, सार्वजनिक भलाई के लिये समाज में प्रतियोगिता का होना आवश्यक है। तीसरे, न्यायोचित व सर्वोच्च शासन प्रणाली की प्रस्थापना हेतु राजनीतिक प्रतियोगिता आवश्यक है चौथे, वैचारिक क्षेत्र में प्रतियोगिता अवश्य होनी चाहिए। पाँचवे, व्यक्तिगत व सामाजिक भलाई में सामंजस्य होना चाहिये व किसी सीमा तक वह है भी। छठे, राज्य का कल्याणकारी बनना संभव है अर्थात वह वर्गीय संगठन नहीं है। अन्त में, इस दष्टिकोण के अन्तर्गत राज्य से कि वह व्यक्ति के चहुमुखी विकास में सकारात्मक भूमिका का निर्वाह करे लोकहित दृष्टिकोण के सारांश को, हॉब्सन के शब्दों में इस तरह प्रस्तुत किया जा सकता है वर"ृतमान युग में राज्य ने एक चिकित्सक, एक नर्स, एक विद्यालय अध्यापक, व्यापारी तथा उत्पादक, बीमा एजेन्ट, भवननिर्माता-, नगरनियोजक-, रेलवे नियन्त्रक तथा इसी प्रकार अगणित अन्य कार्य अपने ऊपर ले लिये हैं। अतः राज्य का स्वरूप कल्याणकारी हो " सकता है। लेकिन यदि ध्यान से देखा जाये तो यह ज्ञात होता है कि राज्य अपने किसी भी कार्य में पूर्णतः न केवल असफल रहा है, बल्कि उसके नाम पर कुछ इनेगिने लोग लाभ उठाते रहे हैं व जनकल्याण करने की उसकी क्षमता में निरंतर - अर्थात् राजनीतिक) गिरावट आई है भारत में जनकल्याण के नाम पर किये गये शक्ति द्वाराअधिकांश कार्यों में राज्य ने (संख्यक लोगों का ही लाभ हुआ है-घोटाले करने की अनुमति ही दी है जिससे अल्प, लोकहित कार्य केवल दिखावा मात्र बनकर रह गये हैं। चाहे प्रतिभूति घोटाला हो, बोफर्स हो, पशुपालन घोटाला हो अथवा झारखंड पार्टी को घूस देने का - म ामला हो या अन्य असंचय मामले हों वह लोकहित साधन के नाम पर किये गये कुत्सित कार्य हैं, यह याद रखने योग्य है। राज्य को क्या होना चाहिये या करना चाहिये। इससे कम महत्त्वपूर्ण यह नहीं कि उसने क्या किया है व क्या कर रहा है ? लोकहित दृष्टिकोण सिद्धान्तः ठीक जान पड़ता है, इसमें संदेह नहीं लेकिन वह लागू होता है या नहीं, यह देखना व जानना बहुत जरूरी है।

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

1.9 निष्कर्ष

ऊपर हमने राजनीति के उदारवादी, मार्क्सवादी व अन्य दृष्टिकोणों की चर्चा की है। सभी व्यवस्थाओं की अपनीअपनी - खबियाँ और कमियाँ हैं। वास्तव में उदारवादी लोकतन्त्रीय देश आज इतने उदार नहीं रह गये हैं जितने वे पचास वर्ष पहले थे।इन देशों में सरकार के कार्य का क्षेत्र निरन्तर बढ़ता जा रहा हैं कार्ल फ्रेडरिक 'कहता है यदि मार्क्स और एंगिल्स आज " फिर से जीवित हो सकें तो उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य होगा कि आधुनिक पूँजीवाद राज्यों ने उनके कार्यक्रम को काफी सीमा लागू करके दिखला दिया है।सरकार के बढ़ते हुए नियंत्रणों से भयभीत होकर कुछ विद्वानों ने तो यहाँ तक कह डाला हैं धीरेधीरे उदारवादी लोकतन्त्रीय देशों में भी समाजवाद आ जायेगा। दूसरी ओर यूरोप के मार्क्सवादी देशों में उदारवाद - पनप रहा है। रूस, पोलैंड और यूगोस्लोविया के नागरिक पहले की अपेक्षा अब ज्यादा स्वतन्त्रताओं का उपभोग कर रहे है। इन देशों के नागरिक बचत के द्वारा धन का संचय कर सकते हैं तथा रहने के लिए मकान व अन्य उपयोग की वस्तुओं पर उनका निजि स्वामित्व है।

सारांशतः राजनीति के दोनों दृष्टिकोण भिन्नभिन्न जीवन दर्शनों पर आधारित हैं। उदार-वाद, जहाँ । वर्ग सहयोग तथा वर्ग सामंजस्य पर आधारित हैं, वहां मार्क्सवादी विचारधारा का आधारविरोध की भावना की -स्तम्भ तथा वर्ग-स्तम्भ वर्ग-निरन्तरता है। निष्पक्ष रूप से अध्ययन करने के पश्चात् ही इनमें से किसी के औचित्य को अंगीकार या अस्वीकार किया जा सकता है। व्यवहार की दृष्टि से आज उदारवाद बचाव पर है जबकि मार्क्सवाद का प्रभाव व्यापक मात्रा में बढ़ रहा है जो निःस्संदेह एक वस्तुस्थिति है जिसे तर्क के आधार पर नकारा नहीं जा सकता। समाजवादी देशों में लोगों की स्वतन्त्रताओं में जो अविवृद्धि हो रही है वह इस बात का परिचायक नहीं हैं कि ये देश उदारवादी मूल्यों के प्रति आशक्त हो रहे हैं क्योंकि इन स्वतन्त्रताओं का प्रयोजन व उद्देश्य व्यक्ति द्वारा व्यक्ति के शोषण को बढ़ावा देना न होकर उसके व्यक्तित्व का निरन्तर विकास करना है ताकि वे अपना जीवन यापन मानव सुलभ गुणों के अनुरूप कर सकें व मजबूर होकर अपनी इच्छा के विपरीत नहीं। उल्लेखनीय है कि समाजवादी देशों में नागरिकों को प्राप्त व्यक्तिगत संपत्ति के अधिकार का उद्देश्य निजि संपत्ति में अविवृद्धि नहीं है जो निश्चत ही शोषण की वीभत्स संस्था से ओतप्रोत है। यह भी एक निर्विवाद सच्चाई- है कि उदारवादी व्यवस्थाओं की तुलना में समाजवाद व्यवस्थाएँ मानव कल्याण से अधिक समबद्ध हैं। उदाहरण के लिए समाजवादी व्यवस्था में एक ओर प्रचुर धन संपत्ति व दूसरी ओर दरिद्रता की स्थिति नहीं है जो उदारवादी व्यवस्था की एक विशेष कुविशेषता है जिसे झुठला पाना किसी भी तरह संभव नहीं है। उदारवाद की तुलना में मार्क्सवाद की ओर बढ़ता व्यापक विश्व जनसमर्थन उसके औचित्व को अधिक सुनिश्चित करता है-, इसमें सन्देह नहीं।

जैसे राजनीतिक सिद्धान्त के अपने विशेष संघट हैं, वैसे ही इसके क्षेत्र एवं विषयवस्तु की अपनी विशेषताएँ हैं जिनके - अध्ययन तथा समझने की अपनी विशेष प्रक्रियाएँ हैं। राजनीतिक सिद्धान्त इतिहास की भांति तथ्यों की व्याख्या तथा उनका वर्णन ही नहीं करता और न ही भौतिकी व रसायन शास्त्र जैसे शुद्ध विज्ञानों की भाँति कारण प्रभाव में निश्चिततया तटस्थ सम्बन्धों के होने की चर्चा करता है। हमारा विषय उस समय तक ऐतिहासिक है। जहाँ तक वह तथ्यों को समझाता है तथा वैज्ञानिक ढंग से उनका विश्लेषण करता है। यह उस सीमा तक वैज्ञानिक है जहाँ तक वह निष्कर्षों को छानबीन तथा

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

तर्कवितर्क की त-राजू में खरा देखता है। राजनीतिक विज्ञान मूल्यपरक के साथसाथ वास्तविक तथ्यों को नजरअंदाज नहीं - करता।

1.10 प्रश्न

1. राजनीतिक सिद्धांत की प्रकृति तथा उसके महत्त्व पर प्रकाश डालिए।
2. राजनीतिक सिद्धांत के स्वरूप में इतिहास, विज्ञान तथा दर्शन का क्या स्थान है, समझाइए।
3. राजनीतिक सिद्धांत के अध्ययन की क्या उपयोगिता है।

1.11 संदर्भ सूची

- Bhargava, R. Acharya, A. (2008) *Political theory an Introduction*. Perison Long Man New Delhi.
- Gaba, O.P. (2019) *An Introduction to Political Theory*, Mayur Paperback, Delhi.
- Kumar Sanjiv (2019) *Understanding Political Theory,* Orient Blackswan, New Delhi
- Jain, M.P. (2019) Introduction to Political Theory, Book age publication, New Delhi.

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

इकाई–II

स्वतंत्रता, समानता, न्याय और अधिकार की अवधारणाएं

डॉ. मंगल देव

संरचना

2. उद्देश्य
2.1 परिचय
2.1.1 स्वतंत्रता का क्षेत्र
2.1.2 स्वतंत्रता और लाइसेंस
2.1.3 स्वतंत्रता और अथॉरिटी
2.1.4 मैकफर्सन के विचार
2.1.5 जे.एस.मिल की राय (1800-73)
2.1.6 मार्क्सवादी कॉन्सेप्ट ऑफ़ लिबर्टी
2.1.7 स्वतंत्रता के विभिन्न आयाम
2.2 समानता
2.2.1 समानता का अर्थ
2.2.2 लास्की के अनुसार समानता का अर्थ है
2.2.3 समानता के प्रकार
2.2.4 समानता के विभिन्न आयाम
2.2.5 समतावाद के स्वरूप
2.2.6 समतावाद पर बड़ा प्रश्न समानता किसकी?
2.2.7 समानता का स्वतंत्रता से संबंध
2.3 न्याय
2.3.1 न्याय का अर्थ एवं अवधारणा
2.3.2 न्याय की अवधारणा का विकास
2.3.1 न्याय के विविध आयाम
2.3.4 प्रक्रियात्मक न्याय और तात्विक न्याय
2.4 जॉन रॉल्स का न्याय का सिद्धांत
2.4.1 रॉल्स के न्याय सिद्धांत की आलोचना
2.5 वैश्विक न्याय

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

2.6 अधिकार
2.6.1 अधिकारों की प्रकृति
2.6.2 नकारात्मक और सकारात्मक अधिकार
2.6.3 अधिकारों का औचित्य
2.6.4 अधिकारों की परिकल्पनाएँ
2.6.5 अधिकार व दायित्व
2.6.7 बहस का विषय : मानव अधिकार-सर्वभौमिकता तथा सांस्कृतिक सापेक्षवाद
2.7 **प्रश्न**
2.8 **सन्दर्भ**

2 उद्देश्य

- **स्वतंत्रता के विभिन्न आयामों का सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक विश्लेषण करना**
- **समानता के अर्थ, विभिन्न प्रकार एवं आवश्यकता के संदर्भ का व्यावहारिक विश्लेषण करना**
- **न्याय का परिभाषित करना एवं उसके विभिनन आयामों की चर्चा करना।**
- **रॉल्स के न्याय सिद्धांत का परीक्षण करना**
- **अधिकारों के विकासों को स्पष्ट करना एवं उसे सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्षों का अध्ययन करना**

2.1 परिचय

स्वतंत्रता शब्द का अर्थ है आजादी। स्वतंत्रता को विभिन्न तरीकों से समझा जा सकता है अर्थात् बोलने की स्वतंत्रता, घूमने फिरने की स्वतंत्रता, मनपसंद कार्य करने की स्वतंत्रता, किसी भी धर्म को मानने और पसंद के धर्म का प्रचार / फैलाने की स्वतंत्रता इत्यादि। स्वतंत्रता में किसी भी प्रकार के प्रतिबंधों का अभाव होता है, जहाँ कोई व्यक्ति बिना किसी बाधा के अपनी इच्छा से कुछ भी कर सकता है।

स्वतंत्रता को बेहतर तरीके से समझने के लिए हम कुछ अन्य उदाहरण ले सकते हैं जैसे खुली हवा में उड़ने के लिए पिंजरे में बंद पक्षी की इच्छा, कैदी की खुद को जेल से मुक्त करने और स्वतंत्र जीवन जीने की इच्छा, एक लंबे समय से बीमारी की वजह से अस्पताल में भर्ती व्यक्ति घर जान की इच्छा। स्वतंत्रता का मतलब यह भी है कि किसी भी रूप में शब्द या क्रिया में जीवन में मतभेद ना रहे। स्वतंत्रता का अर्थ जीवन में गैर-हस्तक्षेप भी है। तो हम कह सकते हैं कि स्वतंत्रता के विभिन्न लोगों के लिए अलग-अलग अर्थ हैं। स्वतंत्रता शब्द लैटिन शब्द लिबर से लिया गया है, जिसका अर्थ है– "अवरोधों से मुक्त"। दूसरे शब्दों में, स्वतंत्रता का अर्थ है कि किसी भी अवरोध के अधीन होने के कार्य करने की स्वतंत्रता। स्वतंत्रता *"किसी कार्य को करने या आनंद लेने या आनंद लेने की शक्ति या क्षमता"* का प्रतीक है।

हॉब्स के अनुसार, स्वतंत्रता को समझा जा सकता है ... बाहरी बाधाओं की अनुपस्थिति, जो बाधाएँ मनुष्य की किसी भी कार्य को करने की शक्ति को कम करती हैं। हेगेल के अनुसार स्वतंत्रता कानून का पालन होता है। रूसो ने कहा कि स्वतंत्रता में सामान्य इच्छाशक्ति का पालन होता है। जे.एस. मिल के अनुसार स्वतंत्रता एकमात्र साधन है जिसके तहत व्यक्ति अपने भले के लिए अपने

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

तरीके से सब कुछ कर सकता है। जिसकी वजह से दूसरों को वंचित न करें या उन्हें प्राप्त करने के लिए अपने प्रयासों से वंचित न करें।[i] लास्की ने स्वतंत्रता को "उन सामाजिक परिस्थितियों के अस्तित्व पर प्रतिबंध की अनुपस्थिति के रूप में समझाया है जो आधुनिक सभ्यता में व्यक्तिगत खुशी की एक आवश्यक गारंटी है"।

2.1.1 स्वतंत्रता का क्षेत्र

स्वतंत्रता में प्रमुख मुद्दा व्यक्तियों और समाज (समुदाय) के बीच दावों का समायोजन है। यहाँ राज्य एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है क्योंकि यह उनके संबंधों को विनियमित करने के लिए साधन या एजेंसी है। यदि व्यक्ति के दावे को समाज के हित की अवहेलना करने के लिए बढ़ाया जाता है, तो स्वतंत्रता को 'लाइसेंस' तक सीमित कर दिया जाएगा। दूसरी ओर, यदि व्यक्ति की स्वतंत्रता को समाज के कथित हित में तेजी से सीमित किया जाता है, तो परिणाम होगा बिना शर्त के स्वतंत्रता का समर्पण इसलिए स्वतंत्रता का नुकसान होता है, इसलिए स्वतंत्रता और लाइसेंस के बीच अंतर निकालना आवश्यक है। और वहीं दूसरी ओर स्वतंत्रता की सीमा एवं अथॉरिटी बीच उचित सीमा निर्धारित करना। जब स्वतंत्रता को देख रहे हैं तब वह किसी भी एक व्यक्ति को शक्तिशाली ना बना दे।

2.1.2 स्वतंत्रता और लाइसेंस

जब स्वतंत्रता की व्याख्या किसी भी प्रकार के प्रतिबंधों की अनुपस्थिति या उनको हटा देना होता है ऐसे में अन्य व्यक्तियों के हित की अवहेलना में व्यक्ति की कार्यवाही पति है होती है तो स्वतंत्रता लाइसेंस पर परिवर्तित हो जाती है। ऐसी स्थिति सामाजिक व्यवस्था के रखरखाव के अनुकूल नहीं है, न ही स्वतंत्रता के रखरखाव के साथ। उस मामले में, एक व्यक्ति की स्वतंत्रता दूसरे की बाधा या उत्पीड़न बन जाएगी; मजबूत की स्वतंत्रता कमजोरों के दमन की कीमत होगी; भेड़िये की स्वतंत्रता निर्दोष भेड़ों की मौत की कीमत होगी; बड़ी मछली छोटे को निगलने के लिए स्वतंत्र होगी, और इस बड़ी से और बड़ी मछली इस बड़ी मछली को निगलने के लिए स्वतंत्र होगी। किसी की संपत्ति छीनने की चोर की स्वतंत्रता हर किसी की सुरक्षा के लिए खतरा बन जाएगी। किसी चालक को किसी भी दिशा में किसी भी दिशा में अपनी गति से वाहन चलाने की स्वतंत्रता सड़क के सभी उपयोगकर्ताओं के जीवन और स्वतंत्रता को खतरे में डालेगी। ऐसी स्थिति स्पष्ट रूप से आत्म-विरोधाभासी है। इसे सभ्य समाज में अनुमति नहीं दी जा सकती है, अन्यथा यह सामाजिक संगठन के बहुत उद्देश्य को हरा देगा।

यदि स्वतंत्रता किसी एक व्यक्ति का विशेषाधिकार ना बने या उस मामले के लिए किसी समूह का विशेषाधिकार, हर कीमत पर स्वतंत्रता इस तरीके की होनी चाहिए कि कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे की आजादी को खत्म करने के लिए अपनी आजादी इस्तेमाल ना कर पाए। एल.टी. हॉबहाउस ने कहा है– "एक की अपरिवर्तित स्वतंत्रता सभी की सशर्त सेवा होगी, लेकिन एक, और इसके विपरीत स्वतंत्रता का आनंद सभी को लेना चाहिए साथ-ही-साथ सभी पर कुछ प्रतिबंध भी लगाए जाने चाहिए।[3] यनेस्ट बार्कर ने इस सिद्धांत को व्यापक सामाजिक-आर्थिक संदर्भ में लागू करने की माँग की है– प्रत्येक के लिए स्वतंत्रता की आवश्यकता आवश्यक रूप से योग्य और सभी के लिए स्वतंत्रता की शर्त से है ... कार्य की शर्तों का निर्धारण करने के लिए पूँजी के कारखाना के मालिक की स्वतंत्रता, जिसका वह मालिक है, एक सापेक्ष स्वतंत्रता है जिसे श्रमिक की स्वतंत्रता के लिए समायोजित किया जाना चाहिए ताकि वह ऐसी परिस्थितियों में अपना काम कर सके क्योंकि उसे अभी भी एक नि:शुल्क एजेंट छोड़ दिया गया है और उसे काम की शर्तों के निर्धारण में एक हिस्सा भी दिया गया है। क्योंकि प्रत्येक की स्वतंत्रता इस प्रकार है कि दूसरों के सापेक्ष है, और दूसरों के साथ समायोजित किया जाना चाहिए, यह हमेशा विनियमित किया जाना चाहिए; और वास्तव में यह तब तक मौजूद नहीं होगा जब तक इसे विनियमित नहीं किया जाता।

2.1.3 स्वतंत्रता और अथॉरिटी

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

व्यक्तियों की स्वतंत्रता दूसरों द्वारा प्राप्त की जाने वाली समान स्वतंत्रता के मद्देनजर रखते हुए मापी जानी चाहिए। दूसरे शब्दों में, एक व्यक्ति की स्वतंत्रता को दूसरों की स्वतंत्रता के आनंद में बाधा नहीं बनना चाहिए। जैसा कि एक 'तर्कसंगत व्यक्ति' के रूप में एक आदमी के लिए स्वतंत्रता की माँग की जाती है, यह इस प्रकार है कि स्वतंत्रता पुरुषों को तर्कसंगत वस्तुओं 'या आदर्श वस्तुओं' का पीछा करने में सक्षम करने के लिए है। यदि वे ऐसा करते हैं, तो प्रत्येक व्यक्ति समाज की खुशी के अनुरूप अपनी खुशी का पीछा करेगा; और व्यक्ति की भलाई सामाजिक भलाई का एक अभिन्न हिस्सा बन जाएगी। ऐसी परिपूर्ण अवस्था में, कोई नियम आवश्यक नहीं होगा। लेकिन चूँकि, वास्तविक दुनिया में, व्यक्ति पूर्ण नहीं होते हैं, वे केवल पूर्णता के लिए सक्षम होते हैं– स्वतंत्रता को बनाए रखने के लिए स्वतंत्रता का विनियमन आवश्यक हो जाता है। बार्कर ने आगे देखा है– राज्य के भीतर स्वतंत्रता इस प्रकार एक सापेक्ष और विनियमित स्वतंत्रता है– यह स्वतंत्रता का सामान्य उपाय है जो सभी के लिए संभव है, जैसा कि निर्धारित और परिभाषित (प्रत्येक) दूसरों की तरह समान और समान स्वतंत्रता का आनंद लेने के लिए निर्धारित किया गया है। (ii) विशिष्ट क्षमताओं को साकार करने की विशिष्ट स्वतंत्रता का आनंद लेने के लिए सभी की आवश्यकता के अनुसार। सापेक्ष और विनियमित स्वतंत्रता का यह दृष्टिकोण स्वतंत्रता के सार को खारिज या पतला नहीं करता है। इसके विपरीत यह एक अधिक मूल आधार प्रदान करता है। जैसा कि बार्कर ने स्पष्ट किया है– एक सापेक्ष और विनियमित स्वतंत्रता, वास्तव में ऑपरेटिव और आनंदित है, पूर्ण स्वतंत्रता की तुलना में अधिक मात्रा में स्वतंत्रता है, अगर वास्तव में ऐसी स्वतंत्रता कभी भी मौजूद हो सकती है, या कभी भी कुछ भी नहीं की तुलना में कुछ भी अधिक हो सकती है। स्वतंत्रता का विनियमन व्यक्ति पर राज्य के अधिकार को मान्यता प्रदान करता है। यदि व्यक्ति की स्वतंत्रता को निरपेक्ष होने की अनुमति नहीं दी जा सकती है, तो क्या हम राज्य के अधिकार को निरपेक्ष होने की अनुमति दे सकते हैं? इस प्रकार, स्वतंत्रता और अधिकार के बीच संघर्ष स्वतंत्रता और लाइसेंस के बीच संघर्ष से कम गंभीर नहीं है। दूसरे शब्दों में, यदि हम राज्य को पूर्ण स्वतंत्रता से वंचित करते हैं क्योंकि पृथ्वी पर कोई भी राज्य परिपूर्ण नहीं है। स्वतंत्रता और अधिकार के बीच संघर्ष राजनीतिक सिद्धांत में एक ज्वलंत मुद्दा बना हुआ है। डी.डी. राफेल ने स्पष्ट किया है– अधिकांश राजनीतिक सिद्धांतकार यह स्वीकार करते हैं कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता और राज्य प्राधिकरण एक दूसरे के साथ संघर्ष करते हैं, और यह कि उनके और मूल्यों के बीच संतुलन कायम करना पड़ता है। कुछ, जैसे होब्स, यह कहने के लिए तैयार हैं कि स्वतंत्रता को राज्य प्राधिकरण के लाभों के लिए रास्ता बनाने के लिए गंभीर रूप से सीमित होना चाहिए।[5] अन्य विचारक जैसे जे.एस. मिल और जॉन लॉक का मानना है कि राज्य प्राधिकरण को सीमित रूप से सीमित किया जाना चाहिए ताकि स्वतंत्रता के लिए अधिक से अधिक स्थान छोड़ सकें।

कोई भी स्थिति रहे, अपने सामाजिक उद्देश्य के संदर्भ में अथॉरिटी को अधिक सार्थक बनाने के लिए राज्य को अथॉरिटी की सीमाओं को निर्धारित करना होगा। एक राज्य के पास असीमित कानूनी शक्तियाँ हो सकती हैं। उदाहरण के लिए, ब्रिटिश संसद को कानूनी रूप से सर्वशक्तिमान माना जाता है। लेकिन वास्तविक दुनिया में, कोई भी राज्य असीमित शक्तियों का प्रयोग नहीं कर सकता है। राफेल (Raphel) ने स्पष्ट रूप से कहा कि: किसी भी राज्य के पास किसी भी कानून को बनाने के लिए असीमित व्यावहारिक शक्ति नहीं है जो वह चाहे, भले ही उसके पास असीमित कानूनी शक्तियाँ हों। एक समझदार विधायिका हमेशा ऑफिस में बना रहना चाहता है अपनी राजनीति के खातिर ना की कानूनी संभावनाओं के तहत जो प्रभावी रूप से कर सकता है किंतु कानूनी रूप से नहीं कर सकता है।

जैसा कि राज्य कानून बनाता है, इसमें उस कानून को जबरदस्ती लागू करने की शक्ति है। दूसरे शब्दों में, कानून प्रतिबंधों द्वारा समर्थित है; राज्य मजबूर करने के के तरीकों का उपयोग करने के लिए स्वतंत्र है। हालाँकि, जबरदस्ती मजबूर करने के उपायों में शारीरिक ताकत एवं हथियार शामिल हैं।, न कि एक नैतिक हथियार जो न केवल अधिक प्रभावी होगा, बल्कि औचित्य के लिए

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

अधिक अनुकूल होगा यदि यह केवल बल के बजाय नैतिक समर्थन और वैधता द्वारा समर्थित है। लोगों द्वारा राज्य को दिए गए समर्थन और उसके कानून को उनकी नैतिक मान्यताओं और मूल्यों से वैधता प्रदान करता है।

मान्यता लोगों से मिलती है। एक राज्य वैध है अगर लोगों का मानना है कि यह उनके लिए आवश्यक है और इसकी कार्रवाई समाज के लिए वैध और मूल्यवान है। जब तक इसकी वैधता निर्विवाद है, राज्य को बल का उपयोग करने की आवश्यकता शायद ही होगी। लेकिन अगर इसकी वैधता पर व्यापक रूप से सवाल उठाया जाता है, तो राज्य खतरनाक स्थिति में है। एक शासन गंभीर संकट में है अगर लोगों का मानना है कि इसकी सेना नाजायज है, इसकी पुलिस क्रूर है, और इसकी अदालतें अनुचित हैं। इसमें शक्ति हो सकती है- व्यापक विरोध के बावजूद अपने आदेशों को प्राप्त करने की क्षमता-लेकिन इसके पास राज्य या कानून का अधिकार नहीं है, यह तभी प्रभावी होगा जब अधिकांश लोग इसे नैतिक आधार पर स्वीकार कर लें। जब अधिकांश लोग कानून का पालन करने के लिए एक नैतिक दायित्व को पहचानते हैं, तो वे एक नैतिक मकसद से काम करेंगे, न कि मजबूरी के तहत।[6]

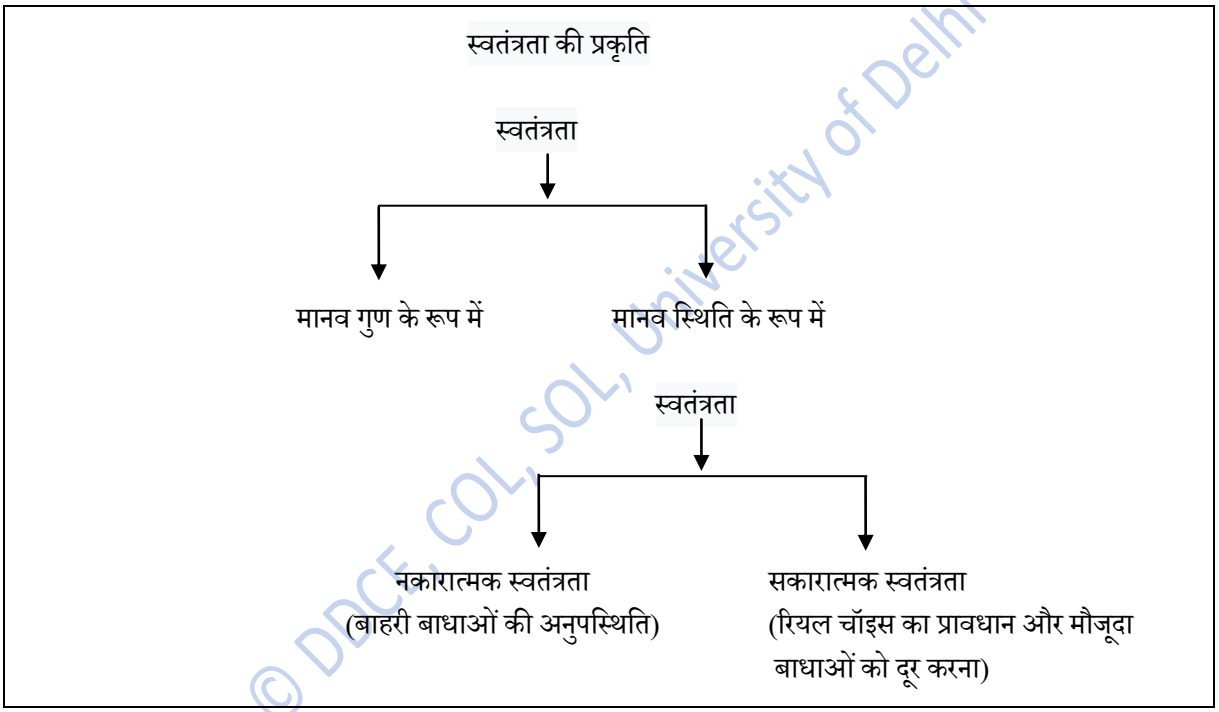

स्रोत: ओ.पी. गौबा, "राजनीतिक सिद्धांत और विचार", पी। 5.4

स्वतंत्रता के विभिन्न विचार *सकारात्मक स्वतंत्रता* : 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के दौरान, स्वतंत्रता की एक सकारात्मक अवधारणा विकसित हुई। हम इसे रूसो, कांट, हेगेल, टी.एच. ग्रीन, बॉस्कैन्ट, बार्कर और लास्की के लेखन में पा सकते हैं। । कांत ने कहा कि एक व्यक्ति में उच्च और निम्न स्वयं होते हैं। स्वतंत्रता तब आती है जब कोई व्यक्ति सार्वभौमिक कारणों के लिए उसे स्वयं / उसके अधीन करता है। उन्होंने स्वतंत्र रूप से अवधारणा को स्वीकार करने से इनकार कर दिया और पुरुष / महिला को तर्कसंगत और आत्म-जागरूक प्राणी माना। लास्की, हॉबहाउस और मैकिवर का विचार था कि, "स्वतंत्रता अच्छी है, लेकिन स्वच्छंद और अवांछनीय कार्य करना स्वतंत्रता नहीं है वह एक लाइसेंस है और वह बुरा है"। जॉन लोक और एडम स्मिथ ने प्रत्येक कानून को स्वतंत्रता में कमी के रूप में माना, जबकि ग्रीन और लास्की ने कानूनों की एजेंसी के माध्यम से समाज में सुधार करना

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

चाहा। उनके अनुसार, स्वतंत्रता का अर्थ "प्रतिबंधों की अनुपस्थिति नहीं है, यह आपके लिए कुछ करने के लिए" एक अवसर "को दर्शाता है जो करने योग्य है"। लास्की बताते हैं, " स्वतंत्रता से मेरा मतलब है कि ऐसे वातावरण का रखरखाव जहाँ पर व्यक्ति को अवसर मिलता है उसके लिए अच्छा करने का"

लास्की के मत लास्की कहते है– "स्वतंत्रता से मेरा मतलब है कि उस वातावरण का उत्सुक रखरखाव जिसमें पुरुषों को अपने आप में सर्वश्रेष्ठ होने का अवसर मिले। स्वतंत्रता, इसलिए अधिकारों का एक उत्पाद है ... अधिकारों के बिना स्वतंत्रता नहीं हो सकती क्योंकि अधिकारों के बिना लोग व्यक्तित्व की आवश्यकताओं से असंबंधित कानून के अधीन हैं। स्वतंत्रता इसलिए, एक सकारात्मक बात है। इसका मतलब केवल अनुपस्थिति का संयम नहीं है।[7] उन्होंने मिल की स्वतंत्रता के दृष्टिकोण की आलोचना की, उन्होंने कहा– "स्वतंत्रता इस प्रकार इसकी प्रकृति पर प्रतिबंध लगाता है, क्योंकि मैं जिस अलग स्वतंत्रता का उपयोग करता हूं वह उन लोगों की स्वतंत्रता को नष्ट करने के लिए स्वतंत्रता नहीं है जिनके साथ मैं रहता हूँ।"[8]

लास्की व्यक्ति की स्वतंत्रता को उसके सामाजिक स्वतंत्रता के संबंध में महत्त्व देते हैं। व्यक्तिगत स्वतंत्रता का समाज से अलगाव में आनंद नहीं लिया जा सकता है। लास्की कहते है कि राज्य की दया पर स्वतंत्रता नहीं छोड़ी जानी चाहिए क्योंकि "... इस संदर्भ में इसे ध्यान में रखा जा सकता है;" और इसे हमेशा अधिकारों पर आक्रमण करने के लिए कहा जाना चाहिए।[9] लास्की स्वतंत्रता की सकारात्मक अवधारणा का समर्थन करते हैं, उन्हें सरकारों पर संदेह है और राज्य के लिए स्वतंत्रता का समर्पण नहीं करते हैं। वे कहते हैं, "... सरकारें वास्तव में स्वतंत्रता पर आक्रमण कर सकती हैं, जबकि वे सामान्य हित में कार्य करने का दावा करते हैं...इसलिए, स्वतंत्रता केवल एक नियम का पालन नहीं है"।[10] लास्की स्वतंत्रता के आदर्शवादी दृष्टिकोण से भिन्न है कि स्वतंत्रता केवल राज्य के कानूनों के पालन में रहती है।

लास्की व्यक्तित्व के विकास के अवसरों की उपलब्धता के साथ स्वतंत्रता को जोड़ते है। वे कहते हैं, "... जिन स्वतंत्रता के लिए मुझे स्वतंत्रता का आनंद लेना चाहिए, वे, जो कि उनके योग में हैं, उस मार्ग का निर्माण कर सकें जिसके माध्यम से मेरा सबसे अच्छा आत्म प्राप्ति करने में सक्षम बनू इसीलिए स्वतंत्रता एक अवसर है। जिन्हें इतिहास ने दिखाया है स्वतंत्रता व्यक्तित्व का विकास है"।[11] लास्की तीन प्रकार की स्वतंत्रता की बात करता है- निजी, राजनीतिक और आर्थिक-मानव व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है। निजी स्वतंत्रता नकारात्मक है और यह "... इस प्रकार वह पहलू है जो पदार्थ मुख्य रूप से एक व्यक्ति के स्वयं के लिए व्यक्तिगत है। यह जीवन के निजी संबंधों में खुद को पूरी तरह से होने का अवसर है"।[12] राजनीतिक स्वतंत्रता को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं कि यह, "राजनीतिक स्वतंत्रता का मतलब है राज्य के मामलों में सक्रिय होने की शक्ति।" इसका मतलब है कि मैं अपने दिमाग को सार्वजनिक व्यवसाय के बारे में खुलकर खेलने दे सकता हूं। उन्होंने दो स्थितियों का उल्लेख किया है जो राजनीतिक स्वतंत्रता के वास्तविक होने के लिए आवश्यक हैं। ये शिक्षा और समाचार की एक ईमानदार और सीधी आपूर्ति का प्रावधान हैं। "समाचार के बिना एक व्यक्ति, अभी या बाद में, स्वतंत्रता के आधार के बिना एक व्यक्ति है।"[13] लास्की ने सूचना के अधिकार के महत्त्व को महसूस किया जो अधिकारों की चौथी पीढ़ी द्वारा माँग की जा रही है। वह आर्थिक स्वतंत्रता को "... सुरक्षा और अवसर के रूप में परिभाषित करता है, जो कि किसी की रोज़ी रोटी की कमाई में उचित महत्त्व खोजने का है ... मुझे कल की इच्छा के विरुद्ध सुरक्षित रहना चाहिए।"[14] आर्थिक स्वतंत्रता को बनाए रखने के लिए वह उद्योग में लोकतंत्र की माँग करता है। लास्की तीन प्रकार की स्वतंत्रता की प्रकृति के बारे में वर्णन करता है- निजी स्वतंत्रता मुख्य रूप से एक नकारात्मक बात है, जबकि राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता को उनकी पूर्ति के लिए कुछ सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों की आवश्यकता होती है, और प्रकृति में सकारात्मक होते हैं। सकारात्मक और आर्थिक स्वतंत्रताएँ उनकी प्राप्ति के लिए आवश्यक शर्तों के बिना अर्थहीन हैं। इनकी प्राप्ति के लिए आवश्यक शर्तों के बिना इन्हें बनाने की जिम्मेदारी है। बिना शर्तों के इन्हें बनाने की जिम्मेदारी सरकार की है।

© DDE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

लास्की ने स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए आवश्यक सकारात्मक स्थितियों का उल्लेख किया है। वे इस प्रकार हैं–

i) विशेष विशेषाधिकार की अनुपस्थिति : विशेष विशेषाधिकार की उपस्थिति में स्वतंत्रता नहीं हो सकती है। विशेष विशेषाधिकार निराशा की ओर जाता है, रचनात्मकता की आदत इस वजह से खो जाती है और लोग अपने स्वयं के अच्छे को महसूस करने की क्षमता खो देते हैं। लास्की कहते है, कि "... जो सभी की भलाई की इच्छा रखते हैं, वे विशेषाधिकारों के उन्मूलन चाहते हैं ... विशेष विशेषाधिकार स्वतंत्रता के साथ असंगत है क्योंकि स्वतंत्रता की गुणवत्ता मानव के चरित्र के रूप में सभी समान है।"[15] इस प्रकार स्वतंत्रता तभी संभव है जब समानता हो।

ii) अधिकारों की उपस्थिति : अधिकारों की उपस्थिति में ही स्वतंत्रता का आनंद लिया जा सकता है। वहाँ "... स्वतंत्रता नहीं हो सकती है जहाँ कुछ लोगों के अधिकार दूसरों की खुशी पर निर्भर करते है"।[16] समान अधिकार बनाए रखना राज्य का कर्तव्य है।

iii) जिम्मेदार सरकार : सरकार को जिम्मेदार होना चाहिए। केवल एक जिम्मेदार सरकार अधिकारों और स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए आवश्यक सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों का निर्माण कर सकती है।[17]

2.1.4 मैकफर्सन के विचार

मैकफर्सन सकारात्मक स्वतंत्रता को 'विकास की स्वतंत्रता' कहते हैं। वे कहते हैं, "... अगर हम विकास की स्वतंत्रता के लिए पॉज़ीटिव लिबर्टी का नाम बदलते हैं तो यह विभाजन बेहतर होगा।" मैकफर्सन ने "सकारात्मक स्वतंत्रता को पूर्ण मनुष्य के रूप में कार्य करने" को परिभाषित किया। एक आदमी की सकारात्मक स्वतंत्रता वास्तव में वही है जो मैंने विकास की भावना में एक आदमी की शक्ति को कहा है।[18] **मैकफर्सन** के अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ है समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए जीवन और श्रम की उपलब्धता। इसके लिए उनका सुझाव है कि निजी संपत्ति के आधार पर उत्पादन के पूँजीवादी मोड को किसी अन्य प्रणाली द्वारा प्रतिस्थापित किया जाना चाहिए। स्वतंत्रता नकारात्मक स्वतंत्रता नहीं है क्योंकि ऐसे मामले में स्वतंत्रता इसलिए क्योंकि ऐसे मामले में एक व्यक्ति की स्वतंत्रता दूसरे व्यक्ति की स्वतंत्रता को नष्ट कर सकती है। वह कहते हैं, "... क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता कम या छीना होनी चाहिए या किसी के द्वारा छीन ली जानी चाहिए ऐसी स्थिति में व्यक्तिगत स्वतंत्रता को कुल शुद्ध स्वतंत्रता के औसत में मापना चाहिए।"[19] इसलिए स्वतंत्रता का माप कुल स्वतंत्रता है। हालाँकि, मैकफर्सन नकारात्मक और सकारात्मक स्वतंत्रता के बीच विभाजन को स्वीकार नहीं करता है और यह सुनिश्चित करता है कि नकारात्मक स्वतंत्रता किसी भी निकालने वाली शक्ति का अभाव है।[20]

सकारात्मक स्वतंत्रता के महत्त्वपूर्ण बिंदु

i) स्वतंत्रता प्रतिबंधों की अनुपस्थिति नहीं है, बल्कि यह उन सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों की उपस्थिति है जिनके बिना इसे महसूस नहीं किया जा सकता है।

ii) स्वतंत्रता का उद्देश्य एक सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य का विकास है।

iii) उचित अवसरों और सामाजिक परिस्थितियों के बिना स्वतंत्रता को महसूस नहीं किया जा सकता है।

iv) स्वतंत्रता के लिए अधिकार आवश्यक हैं और यह न्याय, नैतिकता और समानता से संबंधित है।

v) किसी व्यक्ति की स्वतंत्रता सामाजिक कल्याण के अनुरूप होनी चाहिए।

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

vi) राज्य का कर्तव्य स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए सकारात्मक परिस्थितियों का निर्माण करना है और इसके लिए राज्य कुछ व्यक्तियों की स्वतंत्रता को सीमित कर सकता है। हालाँकि, सरकार को एक जिम्मेदार सरकार होना चाहिए। राज्य को व्यक्तिगत स्वतंत्रता के दुश्मन के रूप में नहीं देखा जाता है।

vii) स्वतंत्रता सामाजिक मनुष्य की सामाजिक आवश्यकता है और यह एक असामाजिक या असामाजिक प्राणियों को नहीं दी जाती है।

viii) केवल एक कल्याणकारी राज्य में ही सकारात्मक स्वतंत्रता मौजूद हो सकती है।

नकारात्मक स्वतंत्रता

नकारात्मक स्वतंत्रता का अर्थ है, "बाहरी बाधाओं की अनुपस्थिति"। नकारात्मक स्वतंत्रता के समर्थकों में जॉन लॉक, एडम स्मिथ और हर्बर्ट स्पेंसर शामिल हैं। उनका विचार था कि राज्य की गतिविधि के क्षेत्र को संभव सीमाओं तक सीमित किया जाना चाहिए। जॉन लॉक के अनुसार, जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति के अधिकार मनुष्य के प्राकृतिक अधिकार हैं। विधानमंडल या कार्यपालिका को इन अधिकारों पर प्रतिबंध लगाने की अनुमति नहीं दी जा सकती है। एडम स्मिथ ने "लाईसेज़ फ़ेयर" के सिद्धांत को प्रतिपादित किया, अर्थात् सरकार को व्यवसाय, वित्त या लोगों की आर्थिक स्थितियों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। हर्बर्ट स्पेंसर भी इसी विचार को मानते हैं।

जे.एस. मिल का वर्णन है कि मनुष्य के कार्य दो प्रकार के होते हैं, अर्थात् "आत्म-संबंध" और "अन्य-संबंध"। स्व-संबंधित क्रियाओं का केवल कर्ता पर प्रभाव होता है, जबकि अन्य कार्यों के संबंध में दूसरे के अस्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। किसी भी व्यक्ति को ऐसी गतिविधियों के बारे में पूर्ण स्वतंत्रता नहीं दी जा सकती है जिनका प्रभाव दूसरे के अस्तित्व पर है। उदाहरण के लिए, ये कार्य अन्य की स्वतंत्रता को प्रभावित करते हैं: अश्लील व्यवहार, शराब के प्रभाव के तहत बकवास करना और चोरी करना आदि। अन्य कार्यों को करने से समाज को रोकना उचित होगा। लेकिन अन्य गतिविधियाँ हैं जिनके लिए लोगों को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की जानी चाहिए। खाने-पीने का सामान, एक धर्म जिसका वह पालन करता है और पेशे की एक पसंद एक व्यक्ति के निजी मामले हैं। जे.एस. मिल के अनुसार, "खुद पर, अपने शरीर और दिमाग पर, व्यक्ति संप्रभु है"। नकारात्मक स्वतंत्रता "गैर-हस्तक्षेप के क्षेत्र" को इंगित करती है। एफए हायेक के अनुसार, " व्यक्तियों के कुछ निजी आश्सव क्षेत्र होते हैं... जिनके साथ अन्य लोग हस्तक्षेप नहीं कर सकते हैं"। उनके अनुसार, "वह सरकार सबसे अच्छी है जो सबसे कम शासन करती है"।

नकारात्मक स्वतंत्रता/नेगेटिव लिबर्टी के समर्थकों का मानना है कि–

(i) जब अधिक कानून होते हैं तब व्यक्तियों को कम स्वतंत्रता उपलब्ध होती है;

(ii) विचार, भाषण, धर्म और संपत्ति की स्वतंत्रता कभी भी प्रतिबंधित नहीं होनी चाहिए;

(iii) मताधिकार 'सार्वभौमिक होना चाहिए;

(iv) राज्य गतिविधि का क्षेत्र बहुत सीमित होना चाहिए।

2.1.5 जे.एस. मिल. की राय (1806-73)

मिल ने राज्य के सकारात्मक दृष्टिकोण के समर्थन के लिए नकारात्मक स्वतंत्रता की अवधारणा का समर्थन किया। मिल 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लिख रहा था जब नकारात्मक स्वतंत्रता का घोर विरोध किया गया था। वह उस युग में लिख रहे थे जब

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

"...विस्तार करने वाले मताधिकार ने जिनके पास दैनिक मामलों में कानूनी हस्तक्षेप से कुछ हासिल करना था, उन वर्गों पर सत्ता का एक माप दिया, और ... यह स्वीकार किया गया कि कल्याण को बढ़ावा देने के लिए राज्य के पास एक वैध और सकारात्मक हिस्सा है।"[21] इस परिस्थितियों में मिल ने कहा कि बहुमत के अत्याचार की संभावना हो सकती है और अल्पसंख्यकों की स्वतंत्रता लुप्त हो सकती है। उनका कहना है कि लोकतंत्र के आगमन का मतलब यह नहीं है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा की जाएगी। बहुसंख्यक अल्पसंख्यकों की स्वतंत्रता को छीन सकते हैं। इसलिए, व्यक्ति की स्वतंत्रता को लोकतांत्रिक राज्यों के हस्तक्षेप के खिलाफ संरक्षित किया जाना चाहिए। वह कहता है: "यह धारणा, कि लोगों को अपनी शक्ति को स्वयं पर सीमित करने की कोई आवश्यकता नहीं है, स्वयंसिद्ध लग सकता है ... 'स्व-शासन' और 'स्वयं पर लोगों की शक्ति' जैसे वाक्यांश, राज्य की सही स्थिति को व्यक्त नहीं करते हैं" । लोग 'जो शक्ति का प्रयोग करते हैं, वे हमेशा वही लोग नहीं होते जिनके ऊपर यह प्रयोग किया जाता है; और स्व-सरकार की बात की जाए तो प्रत्येक की सरकार खुद की नहीं है, बल्कि बाकी सभी की है। इसके अलावा, लोगों की इच्छा, व्यावहारिक रूप से लोगों की सबसे अधिक या सबसे सक्रिय हिस्से की इच्छा का अर्थ है ... सावधानियों को शक्ति के किसी भी अन्य दुरुपयोग के खिलाफ इसकी जितनी आवश्यकता है। सीमा, इसलिए, व्यक्तियों पर सरकार की शक्ति का कोई महत्त्व नहीं है, जब शक्तियों के धारक समुदाय के लिए नियमित रूप से जवाबदेह होते हैं ... और राजनीतिक अटकलों में बहुसंख्यकों के अत्याचार को आम तौर पर उन बुराइयों के बीच शामिल किया जाता है जिनके खिलाफ समाज की आवश्यकता होती है अपने आप उसके रक्षक पर अत्याचार करने के लिए "। उन्होंने कहा कि सामाजिक सामूहिकता या समाज अपने आप में एक अत्याचारी हो सकता है और अलग-अलग व्यक्तियों पर अत्याचार कर सकता है जो इसे रचते हैं। यहाँ मिल के व्यक्तिवाद का मूल्य और मूल्य निहित है, और जहाँ तक व्यक्ति की स्वतंत्रता का सवाल है वह लोकतांत्रिक राज्य और समाज दोनों की बाधाओं से डरता है, ।

यशायाह बर्लिन (Isaiah Berlin) के मत

बर्लिन के अनुसार: "इस अर्थ में राजनीतिक स्वतंत्रता (नकारात्मक) केवल वह क्षेत्र है जिसके भीतर एक व्यक्ति बिना किसी दूसरों के अवरोध के कार्य कर सकता है"।[22] जबरदस्ती की अनुपस्थिति स्वतंत्रता का आधार है। वह कहता है: "आप में राजनैतिक स्वतंत्रता या स्वतंत्रता का अभाव है केवल तभी जब आपको दूसरों के द्वारा एक लक्ष्य प्राप्त करने से रोका जाता है।"[23] उन्होंने आगे कहा कि यदि कोई पुरुष / महिला स्वतंत्र है, लेकिन अपनी स्वतंत्रता का आनंद लेने में असमर्थ है, तो दोष स्वतंत्रता की अवधारणा में नहीं बल्कि पुरुष / महिला के साथ है। यदि कोई पुरुष / महिला भोजन खरीदने या दुनिया के दौरे के लिए स्वतंत्र है और ऐसा करने में असमर्थ है, क्योंकि पैसे की कमी है, तो यह उसका / उसकी गलती है / वह इसका आनंद लेने में असमर्थ है। वह कहता है: "अगर मेरी गरीबी एक तरह की बीमारी थी, जो मुझे भोजन खरीदने या यात्रा के लिए भुगतान करने से रोकती थी, या मेरे मामले को सुनती थी, जैसा कि आलस्य मुझे चलने से रोकता है, तो यह अक्षमता स्वाभाविक रूप से स्वतंत्रता की कमी के रूप में वर्णित नहीं होगी। ना ही राजनीतिक स्वतंत्रता की कमी के रूप में।"[24] बर्लिन ने हेलविटस द्वारा प्रचारित दृष्टिकोण का समर्थन किया "स्वतंत्र व्यक्ति एक ऐसा व्यक्ति है जो न तो किसी विडंबना में है, न ही जेल में कैद है, न ही सजा के डर से गुलाम की तरह आतंकित है: यह स्वतंत्रता की कमी नहीं है कि वह बाज की तरह उड़ न पाए या व्हेल की तरह तैर ना पाए।"[25] बर्लिन कहता है: "इस अर्थ में (नकारात्मक) मुक्त होने का मतलब है कि मैं दूसरों के साथ हस्तक्षेप नहीं करता। व्यापक गैर हस्तक्षेप का क्षेत्र, मेरी व्यापक स्वतंत्रता है।"[26]

बर्लिन आगे बताता है कि स्वतंत्रता और लोकतंत्र के बीच कोई तार्किक संबंध नहीं है क्योंकि एक तानाशाह द्वारा एक लोकतांत्रिक सरकार की तुलना में एक पुरुष / महिला को छोड़ा जा सकता है। वह कहते हैं: "इस अर्थ में स्वतंत्रता (नकारात्मक) किसी भी दर पर, तार्किक रूप से नहीं है, लोकतंत्र या स्व-सरकार के साथ जुड़ा हुआ नागरिक स्वतंत्रता के संरक्षण की बेहतर गारंटी प्रदान कर

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

सकता है ... लेकिन कोई आवश्यक नहीं कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता और लोकतांत्रिक शासन के बीच संबंध है।"[27] बर्लिन का विचार है कि स्वतंत्रता कुछ अलग है, और स्वतंत्रता की पूर्ति के लिए आवश्यक सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियाँ बिलकुल अलग हैं। वह स्वतंत्रता और स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए आवश्यक शर्तों के बीच संबंधों को स्वीकार करने से इनकार करता है। वे कहते हैं: "इस प्रकार स्वतंत्रता और स्वतंत्रता की शर्तों के बीच का अंतर केवल एक पांडित्यपूर्ण अंतर नहीं है, क्योंकि, अगर यह पसंद के स्वतंत्रता के अर्थ और मूल्य को नजरअंदाज कर दिया गया है, तो यह अपमानजनक है। सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों को बनाने के लिए उनके उत्साह में जिसमें अकेले स्वतंत्रता वास्तविक मूल्य है, पुरुष स्वयं स्वतंत्रता को भूल जाते हैं।" वह स्वतंत्रता और न्याय, और स्वतंत्रता और समानता के बीच संबंध को स्वीकार नहीं करता है। यदि समाज में गरीबी है और कोई जबरदस्ती नहीं है, तो समाज में अन्याय या असमानता हो सकती है, लेकिन स्वतंत्रता बहुत अधिक मौजूद है तो स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए आवश्यक सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों का अभाव का अर्थ स्वतंत्रता का अभाव ही नहीं है। संक्षिप्त रूप में हम कह सकते हैं कि बर्लिन स्वतंत्रता बनाए रखता है, किसी व्यक्ति के व्यक्तिगत मामलों में किसी भी तरह की बाधा या हस्तक्षेप का अभाव है।

मिल्टन फ्रीडमैन के विचार

फ्राइडमैन, एक नव-उदारवादी (स्वतंत्रतावादी), नकारात्मक स्वतंत्रता का समर्थन करता है और स्वतंत्रता और पूँजीवाद के बीच संबंध पाता है। उनका मत है कि पूँजीवाद के बिना किसी समाज में स्वतंत्रता नहीं हो सकती। उनके अनुसार, राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ है, "... अपने साथियों द्वारा एक आदमी के साथ कोई जबरदस्ती का ना होना।"[28] प्रतिस्पर्धी पूँजीवाद के साथ वर्तमान शताब्दी में, जो मुक्त बाजार पर आधारित है, ने विनियमित अर्थव्यवस्था और राज्य नियंत्रित पूँजीवाद को रास्ता दिया है। फ्रीडमैन स्वतंत्रता के लिए पूर्व शर्त के रूप में एक मुक्त पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की दलील दे रहा है। वह नकारात्मक स्थिति का पक्षधर है और इसके द्वारा अर्थव्यवस्था के नियम अनुचित हैं। पहले चरण में पूँजीवाद के विकास के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता की माँग की गई थी, लेकिन आज फ्रीडमैन राजनीतिक स्वतंत्रता के रखरखाव के लिए मुक्त पूँजीवाद की माँग कर रहे हैं। वह समर्थन करता है कि प्रतिस्पर्धी पूँजीवाद आवश्यक है, हालाँकि पर्याप्त नहीं, राजनीतिक स्वतंत्रता की स्थिति और "... इतिहास बताता है ... कि पूँजीवाद राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए एक आवश्यक शर्त है।"[29] उन्होंने समाजवाद को व्यक्तिगत पहल और राजनीतिक स्वतंत्रता का मुख्य दुश्मन माना क्योंकि इस तरह की प्रणाली में आर्थिक और राजनीतिक शक्तियाँ एक हाथ में केंद्रित हैं। वह सकारात्मक राज्य और स्वतंत्रता के सकारात्मक दृष्टिकोण पर हमला करता है क्योंकि आर्थिक मामलों में राज्य का हस्तक्षेप व्यक्तियों की आर्थिक स्वतंत्रता और समाज के आर्थिक विकास के लिए हानिकारक है। आर्थिक स्वतंत्रता से उनका मतलब है मुक्त पूँजीवादी बाजार अर्थव्यवस्था की उपलब्धता। वह स्वतंत्रता को न्याय और समानता जैसे मानवीय मूल्यों से नहीं जोड़ता है। फ्रीडमैन के विचार इस धारणा पर आधारित हैं कि मुक्त बाजार पूँजीवाद को जीवित रहने की क्षमता मिली है, जबकि तथ्य यह है कि 1929 के महान अवसाद और सितंबर 2008 के महान वित्तीय मंदी संदेह से साबित हुए हैं कि यह धारणा वर्तमान सदी में पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं के बारे में निराधार है।

नकारात्मक स्वतंत्रता के महत्त्वपूर्ण बिंदु–

i) स्वतंत्रता एक नकारात्मक चीज है- अवरोधों की अनुपस्थिति।

ii) एक व्यक्ति तर्कसंगत है और केवल वह जानता है कि उसकी रुचि क्या है। अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए उसे कुछ स्वतंत्रताओं की आवश्यकता होती है। उनका अपना एक निजी क्षेत्र है, जो समाज से अलग है।

© DDCE/COL/SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

iii) प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत मामलों के संबंध में व्यक्तिगत स्वतंत्रता दी जानी चाहिए और समाज या राज्य को इसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इन व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं में, विचार और चर्चा की स्वतंत्रता सबसे महत्त्वपूर्ण है।

iv) व्यक्तिगत हित और सामाजिक हित के बीच कोई संघर्ष नहीं है और अपने स्वयं के हितों की सेवा करके एक व्यक्ति भी सामाजिक हित में कार्य करता है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता सामाजिक प्रगति की एक पूर्व शर्त है।

v) किसी व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत मामलों में स्वतंत्र छोड़ने से व्यक्तिगत और सामाजिक विकास होगा। व्यक्तिगत विकास सामाजिक विकास के अनुरूप है।

vi) समाज को प्रभावित करने वाले व्यक्ति के उन कार्यों को कानूनों के माध्यम से राज्य द्वारा नियंत्रित किया जा सकता है। लेकिन राज्य का यह हस्तक्षेप न्यूनतम होना चाहिए।

vii) राज्य के कानून व्यक्तिगत स्वतंत्रता को नहीं छीन सकते हैं, लेकिन यह केवल समग्र सामाजिक कल्याण के लिए इसे नियंत्रित कर सकते हैं।

viii) लोकतांत्रिक सरकार व्यक्तिगत स्वतंत्रता की पर्याप्त गारंटी नहीं है क्योंकि यह बहुमत या सामूहिक मध्यस्थता के अत्याचार का कारण बन सकती है और अल्पसंख्यकों को कुचल सकती है।

ix) स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए स्वतंत्रता और आवश्यक सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों में अंतर है। स्वतंत्रता न्याय और समानता के खिलाफ हो सकती है और एक तानाशाही में लोकतंत्र में लोकतंत्र की तुलना में अधिक स्वतंत्रता हो सकती है।

नकारात्मक और सकारात्मक स्वतंत्रता की तुलना		
	नकारात्मक स्वतंत्रता	**सकारात्मक स्वतंत्रता**
	बिना किसी प्रतिबंध के स्वतंत्रता	उचित प्रतिबंधों के साथ स्वतंत्रता
	यह व्यक्तिगत पहलू को अधिक वजन देता है और व्यक्ति के व्यक्तित्व में निहित स्वतंत्रता को मानता है।	यह सामाजिक संदर्भ में देखता है और रखता है कि यह समाज की सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक स्थितियों पर आधारित है।
	यह मानता है कि राज्य व्यक्तिगत स्वतंत्रता के दुश्मन में है।	यह राज्य को स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए सकारात्मक परिस्थितियों को बनाने की जिम्मेदारी सौंपता है।
	यह स्वतंत्रता के व्यक्तिगत और राजनीतिक पहलुओं पर जोर देता है।	यह स्वतंत्रता के सामाजिक और आर्थिक पहलुओं पर जोर देता है।
	यह इसे अधिकारों, समानता, नैतिकता और न्याय के साथ नहीं जोड़ता है।	यह स्वतंत्रता, समानता और न्याय को पारस्परिक रूप से संबंधित मानता है।
	यह न्यूनतम कार्यों के साथ राज्य का समर्थन करता है।	यह कल्याण कार्यों के साथ राज्य का समर्थन करता है।
	यह समाज की बाजार अवधारणा पर आधारित है-जो प्राकृतिक स्वतंत्रता वाले परमाणु व्यक्तियों से बना है	यह स्वतंत्रता के सामाजिक पहलुओं पर जोर देता है।

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

	उदारवाद ने नकारात्मक स्वतंत्रता का समर्थन किया	समाजवाद ने सकारात्मक स्वतंत्रता का समर्थन किया और निजी संपत्ति के उन्मूलन के लिए खड़ा हुआ।

स्रोत: एम.पी. जैन, "राजनैतिक सिद्धांत का परिचय, पृष्ठ.128

2.1.6 मार्क्सवादी कॉन्सेप्ट ऑफ़ लिबर्टी

स्वतंत्रता की मार्क्सवादी अवधारणा उदार-व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से अलग है। मार्क्सवादी विचारकों के अनुसार, कल्याणकारी नीतियाँ जनता के दुख को कम कर सकती हैं, लेकिन वे पूँजीवाद के शोषणकारी चरित्र को नहीं बदलते हैं। स्वतंत्रता केवल तभी संभव नहीं है जब उत्पादन और वितरण- भूमि, कारखानों, बैंकों, रेलवे, खानों आदि के साधनों का स्वामित्व पूरे समाज के हाथ में अर्थात राज्य के हो। वह जितने अधिक अच्छे से हो सके उनका वितरण सभी लोगों में होना चाहिए। लिबरल डेमोक्रेट्स का मानना था कि लोगों को बहुत अधिक आर्थिक स्वतंत्रता है, मार्क्सवादी ने माना कि स्वतंत्रता और अवसर की समानता सुनिश्चित करने के लिए निजी संपत्ति का उन्मूलन आवश्यक था।

मार्क्सवाद द्वंद्वात्मक भौतिकवाद (dialectical materialism) के आधार पर सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं और अवधारणाओं का विश्लेषण करता है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता कुछ अमूर्त और अलौकिक नहीं है। 18वीं और 19वीं शताब्दियों के दौरान स्वतंत्रता के उदार समर्थकों ने अलग-थलग व्यक्ति पर स्वतंत्रता की अपनी अवधारणा पर आधारित, और व्यक्तिगत, राजनीतिक और धार्मिक स्वतंत्रता की माँग की थी उदारवादी पूँजीवादी व्यवस्था का समर्थन कर रहे थे, और दूसरी तरफ स्वतंत्रता, समानता के नारे दे रहे थे। और बिरादरी। पूँजीवाद का विकास एक ऐसे समाज के रूप में हुआ, जहाँ उत्पीड़न, शोषण, बेरोजगारी और भुखमरी प्रमुख थी और स्वतंत्रता विशाल बहुमत के लिए उपलब्ध नहीं थी। मार्क्स और एंगेल्स ने पूँजीवादी व्यवस्था की अमानवीयता की आलोचना की और मानव सार, उद्देश्य और मूल्य की एक नई भौतिकवादी व्याख्या की। उन्होंने वैज्ञानिक आधार पर अधिकारों, स्वतंत्रता और नैतिकता की व्याख्या की और मनुष्य के सर्वांगीण और सामंजस्यपूर्ण विकास पर जोर दिया। इन सभी विचारों को 'मार्क्सियन ह्यूमैनिज़्म' के रूप में जाना जाता है और मार्क्स के दार्शनिक नृविज्ञान या मनुष्य के सिद्धांत से जुड़े हैं। स्वतंत्रता की मार्क्सवादी अवधारणा आत्म-बोध, आत्म-विकास, आत्म-पूर्ति और आत्म-रचनात्मकता जैसी अवधारणाओं से जुड़ी है। आजादी की मार्क्सवादी अवधारणा पर किसी भी फलदायक चर्चा को अपने बहुआयामी पहलुओं में मनुष्य के मार्क्सवादी दृष्टिकोण और स्वयं, प्रकृति और समाज के साथ उसके संबंधों पर विचार करना है। स्वतंत्रता की मार्क्सवादी अवधारणा को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया गया है–

i) **बुर्जुआ समाजों में मनुष्य और उसकी स्वतंत्रता की आलोचना :** मार्क्स ने बुर्जुआ समाजों में पुरुष और महिला की स्थिति और उनकी स्वतंत्रता की वैज्ञानिक आलोचना प्रस्तुत की। वह बताते हैं कि बुर्जुआ क्रांति ने राजनीतिक रूप से लोगों को मुक्ति दी है और उनकी स्वतंत्रता केवल निजी संपत्ति को समाप्त करने और उत्पादन के साधनों के सामाजिक स्वामित्व को स्थापित करके प्राप्त की जा सकती है। मार्क्स ने हेगेल से "अलगाव की भावना" की अवधारणा को उधार लिया और फुएरबैक ने पूँजीवादी व्यवस्था में पूरी तरह से मानवता दी। निजी संपत्ति की प्रणाली मनुष्य को उनके मानवीय सार से अलग करती है। निजी संपत्ति की अमानवीय शक्ति मनुष्य को उसकी मानवता से अलग करती है और वास्तविक व्यक्ति के बजाय जो इस तरह के समाजों में पाया जाता है वह एक गुलाम है, अपनी संपत्ति (अमीर आदमी) का गुलाम है और अपनी संपत्ति का गुलाम है और अपनी शारीरिक जरूरतों (गरीब आदमी) का गुलाम है। /महिला)। एक श्रमिक ऐसा समाज अपने श्रम से, प्रकृति से और अपने साथी प्राणियों से अलग हो जाता है और पूँजी बाजार में एक

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

जानवर की तरह जिंस बन जाता है। अलगाव पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था का एक सड़ा हुआ उत्पाद है और यह पुरुष / महिला को अमानवीय बनाता है। मार्क्स का निष्कर्ष है कि निजी संपत्ति मानवता की दुश्मन है, और स्वतंत्रता- एक मानव गुणवत्ता- इसके साथ संभव नहीं है।

ii) **मानव सार, उद्देश्य और मूल्य पर विचार :** पुरुष / महिला की दार्शनिक अवधारणा की समझ किसी भी व्यक्ति या महिला की समस्या को समझने के लिए पहली आवश्यकता है। मार्क्स ने लोगों के मानवशास्त्रीय, आध्यात्मिक, आदर्शवादी, व्यक्तिवादी, यांत्रिक और भौतिकवादी के तत्कालीन प्रचलित विभिन्न विचारों का वैज्ञानिक रूप से विश्लेषण किया और इनमें से कमजोरियों को इंगित किया और फिर अपना दृष्टिकोण दिया। "मार्क्सवादी सामाजिक विचार सैद्धांतिक रूप से अमूर्त में आदमी की अवधारणा पर निर्भर करता है, सामान्य रूप से आदमी। सभी सामाजिक-राजनीतिक, आर्थिक, कानूनी और अन्य संबंधों से तलाक दिया गया है, और इसलिए राजनीतिक गतिविधि से"।[30] मार्क्स ने स्त्री / पुरुष को एक अलग समाज-निर्माण के रूप में एक अलग व्याख्या दी। मार्क्स ने कहा, मानव सार "... सामाजिक संबंधों की समग्रता है"। उन्होंने आगे कहा कि: "व्यक्तिगत व्यक्ति का सार उसकी दाढ़ी में नहीं, उसके खून में है, न कि उसके भौतिक स्वभाव में बल्कि उसकी सामाजिक गुणवत्ता में"।[31] मनुष्य सामाजिक प्राणी है और अलगाव के तहत अध्ययन नहीं किया जा सकता है। सामाजिक अस्तित्व में उनका अस्तित्व नहीं है। मनुष्य का उद्देश्य और मूल्य मानव अस्तित्व के साथ निकटता से जुड़े हुए हैं। गैर-मार्क्सवादी विचारधाराओं ने जोर दिया है कि मनुष्य का उद्देश्य अमूर्त सत्य और सद्गुण (आदर्शवाद), व्यक्तिगत सुख (व्यक्तिवाद), मोक्ष या आध्यात्मिकता की उपलब्धि (धर्म), आदि है।

iii) **स्वतंत्रता का अर्थ :** स्वतंत्रता और आवश्यकता: मार्क्सवाद अवरोधों की अनुपस्थिति को स्वतंत्रता नहीं मानता है, और न ही यह स्वीकार करता है कि व्यक्तिगत और राजनीतिक स्वतंत्रता सर्वोच्च आदर्श हैं और अन्य स्वतंत्रताएँ इन पर आधारित हैं। यह स्वतंत्रता को मनुष्य के सार और उद्देश्य के साथ जोड़कर परिभाषित करता है। स्वतंत्रता के मार्क्सवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए हुबरमैन और स्वेज़ी– "स्वतंत्रता का अर्थ है जीवन को पूर्ण जीना–पर्याप्त भोजन, वस्त्र और आश्रय के संबंध में शरीर की जरूरतों को पूरा करने की आर्थिक क्षमता, प्लस मन को साधने का प्रभावी अवसर, व्यक्तित्व का विकास करना, व्यक्तित्व और व्यक्तित्व पर जोर देता है।[32] इसी तरह, पेट्रोसेन का कहना है– "स्वतंत्रता की मार्क्स की समझ से तात्पर्य यह है कि मुक्त सर्वांगीण विकास के लिए वास्तविक परिस्थितियाँ बनाना और मनुष्य की व्यक्तित्व को फूल देना।"[33]

iv) **स्वतंत्रता और प्रॉक्सिस (उद्देश्यपूर्ण सामाजिक गतिविधि) :** प्रिक्सिस का अर्थ है मनुष्य की सामाजिक गतिविधि। मार्क्सवाद कानून के ज्ञान को स्वतंत्रता के लिए आवश्यक शर्त मानता है, लेकिन यह अकेला पर्याप्त नहीं है। प्रकृति और समाज के उद्देश्य कानूनों के ज्ञान के आधार पर, क्रांतिकारी सामाजिक गतिविधि (प्रिक्सिस) द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त की जा सकती है। ज्ञान प्रकृति और समाज में मनुष्य की महारत को संभव बनाता है, लेकिन मनुष्य की क्रांतिकारी सामाजिक गतिविधि के बिना यह ज्ञान बेकार है। एंगेल्स ने जोर दिया कि "स्वतंत्रता, प्रकृति और समाज के नियमों के अर्थ में न केवल ऐतिहासिक विकास के नियमों के ज्ञान पर आधारित व्यावहारिक क्रांतिकारी गतिविधि के परिणामस्वरूप आती है"।[34]

v) **एक वर्ग अवधारणा के रूप में स्वतंत्रता :** मार्क्स का वर्णन है कि एक वर्ग विभाजित समाज में स्वतंत्रता का मतलब विभिन्न वर्गों के लिए अलग अलग होगा। संपत्ति के मालिकों के लिए इसका मतलब होगा निजी संपत्ति की स्वतंत्रता, मुनाफे का, मुफ्त अनुबंधों का, किसी को रोजगार देने या उन्हें अपने शोषण और खराब कामकाजी परिस्थितियों से

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

निकालने का। एक वर्ग की स्वतंत्रता दूसरे वर्ग का बंधन बन जाती है। इस प्रकार, वर्ग विभाजित समाज में स्वतंत्रता का एक सार्वभौमिक चरित्र नहीं है। हुबरमैन और स्वेज़ी का एक उदाहरण देते हुए "चरवाहा भेड़िये को भेड़ के गले से निकालता है, जिसके लिए भेड़ चरवाहे को अपने मुक्तिदाता के रूप में धन्यवाद देती है, जबकि भेड़िये उसे उसी कार्य के लिए निंदा करते हैं, जैसा कि स्वतंत्रता के विध्वंसक...भेड़ और भेड़िया स्वतंत्रता शब्द की परिभाषा पर सहमत नहीं हैं"।[35] इसी तरह क्लॉडवेल लिखते हैं, "...बुर्जुआ सामाजिक संबंध समान रूप से इन दो चरम सीमाओं को जन्म देते हैं, निष्क्रिय बुर्जुआ की स्वतंत्रता और सर्वहारा कार्यकर्ता की अक्षमता... बुर्जुआ मज़दूर के श्रम के बिना उसकी मूर्खता का आनंद नहीं ले सकते थे... इस प्रकार मज़दूर की स्वतंत्रता कुछ बुर्जुआ सामाजिक संबंधों में कई लोगों के विश्वास पर बनाया गया है"।[36]

vi) **स्वतंत्रता, कहाँ और कैसे? :** मार्क्स के अनुसार स्वतंत्रता एक मुक्त समाज के मुक्त वातावरण में उपलब्ध हो सकती है। मुक्त समाज एक वर्गहीन समाज होगा जिसमें हर कोई अपने साथी प्राणियों से शोषण से मुक्त होगा। निजी संपत्ति की दीवार समाज में आदमी के बीच नहीं रहेगी और आदमी अपने वास्तविक सार, उद्देश्य और मूल्यों के साथ समाज में रह सकता है। स्वतंत्रता का अर्थ है सामाजिक व्यक्ति का बहुआयामी विकास और एक मुक्त समाजवादी समाज इसके लिए पर्याप्त अवसर प्रदान करता है। यहाँ मनुष्य और उसकी प्रकृति, समाज और उसके श्रम के बीच अलगाव समाप्त हो जाएगा और मनुष्य को अमानवीय नहीं बनाया जाएगा। उसके सार और अस्तित्व के बीच अंतराल नहीं होगा। मार्क्स कहते हैं, "साम्यवाद" से उनके व्यक्तित्व का सुदृढ़ीकरण होगा, मनुष्य को स्वयं अपने मानव सार या दूसरे शब्दों में, सभी प्रकार के मानव अलगाव के सभी प्रकार के उन्मूलन के लिए, सार और के बीच के विरोधाभासों को समाप्त करने के लिए होगा। एक व्यक्ति और व्यक्ति के रूप में मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए अस्तित्व"।

मार्क्सवादी स्वतंत्रता का मूल्यांकन और मुख्य बिंदु–

- व्यक्तिगत स्वतंत्रता का मुद्दा मार्क्सवादी मानवतावाद से जुड़ा है।
- मनुष्य का सार सामाजिक संबंधों की समग्रता है। निजी संपत्ति के आधार पर एक वर्ग-विभाजित समाज में, आदमी अलग-थलग है और उसका अस्तित्व उसके सार का खंडन करता है। ऐसी स्थिति में स्वतंत्रता का प्रश्न ही नहीं उठता।
- मानव स्वतंत्रता को सामाजिक संबंधों की समग्रता और मनुष्य के सार, उद्देश्य और मूल्यों के संदर्भ में माना जाना चाहिए।
- स्वतंत्रता का अर्थ है आत्म प्राप्ति और आत्म-प्राप्ति और आत्म-पूर्ति के लिए शर्तों की उपलब्धता। इसका अर्थ है एक सामाजिक प्राणी के रूप में बहुआयामी विकास।
- मनुष्य की वसीयत जैसा कुछ नहीं है क्योंकि प्रकृति और समाज (आवश्यकता) के कुछ निश्चित उद्देश्य कानून हैं जो स्वतंत्र रूप से मानव की इच्छा से मौजूद हैं और किसी व्यक्ति की स्वतंत्र इच्छा इन कानूनों द्वारा प्रतिबंधित है।
- मनुष्य इन उद्देश्य कानूनों की वैज्ञानिक समझ रखने वाली स्वतंत्रता का एहसास कर सकता है। इस प्रकार, वैज्ञानिक ज्ञान स्वतंत्रता की आवश्यक आवश्यकता है।
- वैज्ञानिक समझ के आधार पर, क्रांतिकारी सामाजिक गतिविधि (प्रैक्सिस) होनी चाहिए क्योंकि समाज और प्रकृति को बदले बिना स्वतंत्रता संभव नहीं है।

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

- एक वर्ग विभाजित समाज में संपत्ति के मालिकों की स्वतंत्रता संपत्ति के कम होने पर बनाई गई है। तो ऐसे समाज में स्वतंत्रता का एक वर्ग भविष्य होता है।
- सभी को स्वतंत्रता केवल एक मुफ्त समाज में उपलब्ध हो सकती है जो मनुष्य अपने व्यक्तित्व के मुफ्त विकास के लिए सामाजिक-आर्थिक स्थिति प्राप्त करता है।
- साम्यवादी समाज एक समाजवादी क्रांति द्वारा स्थापित किया जा सकता है और समाजवादी क्रांति के लिए संघर्ष स्वतंत्रता के लिए संघर्ष है।

2.1.7 स्वतंत्रता के विभिन्न आयाम

i) सिविल लिबर्टी: इसमें जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति का संरक्षण शामिल है; घरेलू स्वतंत्रता (निजता का अधिकार); भाषण और समूहबद्ध होने की स्वतंत्रता; धार्मिक स्वतंत्रता; संघ और संघ बनाने की स्वतंत्रता; आंदोलन आदि की स्वतंत्रता। **ii) राजनीतिक स्वतंत्रता:** इसमें निर्णय लेने में भाग लेने का अधिकार और किसी का अपना प्रतिनिधि चुनने का अधिकार शामिल है। मत देने का अधिकार; विधानमंडल और अन्य सार्वजनिक निकायों के लिए चुने जाने का अधिकार; राजनीतिक दलों को संगठित करने का अधिकार, सरकार की आलोचना करने का अधिकार। **iii) आर्थिक स्वतंत्रता:** इसमें काम का अधिकार और आराम और आराम का अधिकार, संपत्ति अर्जित करने, धारण करने और निपटान करने की स्वतंत्रता शामिल है; नस्लीय और राष्ट्रीय स्वतंत्रता।

स्वतंत्रता के लिए सुरक्षा उपाय

लोगों के अधिकारों और स्वतंत्रता की रक्षा के कुछ उपाय–

i) **सरकार का लोकतांत्रिक रूप :** कड़क आदेश और जबरदस्ती रवैया तानाशाही की विशेषता है। दूसरी ओर, लोकतंत्र प्रत्येक नागरिक को अपने चुने हुए प्रतिनिधियों के माध्यम से निर्णय लेने की प्रक्रियाओं में भाग लेने का अधिकार देता है।

ii) **एक लिखित संविधान द्वारा संरक्षित सुरक्षा उपाय :** संविधान का एक उद्देश्य नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करना है। अमेरिकी और भारतीय संविधान द्वारा नागरिकों को कई अधिकारों की गारंटी दी गई है। कुछ कांस्टीट्यूशन न केवल अधिकारों को निर्धारित करते हैं, बल्कि उन्हें लागू करने के लिए साधन भी प्रदान करते हैं।

iii) **शक्तियों का विकेंद्रीकरण :** सरकार की शक्तियों को सीमाओं के अधीन किया जाना चाहिए। लोगों की स्वतंत्रता को संरक्षित करने का एक तरीका सरकार के अलग-अलग निकायों या अंगों के बीच विधायी, कार्यकारी और न्यायिक शक्तियों को विभाजित करना है। इसे 'शक्तियों का पृथक्करण' के रूप में जाना जाता है। शक्तियों को आगे केंद्र सरकार और राज्य सरकारों के बीच विभाजित किया जाना है। ऐसी व्यवस्था संघीय सरकार में पाई जाती है। साथ ही, स्थानीय-स्व-सरकारी संस्थानों को मजबूत करने की आवश्यकता है।

iv) **स्वतंत्र और निष्पक्ष न्यायपालिका :** स्वतंत्र और निष्पक्ष न्यायपालिका आवश्यक है यदि हम अपने लोगों के अधिकारों और स्वतंत्रता की रक्षा करना चाहते हैं। इसके अलावा, न्यायिक प्रक्रियाओं को शीघ्र और सस्ती करने की आवश्यकता है। भारतीय संविधान अनुच्छेद 39-ए के तहत मुफ्त कानूनी सहायता प्रदान करता है, अनुच्छेद 14 कानून के समक्ष समानता प्रदान करता है।

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

v) **कानून का नियम :** कानून का नियम मनमानी शक्तियों की अनुपस्थिति को दर्शाता है। इसका मतलब है कानून का शासन और पुरुषों का नहीं। भूमि का कानून सर्वोच्च है और कोई भी कानून से ऊपर नहीं है, चाहे वह शासक हो या विषय दोनों कानून के अधीन हों, कोई भी कानून से ऊपर नहीं है। आइवर जेनिंग्स के अनुसार, कानून का नियम एक संवैधानिक सरकार को तानाशाही से अलग मानता है या एक पुलिस राज्य।

vi) **समूहों और संघों की स्वायत्तता :** शिक्षा, व्यवसाय, व्यापार, कला, धर्म और विज्ञान के क्षेत्र में विभिन्न समूह और संघ संचालित हैं। संघ सरकार को जनमत की प्रवृत्ति के संपर्क में रखते हैं, ताकि वह अपनी नीतियों को तदनुसार आकार दे सके।

vii) **विपक्ष की भूमिका :** विपक्ष सरकार को अपने पैर की उंगलियों पर रखता है। आलोचना करना विपक्ष का उतना ही कर्तव्य है जितना किसी सरकार का सरकार से लेकर शासन तक का। कोई भी सरकार विपक्ष के दृष्टिकोण को पूरी तरह से अनदेखा नहीं कर सकती है। पार्टियाँ लोगों और सरकार के बीच एक कड़ी प्रदान करती हैं।

viii) **स्वतंत्र मास मीडिया :** सरकार को मास मीडिया, यानी रेडियो, टेलीविजन और समाचार पत्रों पर पूर्ण नियंत्रण नहीं होना चाहिए। जनसंचार माध्यमों की स्वतंत्रता जनसाधारण की स्वतंत्रता को मजबूत करती है।

ix) **समतावाद :** यह सुझाव देता है कि "सभी लोग समान हैं और समान अधिकार, अवसर और विशेषाधिकार हैं"। इस प्रकार एक जाति, धर्म, जाति या लिंग की परवाह किए बिना, सभी को अपनी प्रतिभा विकसित करने के समान अवसर होने चाहिए।

x) **प्रबुद्ध जनता की राय :** एक प्रबुद्ध जनता की राय स्वतंत्रता और विकास की सबसे अच्छी गारंटी है। विभिन्न एजेंसियाँ हैं जो जनता की राय तैयार करती हैं। ऐसी एजेंसियों में समाचार पत्र, साहित्यिक कार्य, पार्टी संघ, स्वैच्छिक संगठन और शिक्षण संस्थान सबसे प्रमुख हैं। जनसंचार माध्यमों द्वारा तथ्यों और समाचारों की प्रेस या जानबूझकर की जाने वाली स्वतंत्रता पर अंकुश लगाने का काम ध्वनि जनमत के मार्ग में बाधा के रूप में किया जाता है। इसलिए नागरिकों को अपनी आँखें खुली रखनी होंगी। सतत सुरक्षा ही स्वतंत्रता का मूल्य है।

2.2 समानता

सामाजिक, आर्थिक, नैतिक व राजनीतिक दर्शन संबंधी मूल संकल्पनाओं में से समानता की अवधारणा सबसे अधिक भ्रामक और विस्मयकारी है क्योंकि यह न्याय, स्वतंत्रता, अधिकार, स्वामित्व आदि सदृश अन्य सभी संकल्पनाओं में प्रभावित होती है। प्राचीन काल से यूनानवासियों, प्राचीन यूनानी दर्शनशास्त्र के अध्येताओं, ईसाई पादरियों द्वारा समानता के अनेक आयामों का विस्तारपूर्वक व्याख्या की गई है, उदारवाद और मार्क्सवाद के उदय के बाद समानता का बिल्कुल नया रूप हमारे सामने आया है। बार्कर के अनुसार, 'समानता एक परिवर्तनशीली धारणा है, प्रत्येक नयी सुविधा के साथ यह अपना पुराना रूप बदल लेती है और एक नया रूप धारण कर लेती है।' समानता अर्थात् बराबरी की धारणा आधुनिक राजनीति एवं राजनीतिक चिंतन का मुख्य विषय प्रतीत होती है। जन्म पर आधारित समाज में पदानुक्रम, सामाजिक स्थिति अथवा अन्य किसी भी पैमाने को प्रकृति प्रदत्त माना जाता है। अब इस विचारधारा में बदलाव देखा गया है, वस्तुतः

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

आधुनिक राजनीतिक सोच इस परिकल्पना से शुरू होती है कि सभी मनुष्य समान है। 18वीं सदी के अंत की दो ऐतिहासिक घटनाओं में एक फ्रांसीसी जिसने मध्यकालीन क्रम-परम्पराओं को चुनौती दी, तथा दूसरी अमेरिकी गृह युद्ध ने जाति-आधारित असमानताओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया। 1931 में लेखन करते हुए आर-एच-टॉनी ने ब्रिटिश समाज में 'असमानता के धर्म' पर अफसोस जाहिर किया। वह इस बात को लेकर परेशान थे कि मात्र समाज में असमानता की विधमानता नहीं थी, बल्कि उसको नैसर्गिक और अपरिहार्य के रूप में स्वीकार किया गया था।

वर्तमान संदर्भ में समानता को मानव जीवन के एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया गया है। साथ में इस बारे में बहुत से विवाद होते हैं कि समानता को कहाँ और कैसे व्यवहार में लाया जाए। एक अन्य विवादास्पद क्षेत्र है समाज में धन-सम्पत्ति व आय के वितरण। समानता के सिद्धान्त का प्रयोग इस संदर्भ में यह उल्लेख करना उपयोगी होगा कि हाल के वर्षों में समतावाद-विरोधी सोच का गंभीर रूप से पुनरुत्थान हुआ है। जिसका तर्क है कि समतावादी उपाय बाजार क्षमता का गला घोंट देते हैं। समतावादियों से तदनुसार अपेक्षा की जाती है कि चुनौतियों के जवाब में अपने तर्कों को सुस्पष्ट करें, समतावादी इस तथ्य को स्पष्टतः सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि वे सम्पूर्ण समानता की माँग नहीं कर रहे है और इस प्रकार, एकरूपता उनकी योजना का हिस्सा बिल्कुल भी नहीं है।

अवसर की समानता एक राजनीतिक आदर्श है जो समाज में सामाजिक स्तरीकरण, जो जाति, लिंग अथवा सामाजिक स्थिति के आधार पर होने वाली असमानता का विरोध करती है, जबकि असमानता का सैद्धान्तिक रूप से विरोध नहीं करता। अवसर की समानता को सही अर्थ में लागू किया जाए तो यहाँ इसका तात्पर्य एक प्रतियोगी प्रक्रिया से है, जिसमें समाज के सभी सदस्य अपनी योग्यता के आधार पर समान प्रतिभागी हो सकते हैं। औपचारिक अवसर की समानता के विचार में इस बात की जरूरत होती है कि पद और स्थिति समाज के प्रत्येक प्रतिभागी के लिए खुली होनी चाहिए। प्रतिभागियों में से केवल उसी का चयन किया जाएगा जो निष्पक्ष प्रतियागिता में विजयी या सफल रहा है। अवसर की समानता का आदर्श इस बात से संबंध रखता है कि समाज में आर्थिक अवसर एवं संस्थाएँ किसी एक समूह विशेषाधिकार से मुक्त हों। अतः अवसर की समानता का अर्थ है कि किसी भी प्रकार की वंशानुगत तथा विशेषाधिकारों की अनुपस्थिति, अर्थात् समाज में लोगों के बीच भेदभाव करने के कोई कृत्रिम आधार नहीं होने चाहिए। जैसे जन्म, जाति, रंग, धर्म, लिंग तथा सामाजिक स्थिति, ताकि समाज में योग्यता को प्रोत्साहन दिया जा सके। इसका तात्पर्य है कि सभी सार्वजनिक पद और स्थिति, जिसे कोई प्राप्त करना चाहता है वह उस पद के लिए योग्य होना चाहिए। अवसर की समानता इस प्रकार की किसी भी व्यवस्था को अस्वीकार करती है, जिसमें कुछ लोगों को उसके वंश या सामाजिक स्थिति के आधार पर ही योग्य मान लिया जाता है।

2.2.1 समानता का अर्थ

राजनीतिक सिद्धान्त की विभिन्न संकल्पनाओं में से समानता भी एक अवधारणा है। समाज के लोगों में परस्पर कई तरह के भिन्नताएँ होने के कारण इसका महत्त्व बढ़ जाता है। आज सभी आधुनिक राजनीतिक संविधान समानता की किसी न किसी धारणा को मौलिक अधिकारों के माध्यम से सुरक्षित करते हैं। समानता को स्पष्ट रूप से परिभाषित करना उतना ही

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

कठिन है जितना कि इसे राजनीतिक रूप से प्राप्त करना। समानता का आशय व्यवहार अथवा पुरस्कार की एकरूपता नहीं होता। जितनी देर तक समाज में लोग आवश्यकताओं और क्षमताओं के दृष्टिकोण से भिन्न है, एकरूपता पर विचार नहीं किया जा सकता है। लास्की के अनुसार, 'यदि एक गणितज्ञ और ईंटें ढोने वाले को समान समझ लिया जाए तो समाज के सारे उद्देश्यों को बंटाधार हो जाएगा।' प्राकृतिक असमानताएँ एक कटू सत्य है जिसे समाज को स्वीकार करनी ही होगी। असमान व्यक्तियों के साथ समान व्यवहार करना उतना ही अन्यायपूर्ण होगा जितना समान लोगों के साथ असमान व्यवहार करना। तथापित व्यक्ति की क्षमाताअें तथा स्वभाव की सभी भिन्नताओं को केवल प्राकृतिक कह कर छोड़ देना वास्तविकता से दूर भागना होगा। प्राकृतिक असमानताओं के साथ-साथ कुछ ऐसी असमानतायें भी होती है जो समाज द्वारा उत्पन्न की जाती है जैसे जन्म, धन, ज्ञान, धर्म आदि के आधार पर असमानतायें। इसके अलावा समानता की माँग हमेशा अपने समय में प्रचलित सामाजिक-आर्थिक असमानताओं के विरुद्ध रही है। 20वीं शताब्दी में हम एक ऐसी सामाजिक और शैक्षणिक व्यवस्था को तोड़ने में लगे हुए है जिसमें व्यक्ति की उन्नति उसकी पारिवारिक पृष्ठभूमि, वंश और भाई-भतीजावाद पर आधारित रही है तथा इसे एक ऐसी व्यस्था से प्रतिस्थापित कर रहे हैं जो योग्यता को एकमात्र मानदंड मानते हैं। हम एक असमानता को समाप्त करते हैं, तो चार असमानायें और खड़ी कर लेते हैं। अन्तर केवल यह है कि जिसे हमने समाप्त किया वह अनुचित थी और जिसे हमने स्वीकार किया वह उचित लगती है।

स्वतंत्रता की भाँति, समानता को भी उसके नकारात्मक व सकारात्मक पहलुओं में समझा जा सकता है। जब से समानता की अवधारणा उत्पन्न हुई है, यह कुछ निश्चित विशेषाधिकारों को समाप्त किए जाने से सम्बंधित था। अतः नकारात्मक रूप से समानता विशेषाधिकारों का अभाव है। सकारात्मक रूप से समानता का अर्थ 'अवसरों की उपस्थिति' है। ताकि प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का समान अवसर मिल सके।

2.2.2 लास्की के अनुसार समानता का अर्थ है

1. विशेष प्राधिकारों का अभाव। इसका अर्थ यह है कि एक व्यक्ति की इच्छा किसी भी दूसरे व्यक्ति की इच्छा के ही समान है। इसका मतलब है अधिकारों की समानता।
2. सभी के लिए समान अवसर उपलब्ध होने चाहिए।
3. सामाजिक लाभों तक सभी की पहुँच होनी चाहिए और किसी को भी किसी भी आधार पर नहीं रोका जाना चाहिए।
4. आर्थिक व सामाजिक शोषण का अंत।

ब्रायन टर्नर ने अपनी पुस्तक इक्वालिटी में समसामयिक विश्व के प्रसंग में समानता का एक सुबोध अर्थ प्रस्तुत किया है। इन्होंने समानता में चार तत्त्वों को शामिल किया है— (क) लोगों की आधारभूत समानता, (ख) अवसर की समानता, (ग) परिस्थितियों की समानता, (घ) परिणामों की समानता।

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

- पहले प्रकार की समानता अर्थात् लोगों की आधारभूत समानता सभी सांस्कृतिक, धार्मिक तथा नैतिक प्रथाओं का भाग है, जैसे ईश्वर की दृष्टि में सभी समान है। यह मनुष्य के रूप में मनुष्य की समानता से संबंधित है।

- दूसरे, अवसर की समानता का अर्थ है कि महत्त्वपूर्ण सामाजिक संस्थाओं तक पहुँच, उपलब्धि और योग्यताओं के आधार पर सभी को सर्वव्यापक स्तर पर सुलभ होनी चाहिए। उदाहरण के लिए शैक्षणिक संस्थाओं में प्रवेश के लिए समान अवसरों की आवश्यकता बहुत महत्त्वपूर्ण है।

- तीसरे, केवल अवसर की समानता ही काफी नहीं है, समानता के साथ परिस्थितियों की समानता भी महत्त्वपूर्ण है। अवसर की समानता हेतु समुचित अवस्था को किसी महत्त्वपूर्ण सहमति तक लाने के लिए परिस्थितियों संबंधित समानता की गारण्टी देना अनिवार्य है।

- चौथे, समानता की सबसे उग्रवादी धारणा है परिणामों की समानता। इसका आशय यह है कि परिस्थितियों की समानता लाने के लिए सामाजिक असमानताओं को इस तरह प्रतिबंधित किया जाए कि वे समानता में बदल जायें। उदाहरण के लिए तर्कसंगत भेदभाव के सामाजिक कार्यक्रमों द्वारा समाज के वंचित वर्गों की परिस्थितियों में इस तरह से परिवर्तन किया जाए कि अवसर की समानता उनके लिए प्रभावकारी रूप धारण कर सके।

इस प्रकार समानता के अभिप्राय को समझने के लिए हमें समानता की विभिन्न धारणाओं पर विचार करना चाहिए। ऐतिहासिक रूप से, जबकि उदारवादी लोकतांत्रिक परम्परा अवसर व परिस्थितियों के विचार की पक्षधर है, परिणाम की समानता प्रतिस्पर्धा द्वारा पैदा की गई असमानताओं के प्रतिकार पर अभिलक्षित समाजवादी नीतियों के घोषणा-पत्र का एक हिस्सा है।

2.2.3 समानता के प्रकार

1. **औपचारिक समानता**

जॉन लॉक मनुष्य की नैसर्गिक समानता पर आधारित समानता संबंधी विचार के सर्वाधिक समर्थक है। कांट ने इस सार्वभौम मानवता के एक निष्कर्ष रूप में सार्वत्रिकता और समानता के बारे में इस विचार को और समर्थन प्रदान किया है। इस प्रकार, औपचारिक समानता का अर्थ है— अपनी सर्वमान्य मानतवा के बल पर सभी व्यक्तियों से समानता का व्यवहार किया जाए। इस विचार की सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है—विधिसंगत समानता अथवा कानून के समक्ष समानता का सिद्धान्त। कानून की नजरों में सभी लोगों से समान रूप से व्यवहार किया जाना चाहिए, फिर चाहे वह किसी भी जाति, वर्ग, लिंग, धर्म, सामाजिक पृष्ठभूमि, इत्यादि से ही क्यों न हों। यह अवधारणा इस तथ्य से इंकार करती है कि जाति, लिंग व सामाजिक पृष्ठभूमि द्वारा डाली गई बाधाएँ इतनी कठिन हो सकती थी कि व्यक्ति उस औपचारिक समानता का लाभ उठाने में भी समर्थ नहीं होता जो कि कानून सभी व्यक्तियों को प्रदान करता है। इस संदर्भ में यह माना जाता है कि यही वो अल्पता थी, जिसके कारण मार्क्स ने निश्चयपूर्वक कहा कि औपचारिक समानता जबकि एक महत्त्वपूर्ण कदम है, वह मानव का उद्धार नहीं कर सकती। आज समतावादी विचारक इस धारणा से दूर चले गए है कि सभी मनुष्यों को समान

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

बनाया गया है और इसी कारण से, उन्हें समान अधिकार मिलने चाहिए, ऐसा इस तथ्य की वजह से है कि अधिकांश मनुष्य महत्त्वपूर्ण पहलुओं में समान नहीं है। इसलिए आज समानता शब्द विवरणकारी के स्थान पर एक व्यवस्थाकारी अर्थ में अधिक प्रयोग होता है उन नीतियों का समर्थन किया जाता है जो मनुष्यों के कुछ वर्णनात्मक विशेष गुणों पर निर्भर न रहते हुए समानता के आदर्श को बढ़ावा देती है।

2. अवसर की समानता

अवसर की समानता का अर्थ है उन सभी अवरोधों को दूर करना जिनके कारण व्यक्तिगत आत्म-विकास में बाधा उत्पन्न होती है। इसका आशय है कि पेशे या व्यवसाय प्रतिभावान व्यक्ति के लिए ही खुले होने चाहिए और विकास व उपलब्धियाँ योग्यता के आधार पर होनी चाहिए। सामाजिक स्थिति, पारिवारिक संबंधों, सामाजिक पृष्ठभूमि व ऐसे ही अन्य कारकों का हस्तक्षेप नहीं होने देना चाहिए। अवसर की समानता की एक विशेष धारणा है कि जो इस बात से संबंधित है जिसका जीवन के आरम्भ बिन्दु के रूप में वर्णन किया जाता है। निहितार्थ यह है कि समानता यह अपेक्षा रखती है कि सभी व्यक्ति एक समतल खेल के मैदान से जीवन शुरू करें। तथापि यह जरूरी नहीं कि इसके परिणाम बिल्कुल भी समतावादी हो। इस प्रकार चूँकि हर व्यक्ति ने समान रूप से शुरुआत की है, असमान परिणाम स्वीकार्य एवं वैध सिद्ध होते हैं। इस असमानता को अलग-अलग नैसर्गिक प्रतिभाओं, कठोर, श्रम-क्षमता अथवा भाग्य के भी शब्दों में स्पष्ट किया जाएगा। इस तरह से बनी अवसर की समानता एक ऐसी व्यवस्था में प्रतिस्पर्धा करने का समान अवसर प्रदान करती है जो कि क्रम परम्परागत रही है। अगर ऐसा है तो यह संभवतः कोई समतावादी सिद्धांत प्रतीत नहीं होता। अवसर की समानता, इस प्रकार एक असमतावादी समाज की ओर इशारा करती है, यद्यपि वह योग्यता के उच्च आदर्श पर आधारित है। तर्क यह है कि वे भिन्नताएँ जो प्रतिभाओं, कौशलों, कठोर श्रम इत्यादि जैसे विभिन्न प्राकृतिक गुणों के आधार पर प्रकट होती है, नैतिक रूप से समर्थनीय है। वे भिन्नताएँ जो परम्पराओं अथवा गरीबी, आश्रयहीनता जैसे सामाजिक रूप से बने भेदों से पैदा होती है समर्थनीय नहीं है। हालाँकि सत्य यह है कि यह एक विशिष्ट सामाजिक पक्षपात है जो समाज में भेदों को स्पष्ट करने के लिए सुन्दरता अथवा बुद्धिमता जैसी किसी प्राकृतिक भिन्नता को एक प्रसांगिक आधार बना देती है। इसके अनुसार हम कह सकते हैं कि प्रकृति व परम्परा के बीच भेद इतना सुस्पष्ट नहीं है जैसा कि समतावादी बताते हैं।

अवसर की समानता को कुशल व्यक्तियों के लिए पेशे या व्यवसाय खुले रखना, निष्पक्ष समान अवसर उपलब्ध कराना और सरकारी भेदभाव सिद्धांत विषयक अनेक विषमताओं को स्वीकृति के माध्यम से संस्थापित किया जाता है। ये सब इस प्रकार कार्य करते हैं कि समानता की व्यवस्था तर्कसंगत और स्वीकार्य लगे। इस बात में कोई शक नहीं है कि इस प्रकार की व्यवस्था ऐसे लोगों को जन्म देगी जो सिर्फ अपनी प्रतिभाओं एवं वैयक्तिक सहजगुणों पर ध्यान देंगे। अवसर की समानता के साथ एक और समस्या यह है कि वह एक पीढ़ी व दूसरी पीढ़ी की सफलताओं व विफलताओं के बीच एक बनावटी नियोजन पैदा करने का प्रयास करती है।

© DDCE,COL,SOL,University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

समानता विषयक उदारवादी विचार अवसर की समानता पर आधारित है। यह समानता संबंधी किसी भी यथेष्ट धारणा के विरुद्ध है क्योंकि, ये वे अवसर है जो असमान परिणामाओं की ओर ले जाते हैं। यह सिद्धान्त, इस प्रकार परिणामों से असम्बद्ध है और सिर्फ प्रक्रिया में रुचि रखता है। यह पूरी तरह से इस उदारवादी विचार को कायम रखने के साथ है कि व्यक्तिगत समाज की बुनियादी इकाई है और समाज को अवश्य ही उनके लिए यह संभावनाएँ बनानी होंगी कि वे अपने निजी हितों को सिद्ध कर पाएँ। इसका अर्थ यह हुआ कि क्या समतावादी लोगों अवसर की समानता को अनदेखा करेंगे? इसका उत्तर स्पष्ट है– नहीं। तथापि वे अवसर की समानता संबंधी एक अधिक व्यापक परिभाषा को लेकर चलेंगे, जो कि हर किसी को एक संतोषजनक एवं पालन योग्य तरीके से अपनी क्षमताओं को विकसित करने के साधन मुहैया करायेगी।

एक समतावादी समाज कुछ लोगों को अपनी क्षमताएँ विकसित करने हेतु वास्तविक अवसर प्रदान देने से इंकार नहीं करेगा। इस अवसर का निष्कपट समतावादी प्रयोग एक सार्थक जीवन की ओर प्रवृत्त करेगा।

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

3. **परिणामों की समानता**

समानता के परिणामों पर नजर डालने के लिए जीवन के आरंभ-बिंदु से आगे चलकर समानता के संबंधी, धारणा एक और अभिव्यक्ति परिणामों की समानता के शब्दों में होगी। मार्क्स उदाहरण के लिए, यह विचार देते हैं कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था से घिरा समानता के लिए कोई भी अधिकार पक्षपाती के सिवा कुछ और नहीं हो सकता। तदनुसार, उसने संपूर्ण सामाजिक समानता के लिए, जो कि तभी संभव है यदि अन्य सभी समानताओं से निजी संपत्ति को समाप्त कर दिया जाए, तर्क दिया कि जब तक समानता अपर्याप्त रहेगी जब तक कि परिणाम की समानता सुनिश्चित नहीं हो जाती। परिणाम संबंधी समानता के आलोचक यह पक्ष रखते हैं कि इस प्रकार का काम निष्क्रियता, अन्याय और बुरी से बुरी नादिरशाही का रास्ता दिखलायेगी। हेयक ने लिखा है कि ''लोग चूँकि बहुत भिन्न होते हैं, उनकी अभिलाषाएँ व लक्ष्य भिन्न होते हैं तथा कोई भी व्यवस्था जो उनसे समान रूप से व्यवहार करती है, वस्तुतः असमानता में परिणत होती है।'' समानता के लिए यह तर्क दिया जाता है कि यह व्यक्तिक स्वतंत्रता की कीमत पर होती है। समाजवादी, समतावादी उपायों का लागू किया जाना, यह तर्क देता है कि व्यक्ति की गरिमा और आत्म-सम्मान को गुप्त रूप से क्षति पहुँचाता है और ऐसे उपायों के साथ चलने वाला सहज पैतृकवाद व्यक्ति की एक विवेकपूर्ण पसंदकर्त्ता बनने संबंधी योग्यता को अस्वीकार करता है।

मार्क्सवादी-लेनिनवादी दर्शन में समानता की परिभाषा है, वर्गों की समाप्ति और सभी के लिए समान सामाजिक स्थिति। उदारवादी सिद्धांत हर व्यक्ति के सम्पत्ति रखने के अधिकार से शुरू होता है, परन्तु मुख्य तर्क यह है कि उत्पादन के साधनों पर ध्यान नहीं दिया जाता है। मार्क्सवाद इस आधारवाक्य से शुरू होता है कि चाहे यह आर्थिक समानता हो यानी भौतिक समृद्धि के उत्पादन वितरण व उपभोग के क्षेत्र में, राजनीतिक समानता हो (वर्गों), राष्ट्रीय या अन्तराष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में अथवा सांस्कृतिक समानता यानी सांस्कृतिक मूल्यों के उत्पादन, विवरण व उपभोग क्षेत्र में, सभी शोषण वर्गों के उत्पादन व समापन साधनों के नीति स्वामित्व की समाप्ति के बगैर असम्भव है। जैसा कि मार्क्स कहते हैं, 'हम वर्गोन्मूलन चाहते हैं और इस अर्थ में हम सम्पन्न है।

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

इसी प्रकार एजेल्स ने लिखा कि समानता हेतु माँग या तो सामाजिक असमानताओं के खिलाफ है, अमीर व गरीब, सामंती शासकों व कृषिदासों, दासों व स्वामियों के बीच अनुबंधों के खिलाफ स्वयं जाति प्रतिक्रिया रही है, अथवा माँग समानता एवं एक आंदोलनकारी साधन के रूप में उठी है ताकि कामगार मध्यवर्गीय माँग के खिलाफ एक प्रतिक्रिया के रूप में उठी है, ताकि वर्ग को हानि पहुँचाने के लिए भी काम करना चाहिए जिनके अनुसार न तो लोकतंत्र होगा, न ही अधिकार। ऐसा इसलिए है क्योंकि इस प्रकार के वर्ग पूरी तरह समाप्त नहीं होंगे।

2.2.4 समानता के विभिन्न आयाम

समानता के सिद्धान्त को सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रें में लागू किया जा सकता है। इसी कारण हम समानता के कानूनी, राजनीतिक और सामाजिक-आर्थिक आयामों की व्याख्या करते हैं। वास्तव में ये सभी आयाम एक-दूसरे के साथ निकट रूप से जुड़े है।

1. कानूनी समानता

परम्परागत उदारवाद, जब तक यह सामंतवादी और धार्मिक विशेषाधिकारों के विरुद्ध संघर्ष कर रहा था, का विचार था कि अवसरों की समानता का अभिप्राय है जीवन, स्वतंत्रता तथा संपत्ति के मौलिक अधिकारों की प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान सुरक्षा। अन्य शब्दों में, यदि विशेषाधिकारों को कानून द्वारा समाप्त कर दिया जाता है तथा अधिकारों को समान कानूनी संरक्षण दे दिया जाता है तो व्यक्ति के विकास में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं रहेगी। इस संदर्भ में कानूनी समानता का अर्थ दोहरा था–(क) कानून का शासन, (ख) कानून की समानता।

कानून के शासन का अर्थ था कि शासन और आज्ञा पालन के संदर्भ में कानून सर्वोपरि है, अर्थात् व्यक्ति चाहे कितना भी बड़ा हो, वह स्वयं को कानून से ऊपर घोषित नहीं कर सकता क्योंकि इसका अर्थ होगा मनमाना शासन। कानून की समानता का अर्थ है कानून समाज के प्रत्येक नागरिक की स्वतंत्रता और समानता की गारंटी देता है। इसे दो अर्थों में समझा जाता है–

- कानून के समक्ष समानता
- कानून का समान संरक्षण
- कानून के समक्ष समानता – इसका सरल भाषा में यह अर्थ है कि समाज में सभी व्यक्ति, समूह, वर्ग, संस्थायें आदि राज्य के सामान्य कानून के अधीन होंगे तथा न्यायालय केवल राज्य द्वारा स्थापित कानून को मान्यता देगा। इसका अर्थ यह भी है कि समान लोगों के लिए कानून समान होगा, तथा समान रूप से कार्यान्वित किया जायेगा। दूसरे शब्दों में, कानून अमीर-गरीब, जमींदार और किसान, पूंजीपति और मजदूर में कोई भेदभाव नहीं करेगा।
- कानून का समान संरक्षण – इसका अर्थ है कि असमान परिस्थितियों में कानूनी दृष्टिकोण से कुछ तर्कसंगत

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

भेदभाव किये जा सकते हैं। कानून के समक्ष समानता का अर्थ निरंकुश समानता नहीं होता। इसका अर्थ है, समान लोगों के लिए समान कानून और असमान लोगों के लिए असमान कानून। (अनुच्छेद-14, भारतीय संविधान) जन्म, जाति, धर्म आदि के आधार पर किसी भी तरह के भेदभाव अस्वीकार करने के बावजूद भारतीय संविधान कुछ तर्कसंगत भेदभाव करता है जैसे निम्न जातियों और उपजातियों के लिए नौकरियों में आरक्षण, औरतों के लिए बसों में आरक्षित सीटें व मुफ्रत यात्र, विद्यार्थियों अथवा बुजुर्ग नागरिकों को रेल किराये में रियात आदि। इन भेदभावों का आधार पिछड़ापन, लिंग, आयु, अयोग्यता आदि कुछ भी हो सकता है। ऐसी परिस्थिति में राज्य कानून की सुरक्षा असमानता के आधार पर करता है न कि समानता के आधार पर। लूकाज के अनुसार कानून के समक्ष समानता का अर्थ यह जरूरी नहीं होता कि कानून सबके साथ समान व्यवहार करेगा परंतु यह निश्चित करना होता है कि सबकी पहुँच में होगा। अर्थात् कोई व्यक्ति इतना छोटा नहीं होगा कि वह कानून की शरण लेने के योग्य न हो और न ही कोई इतना बड़ा हो कि वह कानून के प्रति उत्तरदायी न हो। इसका अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति न्यायालय की सहायता ले सकता है, प्रत्येक व्यक्ति इसकी आज्ञाओं से बंधा हुआ है और न्यायालय भी अपने फैसले पक्षपात रहित ढंग से करेंगे। कानून के समक्ष समानता का अर्थ है कानून की अधीतना तथा कानून का समान संरक्षण।

2. राजनीतिक समानता

राजनीतिक समानता का अर्थ नागरिकों के राजनीतिक अधिकारों की समानता से लिया जाता है। इसका अभिप्राय है निर्णयन संस्थाओं में समानता के आधार पर प्रतिनिधित्व का अधिकार अर्थात्, 'एक व्यक्ति, एक वोट' के नियम का पालन। इसमें यह विचार भी निहित है कि िकसी व्यक्ति को जन्म, लिंग या धर्म के आधार पर राजनीतिक पद प्राप्त करने से नहीं रोका जाएगा। राजनीतिक समानता का सिद्धान्त इस विश्वास पर टिका है कि मनुष्य स्वयं एक विवेकशील प्राणी है और वह राजनीतिक सूझ-बूझ रखता है, चाहे भिन्न-भिन्न मनुष्यों के बाहुबल, बुद्धि, बल, शिक्षा या संपदा में कितना ही अंतर क्यों न हो। डी-डी- रफील ने प्रॉब्लम्स ऑफ पोलिटिकल फिलॉसफ़ी के अन्तर्गत लिखा है कि फ्रांसीसी क्रांतिकारी समानता की माँग करते समय उस तर्कशून्य विशेषाधिकार की समाप्ति की माँग कर रहे थे जिसके अन्तर्गत राजनीतिक अधिकार धनवान और कुलीन वर्ग तक सीमित थे। उदारवादी सिद्धान्त की विकसित अवस्था में राजनीतिक समानता को जनसाधारण के लोकतंत्रीय अधिकारों के रूप में पहचाना जाने लगा, जैसे कि सार्वभौतिक मताधिकार, बिना भय या पक्षपात के कोई भी राजनीतिक मत रखने और उसे व्यक्त करने की समान स्वतंत्रता और राजनीतिक निर्णयों को प्रभावित करने के लिए संघ बनाने का समान अधिकार। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक अलेक्सी, द टाकवील ने 'डेमोकेसी इन अमेरिका' के अन्तर्गत लिखा कि राजनीतिक समानता और आर्थिक विषमता में जो विसंगति पाई जाती है, उसे लोकतांत्रीय समाज अनिश्तिकाल तक स्वीकार नहीं करेंगे। इस तरह टाकवील ने अपने चिंतन में समाजवादी सिद्धांत के विकास का पूर्वसंकेत दे दिया जिसका मुख्य सरोकार सामाजिक-आर्थिक समानता की समस्या से था।

3. सामाजिक-आर्थिक समानता

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

सामजिक-आर्थिक समानता के विचार में समानता के सामाजिक और आर्थिक पक्ष एक-दूसरे के साथ गुंथे हुए है क्योंकि इन दोनों में निकट संबंध पाया जाता है। देखा जाए तो कानून व राजनीतिक समानता अपने मूल रूप में औपचारिक समानता की सूचक रही है जिसे 'भेदभाव के अभाव' के रूप में व्यक्त कर सकते हैं, परन्तु सामाजिक और आर्थिक समानता तात्विक समानता की माँग करती है जो सामाजिक परिवर्तन की प्रेरणा-शक्ति है। सामाजिक-आर्थिक समानता का विचार समाजवादी के लक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। यह एक प्रगतिशील विचार था जिसे आगे चलकर सकारात्मक उदारवादी सिद्धांत ने अपना लिया। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि सामाजिक-आर्थिक समानता की माँग कामगार वर्ग के अधिकारों पर बल देने के लिए उठाई गई। सामाजिक-आर्थिक समानता के समर्थकों ने यह तर्क दिया कि कानूनी राजनीतिक समानता से केवल संपत्तिशाली वर्ग को लाभ हुआ है। सर्वसाधारण को अन्याय से मुक्ति दिलाने के लिए सामाजिक-आर्थिक समानता की स्थापना जरूरी है। सामाजिक-आर्थिक समानता केवल उन विषमताओं में कटौती की माँग करती है जो सामाजिक अन्याय को जन्म देती है। उदाहरण के लिए कानूनी-राजनीतिक समानता का अर्थ लगाया जाता है कि शिक्षा, रोजगार, यात्र, मनोरंजन इत्यादि के दरवाजे बिना किसी भेदभाव के सब लोगों के लिए खुले होंगे। परंतु इससे यह निश्चित नहीं होता कि इनका लाभ उठाने के अवसर समाज के सभी वर्गों के लिए सुलभ होंगे। सामाजिक-आर्थिक समानता यह माँग करती है कि जीवन को सुखमय, सम्मानपूर्ण और उन्नत बनाने के साधन निर्धन और वंचित वर्गों को भी सुलभ कराए जाएं, उनकी विवशता उनके शोषण का कारण न बन जाए।

सामाजिक-आर्थिक समानता के विचार ने आधुनिक राज्य को कल्याणकारी राज्य में परिणत कर दिया है। कल्याणकारी राज्य धनवान वर्गों पर भारी कर लगाकर उनसे ऐसी सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था करता है जिनका लाभ मुख्यतः निर्धन वर्गों को प्राप्त हो सके। राज्य की ओर से जनसाधारण के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, विश्राम-स्थलों तथा सस्ते परिवहन, अनाज, ईंधन इत्यादि की व्यवस्था सामाजिक-आर्थिक समानता की दशा में कुछ प्रयत्न है। संक्षेप में सामाजिक-आर्थिक समानता बाजार अर्थव्यवस्था से पैदा होने वाले असंतुलन को सुधारने का साधन है।

राजनीतिक दर्शन में समतावाद को चिन्तन की एक प्रवृति के रूप में मानते हैं। समतावादी किसी न किसी प्रकार की समानता की बात करते हैं जैसे लोगों को समान वस्तुएँ मिलनी चाहिए, उनके साथ समानता का व्यवहार किया जाना चाहिए आदि। इगैलीटेरियनिजम शब्द फ्रैंच भाषा के 'इगल' शब्द से लिया गया है, जिसका अर्थ होता है समान। एक राजनीतिक सिद्धांत के रूप में इनका मानना है कि सभी लोगों के साथ समान व्यवहार किया जाना चाहिए तथा सभी लोगों को समान राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा नागरिक अधिकार प्राप्त होने चाहिए। कानूनी और सामाजिक समानता के साथ-साथ, समतावाद एक नैतिक सिद्धांत भी है जिसका दावा है कि विभिन्न समुदायों में भी विभिन्न प्रकार की समानता उपलब्ध होनी चाहिए। समतावादी सिद्धांत इस विचार का समर्थक है कि मौलिक गुणों एवम् नैतिक परिस्थिति के दृष्टिकोण से सभी लोग मानव होने के नाते समान हैं।

आधुनिक प्रजातान्त्रिक राज्यों में 'समतावाद' का अर्थ एक ऐसी परिस्थिति से भी लिया जाता है जो विभिन्न कारणों के आधार पर समाज के विभिन्न लोगों में आय एवम् धन के वृहतर मात्र में समान वितरण का समर्थन करते हैं। समतावाद के

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

सामान्य अर्थ हैं– आर्थिक अथवा भौतिक समतावाद, नैतिक समतावाद, कानूनी समतावाद, प्रजातान्त्रिक समतावाद, राजनीतिक समतावाद तथा अवसर समतावाद। विभिन्न प्रकार की समतावादी धारणायें कई बार विरोधाभासी भी हो सकती है। टेमकिन के अनुसार समतावादी प्रत्येक वह व्यक्ति है जो समानता के किसी न किसी रूप को मान्यता देता है। समतावादियों की यह दृढ़ धारणा है कि कुछ लोगों के लिए बिना उनकी कोई गलती के दूसरों से श्रेष्ठ होना अनैतिक तथा अन्यायपूर्ण है। सामान्यतः आधुनिक समतावादी प्रयत्नों का केन्द्रबिन्दु अच्छे जीवन के उद्देश्य हेतु समानता प्राप्त करना है और 'समानता किसकी' की चर्चा के अन्तर्गत भिन्न व्याख्या करता है।

2.2.5 समतावाद के स्वरूप

- तात्विक समतावाद समतावाद का तात्त्विक दृष्टिकोण समानता को एक अन्तर्भूत अच्छाई मानता है। इनके अनुसार यह मूलतः गलत है कि कुछ लोग बिना किसी गलती के दूसरों से श्रेष्ठ हैं। तात्त्विक समतावादी उन परिस्थितियों में भी समानता का समर्थन करते हैं जहाँ समानता लाने से प्रभावित पक्षों को किसी प्रकार का लाभ नहीं होने वाला होता है। परन्तु किसी भी वस्तु का तात्त्विक मूल्य तभी न्यायोचित हो सकता है जब यह कम से कम कुछ लोगों के लिए तो लाभकारी हो तथा उनके जीवन को बेहतर बनाये। तात्त्विक समतावादियों के अनुसार यह एक स्वीकार्य दृष्टिकोण होना चाहिए, अर्थात् असमानता केवल तभी समाप्त हो सकती है यदि ऐसे लोगों को उनके स्त्रेतों तथा संसाधनों से वंचित कर दे जो अपेक्षाकृत समृद्ध है और उन्हें उसी स्तर पर लाया जाये जिस पर अन्य गरीब लोग हैं। तथापि आलोचकों का मानना है कि कुछ व्यक्तियों के संसाधनों को कम करके समानता लाना असमानता को कम करने का कोई बहुत अच्छा विकल्प नहीं है। बहुलवादी समतावादी केवल समानता को ही अपना अनन्य उद्देश्य नहीं मानते वे अन्य मूल्यों एवं सिद्धांतों को भी महत्त्व देते हैं जैसे कल्याण का सिद्धांत। बहुलवादी समतावादी समानता व कल्याण में से कल्याण को अधिक वरियता देते हैं। अन्य शब्दों में, समाज में सभी लोगों के जीवन को गुणात्मक दृष्टिकोण से बेहतर बनाने के लिए समानता में थोड़ी कमी भी स्वीकार करने के लिए तैयार है।

- यांत्रिक समतावाद समतावाद का यांत्रिक दृष्टिकोण समानता को एक साधन (यंत्र) के रूप में मानते हैं। इनके अनुसार समानता का अर्थ तभी सार्थक होगा जब इसे कुछ अन्य आदर्शों की प्राप्ति के साथ जोड़ा जाये जैसे सर्वव्यापी स्वतंत्रता, मानवीय श्रमताओं का विकास, दुःखों में कमी अधिपत्य तथा लाच्छनों की समाप्ति आदि। वे लोग जो समाज में बद्तर जिन्दगी जी रहे हैं, उनके लिए असमान परिस्थितियों का अर्थ होता है कई प्रकार की हानियाँ व बुराईयाँ। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि असमानता अपने आप में एक बुराई है। यांत्रिक समतावादी तर्क देते हैं कि समानता प्राप्ति की हमारे आदर्श की पृष्ठभूमि में समानता के अतिरिक्त कुछ अन्य मौलिक नैतिक आदर्श होते हैं। जब हम इन आधारों पर असमानता का विरोध करते हैं तब हम समानता को एक साधन मानते हैं।

2.2.6 समतावाद पर बड़ा प्रश्न समानता किसकी?

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

यदि समतावाद समानता लाना चाहता है तो सबसे पहले यह प्रश्न उठता है कि 'समानता किसकी'। इस संदर्भ में समतावादी कल्याण की समानता, संसाधनों की समानता तथा सामाजिक वस्तुओं की समानता की बात करते हैं। इसी संदर्भ में अमृत्य सेन का पक्ष भी महत्त्वपूर्ण है जिसे क्षमताओं की समानता के रूप में देखते हैं।

- कल्याण की समानता कल्याण की समानता के समर्थक न्याय का केन्द्रीय मानदण्ड कल्याण के स्तर में समानता को मानते हैं। समतावादी विचारक समाज में कल्याण की दिशा में सभी प्रकार की असमानताओं के प्रत्येक कारण को समाप्त करने के पक्ष में नहीं हैं। कल्याण का समतावादी दृष्टिकोण एक सीमित क्षेत्र तक सीमित है। जैसे समाज के सभी लोगों की मूल आवश्यकताओं की सन्तुष्टि से समाज के सभी लोग मौलिक कल्याण के समान स्तर तक आ जायेंगे।

- संसाधनों की समानता समानता के संसाधनों के समर्थक डोरकिन हैं, इनका मानना है कि संसाधनों का असमान वितरण तभी उचित माना जा सकता है जब उन्हीं के निर्णयों तथा नियतों का परिणाम होते हैं जो इनसे प्रभावित होते हैं। इस संदर्भ में डोरकिन एक काल्पनिक नीलामी की बात करता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति समान अदायगी के साधनों के माध्यम से संसाधनों का बन्डल इकट्ठा कर सकता है ताकि कोई भी व्यक्ति दूसरे के बन्डल से ईर्ष्या न करे। किसी भी व्यक्ति के जीवन में आवंटित किये जाने वाले संसाधनों के महत्त्व को इस बात से परिभाषित किया जायेगा कि उन संसाधनों की अन्य लोगों के बीच मुक्त बाजार में कितनी मांग है। इस प्रकार उसका वितरण व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षा पर निर्भर करेगा। इस वितरण से यदी कोई असमानता उत्पन्न होती है तो वह उचित होगी क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इस 'खुली लाटरी' की व्यक्तिगत जिम्मेदारी तो लेनी ही होगी। डोरकिन के अनुसार, प्राकृतिक लाटरी को संतुलित करने का यही एक तरीका है ताकि इस प्रकार के पुनः वितरण द्वारा योग्य 'लोगों की दासता' से मुक्ति पाई जा सके।

- सामाजिक वस्तुओं की समानता सामाजिक वस्तुओं की समानता के अनुसार समाज में प्रत्येक व्यक्ति का उन पदार्थों पर लगभग समान स्तर होना चाहिए जिसे रॉल्स 'मूल सामाजिक पदार्थ' का नाम देते हैं। इसका अभिप्राय है: आय तथा धन की समानता, स्वास्थ्य देखभाल तथा शैक्षिक साधनों तक समान पहुँच। इस सिद्धांत की लाभ तथा हानियाँ समान कल्याण के सम्मानार्थ है। हम कह सकते हैं कि कल्याण की समानता व्यक्तिगत विषमताओं के प्रति अच्छी संवेदनशील है जबकि पदार्थों की समानता अत्यधिक असंवेदनशील है।

- अमृत्य सेन का पक्ष क्षमताओं की समानता इस दृष्टिकोण की मांग है कि समाज में संसाधनों का वितरण 'क्रियाशीलता प्राप्त करने के लिए क्षमताओं' के इर्द-गिर्द होना चाहिए। व्यक्तिगत कल्याण के मूल्यांकन को व्यक्ति के जीवन के लिए आवश्यक भिन्न अनमोल परिस्थितियाँ तथा क्रियाशीलताएँ प्राप्त करने तथा संरक्षित रखने की क्षमता के साथ जोड़कर देखा जाना चाहिए जैसे पर्याप्त पोषण, अच्छा स्वास्थ्य आदि। क्षमताओं का अर्थ क्षमताओं की समानता का वह मानदण्ड है जिसका लोग अपने जीवन में आनन्द उठाते हैं। लेकिन इस दृष्टिकोण के साथ क्षमताओं को मापने की अपनी एक समस्या है।

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

भेदमूलक व्यवहार

समानता लाने का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त भेदमूलक व्यवहार है। इसका अर्थ है कि समाज इस प्रकार के प्रबंध करे जिसके माध्यम से कुछ लोगों को अन्य से अधिक शक्ति, आय तथा आदर मिले, उदाहरण के लिए प्रबन्धकों, इंजीनियरों, विशेषज्ञों को निम्नस्तर पर कार्य करने वाले कर्मचारियों से अधिक वेतन मिले। लेकिन इसके साथ दो शर्तें जोड़ी गई हैं। पहली, किए गए प्रबंध उन लोगों के जीवन को भी ऊपर उठाए जो अभी निम्न स्तर पर है। दूसरा, समाज के विशेषाधिकारी पदों तक पहुँच को कुछ असंगत मानदण्डों पर आधारित भेदभावों द्वारा प्रतिबंधित न किया जाये।

इस सिद्धान्त के संदर्भ में जॉन रॉल्स के भेदमूलक सिद्धांत की व्याख्या करना अनिवार्य है। इन्होंने अपनी पुस्तक में 'अज्ञानता के पर्दे' का सिद्धान्त दिया है जिसके आधार पर हम भेदमूलक सिद्धान्त को समझने का प्रयास करेंगे। रॉल्स के अनुसार सामाजिक तथा आर्थिक असमानताओं को इस प्रकार प्रबंधित किया जाये कि वे पदों तथा स्थितियों के साथ जुड़ी हो जो अवसर की उचित समानता की शर्तों पर सभी के लिए खुली हों, तथा समाज के निम्नतम व्यक्तियों को अधिकतम लाभ पहुँचाये। रॉल्स के अनुसार, मूल पदार्थों के संदर्भ में सभी व्यक्तियों की प्रारम्भिक अपेक्षाएँ समान होनी चाहिए। इन मूल पदार्थों से रॉल्स का अर्थ है सामान्य आवश्यकताओं वाले पदार्थों जैसे अधिकार, स्वतंत्रतायें, शक्ति एवं अवसर, आय, धन आदि। प्रारम्भिक वितरण में सभी लोगों को इन प्राथमिक वस्तुओं का समान हिस्सा मिलना चाहिए। इसके बाद लोगों के अपने व्यक्तिगत आर्थिक निणर्यों एवं कार्यों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली भिन्नता को नहीं रोका जा सकता है। एक बार समानता के महत्त्व को पूरा करने के बाद असमानताओं को न्यायोचित ठहराया जा सकता है, यदि वे निम्न दो शर्तों को पूरा करें। पहली, वे पदों व स्थितियों में उचित अवसर की समानता को सुनिश्चित करें तथा दूसरी, वे 'भेदमूलक सिद्धांत' को परिलक्षित करें अर्थात् समाज के निम्नतम लोगों को अधिकतम लाभ मिल सके। भेदमूलक सिद्धांत वस्तुओं के वितरण में असमानताओं को इस आधार पर आज्ञा देता है कि ये असमानतायें समाज के निम्नतम वर्ग का भला करे। भेदमूलक सिद्धांत की एक अन्य प्रेरणा मूल स्थिति की धारणा की स्थापना से पैदा होने वाले खतरे को कम से कम करना है। अज्ञानता के पर्दे के अन्तर्गत, सभी प्रतिनिधित्व के लिए हिनतम स्थिति पर विचार करना आवश्यक है, जहाँ इन 'अज्ञानता के पर्दे' के उठने के बाद उन्हें पता चलेगा कि वे समाज के निम्नतर स्तर पर है। रॉल्स के अनुसार यदि इस सम्भावना पर विचार किया जाये तो सभी प्रतिनिधि यह आश्वस्त करने के लिए चिन्तित होंगे कि समाज के निम्नतम लोगों को उत्तम सम्भव अवसर दिये जायें।

2.2.7 समानता का स्वतंत्रता से संबंध

समानता व स्वतंत्रता के बीच संबंध उदारवाद के दिलचस्प विवादों में से एक है। विवाद की जड़ है क्या स्वतंत्रता व समानता एक-दूसरे की विरोधी है अथवा वे एक-दूसरे की पूरक है? ऐतिहासिक रूप से कहा जाए तो आरंभिक नकारात्मक उदारवाद समानता की बजाय स्वतंत्रता को प्राथमिकता देता था। वह राज्य के मुख्य कार्य के रूप में 'प्रतिबंधों के अभाव' में अर्थ में स्वतंत्रता की रक्षा की बात करता था और 'कानून के सामने समानता' से परे समानता में किसी भी छूट को राज्य के समुचित कार्य-क्षेत्र से बाहर माना जाता था। 20वीं शताब्दी में विकसित सकारात्मक उदारवाद इससे विपरीत दृष्टिकोण

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

अपनाता है। वह समानता को स्वतंत्रता के लिए एक उत्तम व आधारभूत विषय-वस्तु मानता है। वह स्वतंत्रता व समानता दोनों की प्राप्ति को एक-दूसरे की पूरक मानता है।

समानता व स्वतंत्रता परस्पर विरोधी रूप में

आरंभिक उदारवाद का मानना रहा है कि स्वतंत्रता व समानता एक-दूसरे के विरोधी विचारधारा है। आरंभिक उदारवाद का विश्वास था कि स्वतंत्रता नैसर्गिक है और समानता भी ऐसी ही है। इसलिए स्वभावतः स्वतंत्रता व समानता एक-दूसरे की विरोधी है।

लॉक, एडम स्मिथ, बैन्थम, जेम्स मिल तथा टाकविल जैसे आरंभिक विचारक यह महसूस करते थे कि व्यक्ति की स्वतंत्रता पर न्यूनतम प्रतिबंध होने चाहिए। लॉक ने तो समानता को तीन प्राकृतिक अधिकारों की सूची में नहीं रखा है। इस युग में उदारवाद मुक्त बाजार खुली होड़ की संकल्पना पर आधारित था और उसका विश्वास था कि आर्थिक प्रतिस्पर्धा, यद्यपि असमान का परिणाम उपकारी और प्रगतिशील होगा। राजनीतिक स्तर पर वह दावा किया जाता है कि स्वतंत्रता व समानता के बीच एक आवश्यक विरोध है। ठीक जैसे स्वतंत्रता व्यक्ति से जुड़ी है, समानता, सामाजिक हस्तक्षेप से जुड़ी है। इस प्रकार, असमानता दूर करने के किसी भी प्रयास में परिस्थितियाँ समान करने व विद्यमान विशेषाधिकारों को समाप्त करने हेतु सामाजिक व राजनीतिक हस्तक्षेप निहित होता है। तथापि, इस हस्तक्षेप को व्यक्ति व स्वतंत्रता संबंधी उसके निजी व्यवहार में जरूर दखलंदाजी करनी चाहिए। लोकतंत्र के अभिजात-सिद्धांत समर्थक यह मानते हैं कि लोग राजनीतिक रूप से समान है और लोकतंत्र व स्वतंत्रता को एकतंत्र से बचाने के लिए, यह अनिवार्य है कि केवल अभिजात वर्गों को ही राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेना चाहिए। दूसरे शब्दों में, राजनीतिक स्वतंत्रता कायम रखने के लिए असमानता स्वतंत्रता का आधार है न की समानता। संक्षिप्त स्वतंत्रता व समानता असंगत है, उदारवाद का अर्थ है स्वतंत्रता, समानता सिर्फ कानून के सामने वांछनीय है, राजनीतिक समानता मताधिकार व अभिजात्यों के चुनाव तक ही सीमित होनी चाहिए, सामाजिक व आर्थिक समानता जहाँ तक कि वह राज्य की शक्तियों में इजाफा करती है स्वतंत्रता पर एक ख़तरा है।

समानता व स्वतंत्रता परस्पर पूरक के रूप में

19वीं शताब्दी के अंत में समाजवादी तथा सकारात्मक उदारवादी लेखकों द्वारा उठायी गई आर्थिक-सामाजिक समानता की माँग ने समानता को स्वतंत्रता की मौलिक शर्त माना है। सकारात्मक उदारवाद का विचार था कि व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। वह अपनी आवश्यकताएँ तथा इच्छाएँ केवल सामाजिक संदर्भ तथा एक दूसरे के सहयोग से ही पूरी कर सकता है। इन्होंने स्वतंत्रता को 'अवसरों की समानता' के रूप में देखा और यह माना कि समानता प्राप्त करने के लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता को सामिजक सीमाओं के अन्तर्गत रखना जरूरी है। बिना आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के स्वतंत्रता प्राप्त नहीं हो सकती। आर्थिक दृष्टिकोण से असमान समाज में स्वतंत्रता कुछ लोगों का विशेषाधिकार बनकर रह जाती है। टॉनी के अनुसार व्यापक स्तर पर समानता, स्वतंत्रता की शत्रु होने के बजाय इसकी आवश्यक शर्त है। जहाँ अमीर और गरीब होंगे, शिक्षित और अशिक्षित होंगे, वहाँ मालिक और नौकरों का होना स्वाभाविक है। धन की

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

असमानता समाज को अमीर गरीब में बाँट देती है जिसमें अमीर वर्ग अपने धन का प्रयोग राजनीतिक शक्ति हथियाने के लिए करता है ताकि वह इसे अपने स्वार्थी हितों के लिए प्रयुक्त कर सके। इसी तरह सामाजिक असमानता में भी लोग अपनी स्वतंत्रता का प्रयोग नहीं कर पाते। सकारात्मक उदारवाद के लेखकों ने यह स्वीकार नहीं किया कि आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रें में नियंत्रण तानाशाही को जन्म देगा। यदि हम ध्यान से देखे तो राज्य द्वारा कल्याणकारी विधि-निर्माण स्वतंत्रता के लिए कोई खतरा सिद्ध नहीं हुआ बल्कि स्वतंत्रता के साथ-साथ समानता स्थापित करने में सहायक हुआ है। बेकारी, स्वास्थ्य, पेंशन, मुफ्त शिक्षा तथा अन्य सेवा-सुविधाओं से संबंधित कानून समाज में असमानता कम करने में अत्यधिक सहायक सिद्ध हुए हैं। समानता और स्वतंत्रता एक-दूसरे के पूरक हैं और एक के बिना दूसरा अधूरा है। दोनों का उद्देश्य एक ही है और वह है व्यक्ति के व्यक्तित्व का स्वाभाविक विकास।

बहस का विषय: सकारात्मक क्रिया

राज्य के द्वारा कानूनी समानता ने अवसर की समानता प्रदान की है परन्तु राज्य सामाजिक तथा आर्थिक असमानताओं को कम करने में असमर्थ रहा है। अतः आज सबसे बड़ा प्रश्न है कि इस प्रकार की समानता किस प्रकार लाई जाए। 20वीं शताब्दी में इस प्रकार के समतावादी समाज की स्थापना का एक विकल्प सकारात्मक क्रिया को देखा गया है। इसका अर्थ है समान लोगों के साथ असमान व्यवहार कुछ देकर या कुछ बोझ डालकर। अन्य शब्दों में इसका अर्थ है– समाज के उच्च वर्ग पर कुछ सीमाएँ लगाई जायें तथा निम्न स्तर के समान लोगों को विशेष सुविधाएँ दी जायें ताकि उनकी प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति में विकास हो सके, अर्थात् कुछ ऐसी विशेष सुविधाएँ जो अवसर की समानता के बावजूद बाकी लोगों को नहीं मिलेगी। तथापि सकारात्मक क्रिया के माध्यम से समाज के वंचित वर्गों को इस तर्क पर विशेष सुविधाएँ प्रदान करना की अतीत में इनके साथ अन्याय हुआ था– यह नीति आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों में दार्शनिक वाद-विवाद तथा चर्चा का विषय बनी हुई है। इन विशेष सुविधाओं में प्रमुख है– नौकरी, शैक्षणिक संस्थाओं में प्रवेश तथा राजनीतिक चुनाव प्रक्रिया में विशेष आरक्षण। इनका लाभ उठाने वालों में निम्न वर्ग से संबंधित जातियों, जनजातियों नारी, बच्चों आदि कोई भी हो सकता है। इसका मुख्य उद्देश्य यह है कि जो सामाजिक लाभ पहले समाज का उच्चवर्ग उठा रहा था उन्हें अब निम्न वर्ग के लिए संरक्षित किया जा रहा है।

2.3 न्याय

न्याय की संकल्पना प्राचीन काल से ही राजनीतिक व्यवहार व सिद्धांत में केंद्रीय भूमिका में रही है-परंतु आधुनिक युग तक आते , ,स्वतंत्रता ,नैतिकता ,आते इसमें मौलिक परिवर्तन हो गया है। न्याय का संबंध धर्म समानता, अधिकार,कानून , राजनीति एवं अर्थशास्त्र इत्यादि से जोड़ा जाता है। सामान्यतः‘ न्याय ’परस्पर व्यक्तियों में और समानतास्वतंत्रता तथा सहयोग के सिद्धांतों में , सामंजस्य की स्थापना करता है। परंपरागत दृष्टिकोण के अंतर्गत न्याय के सिद्धांत को एक ऐसे सिद्धांत के रूप में मान्यता प्राप्त है जिसमें स्वतंत्रतासमानता आदि सिद्धांतों के मध्य संतुलन एवं समन्वय हो। ऐसा संतुलन कुछ आधारभूत मान्यताओं के संदर्भ में , किया गया है, जैसे– अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख अथवा समाज के सभी सदस्यों के लिए स्वतंत्रता एवं समानता की उपयोगिता। इस संदर्भ में यहाँ उल्लेखनीय है कि साधारणतः न्याय की समन्वयकारी प्रकृति ने ही न्याय को साकार रूप प्रदान किया

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

है। आँखों पर पट्टी और हाथ में तराजू लिए न्याय की मूर्ति यह दर्शाती है कि कानून के समक्ष सभी समान है। ऐसी समानता किसी भी प्रकार के लिंग संपदा आदि की भिन्नता को ,रंग ,वर्ग ,जाति ,धर्म ,महत्त्व नहीं देती है। न्याय के संदर्भ में एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि भिन्न भिन्न कालखंडों एवं परिस्थितियों के संदर्भ में न्याय को परिभाषित किया है।-भिन्न दार्शनिकों ने भिन्न-

आप इकाई तीन' ,न्याय 'में न्याय का अर्थ एवं अवधारणाजॉन ,प्रक्रियात्मक न्याय और तात्विक न्याय ,न्याय के विविध आयाम , रॉल्स के न्याय सिद्धांत का आलोचनात्मक विश्लेषण एवं वैश्विक न्याय के बारे में पढ़ेंगे।

2.3.1 न्याय का अर्थ एवं अवधारणा

राजनीति सिद्धांत की अन्य अवधारणाओं की तरह न्याय को भी परिभाषित करना सरल नहीं है। क्योंकि विभिन्न कालखंडों एवं सामाजिक परिस्थितियों में भिन्न भिन्न दार्शनिकों द्वारा न्याय-की भिन्नभिन्न अवधारणा प्रस्तुत की है। इसके अतिरिक्त समय और - ' साथ न्याय की अवधारणा भी बदलती रही है। न्याय के लिए अंग्रेजी में-परिस्थितियों में परिवर्तन के साथजस्टिस) 'Justice) शब्द का प्रयोग किया गया है' जो लैटिन भाषा के शब्द ,जस्टिशिया) 'Justitia (बांधना-और जस)Jusसे लिया गया है। (संबंध- इस प्रकार न्याय की अवधारणा में विविध आदर्शों एवं मूल्यों का समायोजन या समन्वय किया जाता है। फ्रांसीसी क्रांति के समय समानता तथा बंधुत्व को तीन सर्वोच्च मूल्यों के रूप में मान्यता देता ह ,आधुनिक उदारवादी समाज स्वतंत्रता ,सेै। यह तीनों आदर्श मानवीय संबंधों की न्यायपूर्ण व्यवस्था के लिए अत्यंत आवश्यक है। व्यवहारपरक संदर्भ में न्याय का संबंध राज्य के कानून की धारणा हैजिसके परिणामस्वरूप कानून या न्याय जुड़वा धारणा ,एँ बन जाती हैं। दूसरे शब्दों में व्यवस्था-न्याय का संबंध कानून , तथा सजा देने वाले नियमों की व्याख्या से भी होता है।

न्याय एक ऐसी लचीली अवधारणा हैं जो जनकल्याण के किसी भी धारणा के साथ अनुकूलित कि जा सकती है। सामान्य अर्थ में , परायणता या सद्गुण। न्याय किसी भी उन्नतिशील सभ्यता का अनिवा-न्याय का तात्पर्य होता है कर्त्तव्यर्य अंग होता है। एक गतिशील सभ्यता के रूप में समाज के सदस्यों के अधिकारों का सम्मान करना होता हैगुणों को पुरस्कृत करना होता है एवं , सदस्यों की आवश्यकताएँ पूर्ण करनी पड़ती है। समाज जब ऐसे कार्यों के संदर्भ में विफल होता है, तब संकटपूर्ण परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं। किसी भी संगठन, समाज या सभ्यता के माध्यम से ही अधिकारों का सम्मान होता हैगुण पुरस्कृत होते हैं और , आवश्यकताएँ पूर्ण होती हैं।

न्याय किसी भी सभ्य समाज के लिए अनिवार्य घटक होता हैक्योंकि यदि न्याय व्यवस्था न हो तो राज्य में व्यापक स्तर पर , अव्यवस्था, असुरक्षा एवं जिसकी लाठी उसकी भैंस की परिस्थितियां उत्पन्न हो जाएगी। यदि हम न्याय की गणना एक सद्गुण के रूप में न करें तो न्याय के दो सिद्धांत ही शेष रह जाते हैंजो दोनों स्वभावतः वितरणात्मक है। न्याय में यह सिद्धांत जीवन के श्रेष्ठ , तत्त्वों के वितरण पर आधारित होते हैं। ये सिद्धांत किसी समाज विशेष में अथवा अखिल विश्व में अधिकारोंसमान , विशेषाधिकारो एवं दायित्वों का आवंटन करते हैं। आधुनिक संसार में मानव द्वारा जिन तत्त्वों को प्रधानता दी जाती है ,आय ;वे है , सम्मान एवं अवसर की समानता। न्याय ,सुरक्षा की अवधारणा के अनुसार उपरोक्त सभी तत्त्व एक ही मूलबिंदु अर्थात् न्याय पर केंद्रित होते हैं। न्याय के सिद्धांत का संबंध इस संसार में संपत्तिसम्मान और अवसर के आवंटन से होता है। परलोक से नहीं। यह , उससे संबंधित विभिन्न दृष्टिक ,सिद्धांत इस आवंटन के नियमों काोणों की तार्किकता का एवं उसके सापेक्ष गुणदोषों की - विवेचना करते हैं। अतः उसमें विभिन्न विचारधाराओं का समावेश हो जाता है। न्याय के सिद्धांत मानवीय हितों से अधिक संबंधित मानवीय तर्क से कम। ,होते हैं

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

न्याय की अवधारणा को समझना अत्याधिक कठिन कार्य हैक्योंकि य ,ह एक जटिल अवधारणा है। न्याय से अभिप्राय केवल कानून और कानूनी प्रक्रियाओं तक सीमित नहीं हैअपितु आधुनिक युग में न्याय की धारणा अत्यंत व्यापक हो गई है एवं उसका , प्रतिपादन विभिन्न रूपों में व्यक्त होने लगा है। जहाँ परंपरागत दृष्टिकोण के अंतर्गत न्याय का मुख्य सरोकार व्यक्ति के चरित्र से था , वहाँ आधुनिक दृष्टिकोण का मुख्य सरोकार सामाजिक न्याय से है। सामाजिक न्याय मुख्यतः समाज के उन वंचितकमजोर वर्गों की / आर्थिक तथा राजनीतिक स्थिति सुधारने की ,सामाजिकमाँग करता हैजो पीढ़ियों से जीवन की मूलभूत सुविधाओं एवं सुअवस ,रों से वंचित रहे है। जिससे वे वर्ग राष्ट्र की मुख्यधारा में सम्मिलित होकर राष्ट्र निर्माण में अपना बहुमूल्य योगदान दें। अतः आज के युग में न्याय की मुख्य समस्या यह है कि सामाजिक जीवन के अंतर्गत विभिन्न वर्गों या व्यक्तियों के बीच वस्तुओं ,सेवाओं , ,सुअवसरोंलाभोंवस्तुतः आधुनिक युग में लोकतांत्रिक ?शक्ति एवं सम्मान के बंटवारे का उचित आधार क्या होना चाहिए , संस्थाओं तथा जीवन मूल्यों के विकास से जन आकांक्षाएँ बढ़ी हैंजिसका प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष प्रतिबिंब हमें न्याय के आधुनिक , दृष्टिकोण में अभिव्यक्त होता है।

2.3.2 न्याय की अवधारणा का विकास

उपरोक्त हम चर्चा कर चुके हैं कि न्याय को परिभाषित करना एक कठिन कार्य है। इसके बावजूद विभिन्न कालखंडों में प्रमुख राजनीतिक चिंतकों एवं दार्शनिकों ने न्याय शब्द को एक निश्चित परिभाषा देने का निरंतर प्रयास किया है। यूनानी दार्शनिकों ने न्याय की अवधारणा को सामाजिक व्यवस्था से संबंधित माना है। यद्यपि न्याय की अवधारणा एवं न्याय का अभिप्राय लोकतांत्रिक एवं गैर लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था वाले राष्ट्रों के लिए भिन्नपरंतु दोनों के लिए इसका संबंध सामाजिक व्यवस्था से था। ,भिन्न थे- न्याय के संबंध में विभिन्न विद्वान के विचार निम्नलिखित है–

प्लेटो का न्याय सिद्धांत

प्लेटो के दर्शन में न्याय के सिद्धांत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्लेटो की पुस्तक‘ द रिपब्लिक ’का मुख्य केंद्रबिंदु न्याय की खोज एवं उसका स्थान निर्धारित करना है। प्लेटो की रचना का उपशीर्षक‘ न्याय के संबंध) ’Concerning Justice) है। इससे स्पष्ट होता है कि प्लेटो अपने दर्शन में न्याय के सिद्धांत पर कितना महत्त्व देते हैं।

प्लेटो के मतानुसार न्याय मानव आत्मा की उचित अवस्था और मानव स्वभाव की प्रकृति का भाग है। प्लेटो की व्यक्तिगत न्याय के संदर्भ में मान्यता है कि मानव आत्मा के तीन प्रमुख तत्त्व है– तृष्णा, साहस व विवेक। व्यक्ति की आत्मा के तीनों गुणों में सामंजस्य ही न्याय है। इन तीनों तत्त्व की प्रधानता के अनुसार समाज में तीन वर्ग– दार्शनिक (विवेक) शासक वर्ग /, सैनिक वर्ग स)ाहसरहने चाहिए। य (तृष्णा) एवं उत्पादक वर्ग (हाँ प्लेटो के अनुसार समाज के इन तीनों वर्गों द्वारा अपने कर्त्तव्यों का निष्पादन करना तथा दूसरों के कार्यों में हस्तक्षेप न करना सामाजिक न्याय है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्लेटो का न्याय सिद्धांत क़ानूनी सिद्धांत न होकर नैतिकता से संबंधित है। प्लेटो के अनुसार न्याय का अर्थ है कि मनुष्य अपने उन सभी कर्त्तव्यों का पूरी ईमानदारी से पालन करेंजिनका पालन समाज के प्रयोजनों की दृष्टि से किया , जाना आवश्यक है। व्यक्तियों की योग्यता अनुसार समाज एवं राज्य उनके लिए जिन कर्त्तव्यों एवं धर्मों का निर्धारण करते हैं , धर्म पालन हैं।-न्याय स्व ,उनका यथावत पालन करना ही न्याय है

अरस्तु का न्याय सिद्धांत

अरस्तु तात्त्विक न्याय के प्रमुख प्रतिपादकों को में से हैं। अरस्तु के मतानुसार न्याय का आधार साम्य की भावना है। राजनीतिक विज्ञान के जनक अरस्तु ने अपने ग्रंथ‘ एथिक्स ’में न्याय संबंधी सिद्धांत को राज्य के लिए महत्त्वपूर्ण माना है। अरस्तु का मत है कि

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

न्याय का सरोकार मानवीय संबंधों के नियमन से है। अरस्तू ने न्याय को दो भागों में विभाजित किया हैसामान्य न्याय एवं ,पहला ; दूसरा विशेष न्याय है।

क. **सामान्य न्याय ;**अरस्तु के मतानुसार सामान्य न्याय से आशय सामाजिक नैतिकता से है। अरस्तू ने सामान्य न्याय के लिए संपूर्ण साधुता)Righteousness) शब्द प्रयुक्त किया है। सामान्य न्याय से उसका आशय पड़ोसी के प्रति किए जाने वाले भलाई के सभी कार्यों से है। अच्छाई के सभी कार्योंसभी सद्गुणों को ही अरस्तु सामान्य न्याय समझता है। ,

ख. **विशेष न्याय;** विशेष न्याय मनुष्य को अन्य मनुष्यों के साथ उचित एवं समान व्यवहार करने की प्रेरणा देता है। इस न्याय को वह अनुपातिक समानता के अर्थ में लेते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जिस व्यक्ति को जो मिलना चाहिए उसकी प्राप्ति इस कोटि में आती है। विशेष न्याय को उन्होंने पुनः दो भागों में विभाजित किया है ;

1. **संशोधनात्मक ,सुधारात्मक न्याय** / संशोधनात्मक न्याय का मुख्य उद्देश्य नागरिकों के पारस्परिक संबंधों को नियमित और नियंत्रित करना है। राज्य के विभिन्न सदस्यों के पारस्परिक संबंधों में उत्पन्न होने वाले दोषों को ठीक करके उनमें यह संशोधन करता है। संशोधनात्मक न्याय भी दो प्रकार के हैं ;

❖ **ऐच्छिक**– यह विभिन्न संधि एवं समझौतों के द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से करता है। इन्हें उल्लंघन करने पर न्यायालय ठीक करता है।

❖ **अनैच्छिक**– जब कोई नागरिक किसी दूसरे को हानि या कष्ट पहुँचाने का प्रयास करता हैतो राज्य पीड़ित व्यक्ति की , सुनवाई करता है और दोषी को दंडित करता है। अरस्तू के संशोधनात्मक न्याय के द्वारा राज्य का वह सामंजस्य पुनः स्थापित हो जाता हैजो नागरिकों के गलत आचरण के कारण बिगड़ जाता हैं। ,

2. **वितरणात्मक न्याय**जो प्रत्येक नागरिक ,वितरणात्मक न्याय से अभिप्राय उस सम्मान एवं धन संपदा के वितरण से है , को राजनीतिक समुदाय में उसका उचित स्थान दिलाता है। इस वितरण का संबंध राज्य के नागरिकों के पदसम्मान एवं , पुरस्कार के वितरण से है।

इसके अतिरिक्त अरस्तु ने एक विश्वव्यापी कानून या प्राकृतिक कानून के अस्तित्व का भी संकेत दियाजो किसी देश या किसी , युग विशेष केकानून से परे हैं तथा उसका संबंध संपूर्ण मानव जाति से है। यह अवधारणा प्राचीन यूनान के स्टोइक दर्शन के माध्यम से रोम के न्यायशास्त्र के अंतर्गत विकसित हुई। तत्पश्चात् मध्यकाल में भी कैथोलिक चर्च ने ईश्वर को प्राकृतिक कानून का स्रोत स्वीकार किया। इसका पता लगाने के लिए मनुष्य को अपनी तार्किकता का प्रयोग करना चाहिए जिसमें उसकी दिव्य शक्ति निहित है। आधुनिक युग के आरंभ में सामाजिक अनुबंधवादियों ने प्राकृतिक दशा का संबंध प्राकृतिक कानून से जोड़ा। संक्षेप में , प्राकृतिक कानून के साथ यह मान्यता जुड़ी थी कि साधारण कानून को न्याय की अभिव्यक्ति तभी माना जा सकता है जब वह प्राकृतिक कानून के अनुरूप हो।

आधुनिक युग में न्याय

आधुनिक युग में डेविड ह्यूम)1711-1776ने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत की कड़ी आलोचना करते हुए उनके स्थान को (उपयोगितावाद के सिद्धांत से प्रतिस्थापितकरने का प्रयास किया। फिर उपयोगितावाद के प्रवर्तक जेरेमी बेंथम)1748-1832ने (‘ डेविड ह्यूम की वैचारिक परंपरा को विस्तार करते हुए यह घोषणा किअधिकतम लोगों का अधिकतम सुख) ’Greatest happiness of the greatest number) का सिद्धांत ही न्याय एवं अन्यायउचित एवं अन ,ुचित का मापदंड है। जॉन स्टूअर्ट मिल)1806-1873मनुष्य अपने लिए सुरक्षा ,ने न्याय को सामाजिक उपयोगिता का प्रमुख घटक मानते हुए यह तर्क दिया कि (

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

इसलिए वे ऐसे नैतिक नियम स्वीकार कर लेते हैं जिनसे दूसरे भी वैसी ही सुरक्षा अनुभव कर सके। अतः ,की कामना करते हैं उपयोगिता ही न्याय की अवधारणा का मूलमंत्र है। समकालीन समय में न्याय के संबंध में ऐसे सिद्धांत को स्वीकार किया जा रहा है गिर्द किया गया हो।-राजनीतिक यथार्थ के इर्द ,आर्थिक ,जिसका निर्धारण जीवन के सामाजिक ,

2.3.1 न्याय के विविध आयाम

- **न्याय का कानूनी आयाम**

कानूनी न्याय का संबंध उन सिद्धांतों एवं कार्यविधियों से हैजो किसी राज्य के कानून द्वारा निर्धारित होते हैं। ऐसी व्यवस्था , रिवाजों एवं मानवीय अभीकरणों द्वारा निर्मित अथवा -रीति ,कानूनी न्याय का संबंध कानूनों ,न्याय कहलाती है। दूसरे शब्दों में पारित पूर्व निर्णयों से होता है। न्याय के कानूनी संदर्भ में दो तथ्य महत्त्वपूर्ण है ;**प्रथम,** न्यायपूर्ण कानून का निर्माण और **द्वितीय**कानूनानुसार न्याय की उपलब्धता। न्यायपूर्ण कानून निर्माण से अभिप्राय है कि विधानमंडल द्वारा बनाए गए कानून , न्यायपूर्ण और तार्किक होने चाहिए। कानून सभी व्यक्तियों के लिए समान और निष्पक्ष हो। न्यायपूर्ण कानून निर्माण का यह तात्पर्य नहीं है किके लिए समान कानून। न्यायपूर्ण आधार पर कानून आसमान भी हो सकता (बच्चे एवं वृद्ध) प्रत्येक व्यक्ति , है। उदाहरणस्वरूप तीन साल से कम आयु के बच्चों के लिए रेल म ं ं यात्रा करना मुफ्त है। तीन साल से बारह साल तक की आयु तक आधा किरायाबारह से साठ वर्ष तक पूरा किराया एवं साठ वर्ष से अधिक आयु के वरिष्ठ नागरिकों के लिए , किराए में विशेष छूट का प्रावधान है।

किराए का यह अंतर न्यायपूर्ण है। अतः कौन सा कानून न्यायपूर्ण है या कौन सा कानून न्यायपूर्ण नहीं हैयह किसी समुदाय , एक कानून किसी एक समाज में स्वीकार्य है तो ,विशेष की मान्यताओं एवं नैतिक दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। दूसरे शब्दों में वहीं कानून अन्य समाज की सामाजिक पृष्ठभूमि के संदर्भ में अस्वीकार भी हो सकता है।

कानूनी न्याय का अन्य महत्त्वपूर्ण पहलू है' कानूनानुसार न्याय की उपलब्धता। यह विचार -कानून के शासन 'के सिद्धांत पर आधारित है। समाज में व्यक्तियों को विधि के समक्ष समान मानना एवं विधि का निष्पक्ष प्रयोग ही न्याय है।

- **न्याय का राजनीतिक आयाम**

राजनीतिक न्याय से तात्पर्य बिना किसी भेदभाव केवयस्क ,प्रत्येक व्यक्ति को राज्यसत्ता में हिस्सेदारी मिलना। इस संदर्भ में , निर्वाचित सरकार तथा नागरिक अधिकारों की उपस्थिति राजनीतिक न्याय की स्थापना के लिए पूर्व शर्तों में से ,मताधिकार एक है। न्याय के राजनीतिक आयाम का संबंध उन वास्तविकनीतियों से हैजिनके द्वारा राजनीतिक प्रक्रिया ,एँ न्याय के आदर्शों को उपलब्ध कराती है। संविधान ,संसद एवं न्यायालय मुख्यतः न्याय के कानूनी पहलुओं से जुड़े हैं परंतु नौकरशाही , हित समूह एवं स्वैच्छिक संगठन न्याय के कानूनी मूल्यों को क्रियात्मक राज ,राजनीतिक दलनीतिक कार्यक्रमों का रूप प्रदान करते हैं।

- **न्याय का सामाजिक आयाम**

सामाजिक न्याय से तात्पर्य ऐसी संकल्पना जो जन्मलिंग के आधार पर भेदभाव को रोकने के लिए प्रयासरत है। ,धर्म ,जाति , ताकि राष्ट्रीय संसाधनों एवं संपदा का समान रूप से वितरण हो सके। सभी न्यायालयों क ा जन आवश्यकताओं के अनुरूप समयसमय पर अपने न्यायिक दृष्टिकोण में परिवर्तन करने की ओर झुकाव है। हमारा सर्वोच्च न्यायालय संपत्ति के विवादों में - बहुत अनुदारवादी दृष्टिकोण अपनाता आया है। दूसरी तरफ नागरिक अधिकारों की रक्षा के संदर्भ में उसका दृष्टिकोण काफी

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

©DDCE, COL, SOL, University of Delhi

सुधार ात्मक रहा है। वर्तमान समय में सामाजिक न्याय को व्यापक अर्थों में व्याख्यित किया जा रहा हैजिसके अंतर्गत , आर्थिक एवं राजनैतिक तीनों न्याय सम्मिलित है। ,सामाजिक

- **न्याय का आर्थिक आयाम**

आर्थिक न्याय से तात्पर्य आर्थिक शोषण का अंतदेश के भौतिक साधनों का उचित बं ,टवारा तथा अधिक से अधिक लोगों के हित में उसका उपयोग करना। उदारवादी विचारधारा न्याय के राजनीतिक तथा सामाजिक पहलुओं पर बल देती हैवही , गरीब के आधार तथा समाज के वर्ग विभाजन को समाप्त किए -मार्क्सवादीयों एवं समाजवादियों का मत है कि समाज में अमीर बिना आर्थिक न्याय की कल्पना नहीं की जा सकती। इनके अनुसार न्याय का मूल अभिप्राय समाज में सभी लोगों को मूलभूत आर्थिक संसाधन उपलब्ध कराना हैजो केवल भविष्य में वर्गविहीन साम्यवादी समाज व्यवस्था में ही उपलब्ध हो सकता है। ,

2.3.4 प्रक्रियात्मक न्याय और तात्विक न्याय

सामाजिक जीवन में न्याय का स्वरूप कैसा हो...? इस संदर्भ में समकालीन चिंतन के अंतर्गत प्रक्रियात्मक न्याय एवं तात्विक न्याय के समर्थकों में मतभेद पाया जाता है। प्रक्रियात्मक न्याय मूलतः औपचारिक अथवा वैधानिक न्याय हैं। समकालीन उदारवादी विचारक इस न्याय पद्धति में विश्वास रखते हैं। इस न्याय व्यवस्था के समर्थक यह मानते हैं किपदों एवं वस्तुओं इत्यादि ,सेवाओं , इस ,यह विवाद का विषय नहीं है। दूसरे शब्दों में ,के वितरण की प्रक्रिया या विधि न्यायपूर्ण होनी चाहिए। किसे क्या मिलता है परिण ,अवधारणा में प्रक्रिया पर बल दिया जाता है ाम में नहीं। इसके उलट तत्वात्मक न्याय के समर्थकों की मान्यता है कि उपरोक्त सेवाओंपदों एवं वस्तुओं इत्यादि का वितरण न्यायपूर्ण होना चाहिए। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु इसकी प्रक्रिया में आवश्यक , समायोजन किया जाना चाहिए। इस प्रकार प्रक्रियात्मक न्याय से अभिप्राय औपचारिक या वैधानिक न्याय से मिलताजुलता है - तथा तत्वात्मक न्याय से तात्पर्य सामाजिक आर्थिक न्याय से है। प्रक्रियात्मक न्याय में जहाँ क्षमता पर बल दिया जाता है , वही तत्वात्मक न्याय व्यक्ति की मूलभूत आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयत् ,आवश्यकता पर नहींन करते हुए अवसर की समानता पर बल दिया जाता है। प्रक्रियात्मक न्याय में बाजारवादी अर्थव्यवस्था या पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसके अनुसार बाजार व्यवस्था स्वमेव उत्पादन के तत्त्वों को आकर्षित करके उनके सर्वश्रेष्ठ प्रयोग की परिस्थितियां पैदा कर देता है। प्रक्रियात्मक न्याय के चिंतकों में हर्बर्ट स्पेंसर)1820-1903(, एफ .ए.हेयक)1899-1992(, मिल्टन फ्रीडमैन)1912-2006) तथा रॉबर्ट ना ॉजिक (1938-2002 के नाम उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त (जॉन रॉल्स)1921-2002ने प्रक्रियात्मक (न्याय को सामाजिक न्याय के सिद्धांत के साथ जोड़कर न्याय के संदर्भ में विस्तृत सिद्धांत प्रस्तुत किया है।

प्रक्रियात्मक न्याय सिद्धांत जातिभाषा एवं संस्कृति इत्यादि के आधार पर समाज में मनुष्य ,क्षेत्र ,लिंग ,रंग ,धर्म , ो ं के बीच में किसी भी प्रकार के भेदभाव का विरोध करता है। यह सिद्धांत समाज में सब मनुष्यों की समान गरिमा और समान महत्त्व को स्वीकार करता है। इस दृष्टिकोण से यह एक प्रगतिशील विचार प्रतीत होता है परंतु यह विचार बाजारवादी अर्थव्यवस्था एवं पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को महत्त्वपूर्ण मानते हुए इस मान्यता पर विश्वास करता है कि सबके लिए समान नियम बना देने से समाज के सभी सदस्य अपने परस्पर संबंधों को न्याय पूर्ण विधि से समायोजित कर लेंगे तथा सरकार को इस प्रक्रिया में हस्तक्षेप करने की जरूरत नहीं है। इस विचार के संदर्भ में हर्बर्ट स्पेंसर तर्क देते हैं कि सरकार को दिव्यांगों की भी कोई सहायता नहीं करनी चाहिए , सरकार को ,हेयक तर्क देते हैं कि.ए.खप जाने देना चाहिए। एफ-अपितु जो कोई भी जीवन संघर्ष में असक्षम सिद्ध हो उसे मर जनकल्याण के उद्देश्य से बाजार अर्थव्यवस्था के नियंत्रण के विचार का त्याग कर देना चाहिए। मिल्टन फ्रीडमैन का मानना है कि 'मुक्त विनिमय अर्थव्यवस्था 'को प्रतिस्पर्धात्मक पूँजीवाद ही सहारा देता है। अतः सरकार को केवल उन्हीं कार्यों का उत्तरदायित्व

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

लेना चाहिए जिन्हें बाजारवादी अर्थव्यवस्था नहीं संभाल पाती। सरकार का कार्य बाजार अर्थव्यवस्था को नियंत्रित करना नहीं होतासामाजिक सुरक्षा एवं बाजार के विनियम से कोई सरोकार नहीं रखना चाहिए। ,बल्कि उसे जनकल्याण ,

रॉबर्ट नॉजिक ने अपनी पुस्तक' एनार्की 'स्टेट एंड यूटोपिया ,में न्याय के अपने सिद्धांत की व्याख्या की है। नॉजिक संपत्ति के अधिकार को सर्वप्रमुख मानवाधिकार मानते हुए यह तर्क देते हैं कि राज्य का प्रमुख कार्य संपत्ति की रक्षा करना है। उनके मतानुसारराज्य को अपने नागरिकों की संपत्ति के अधिग्रहण एवं पुनर्वितरण का अधिकार प्राप्त नहीं है। क्योंकि वे मूलतः इसके , सेवार्थी थे।समाज में कोई भी संपत्ति' उत्पादन 'एवं' स्वैच्छिक हस्तांतरण 'के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। इस प्रक्रिया के फलस्वरुप जो विषमताएँ है उत्पन्न होती हैंउन्हें वितरण के स्तर पर परिवर्तित करने का प्रयास अन्यायपूर्ण होगा। नॉजिक का मत है , (कर लगाना) कि कराधान को भी उसी सीमा तक न्यायोचित माना जा सकता हैज ,हाँ तक वह' न्यूनतम राज्य 'का खर्च उठाने के लिए आवश्यक हो। इस संदर्भ में वे कल्याणकारी राज्य का कड़ा विरोध करते हैं।

प्रक्रियात्मक न्याय के आलोचकों का मत है कि इस न्याय व्यवस्था की सबसे बड़ी त्रुटि है किइन्ह ,ोंने न्याय की संकल्पना को व्यक्तिवाद के संदर्भ में प्रस्तुत किया हैमनुष्य के सामाजिक प्राणी के संदर्भ में नहीं किया। समाज में विभिन्न व्यक्तियों की स्थिति , विषम होती है। इसलिए एक असमतामूलक समाज में न्याय का प्रक्रियावादी स्वरूप असंगत सिद्ध होता है।

प्रक्रियात्मक न्याय के विपरीत, तत्वात्मक न्याय या सामाजिक न्याय का विचार मार्क्सवाद एवं समाजवाद के साथ निकटता से जुड़ा हुआ है। यह एक ऐसे साम्यवादी समाज की कल्पना करते हैं, जिसमें उत्पादनों के साधनों पर पूरे समाज का नियंत्रण है। अतः यह अवसर की समानता की बजायसभी , के लिए समान परिस्थितियों का समर्थन करते हैं। इनका मानना है किआर्थिक जीवन में , खुली प्रतिस्पर्धा ऐसी असमानताओं को जन्म देता है जिससे निर्धन वर्ग धनवान वर्ग द्वारा निर्धारित शर्तों पर कार्य करने के लिए सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीव ,मजबूर हो जाता है। राजनीतिकन में भी निर्धन वर्ग को हीन स्थिति का सामना करना पड़ता है। संक्षेप मेंकहा जा सकता है कि तत्वात्मक न्याय का लक्ष्य यह है कि सामाजिक विकास के लाभ कुछ चुनिंदा लोगों के हाथों में ही , वंचित एवं अभावग्रस्त स्तर तक ,सिमट कर न रह जाए बल्कि उन्हें समाज में कमजोरपहुँचाने का प्रबंध किया जाए।

2.4 जॉन रॉल्स का न्याय का सिद्धांत

अमेरिकी राजनीतिक दार्शनिक जॉन रॉल्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक' अ थियरी ऑफ जस्टिस) '1971में न्याय संबंधी अपने (,विचार दिए। रॉल्स एक ऐसी अभिधारणा के लिए सैद्धांतिक आधार तैयार करने का प्रयत्न किया जो उदारवादी परंपरा में तो हो ' लेकिन पूर्ववर्ती उदारवादियों कीहर व्यक्ति सिर्फ अपने लिए 'वाली मान्यता की अपेक्षा कल्याणकारी राज्य की कल्पना को समर्थन देने में सहायक हो। रॉल्स का न्याय सिद्धांत एक तरफ तो प्लेटो के कर्त्तव्यपरायन न्याय से अलग दिखाई देता हैदूसरी तरफ , होब्स, लॉक तथा रूसो के समझौतावादी सिद्धांत को अपनाते हुए भी उनके सिद्धांतों के मूलाधार' मानव 'स्वभाव-अध्ययन की अनदेखी करते हुए अपने सिद्धांत का प्रतिपादन तत्कालीन सामाजिकआर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों के अनुरूप प्रस्तुत , जेम्स मिल जैसे प्रमुख विचारको की भी आलोचना की जिन्होंने सभी ,बेंथम ,करते हैं। उन्होंने उदारवादी परंपरा के डेविड ह्यूम ' सामाजिक तथा राजनीतिक सवालों का समाधान सुखवादी सिद्धांत से जोड़ते हुएअधिकतम लोगों का अधिकतम सुख 'का सिद्धांत दिया था। रॉल्स अपने सिद्धांत की रचना करने के लिए सामाजिक समझौता और वितरणात्मक न्याय की अभिधारणाओं को आधार बनाते हैं। वे दो प्रकार के पदार्थों का निर्देश करते हैं ;**पहला ,समाजिक पदार्थ** जैसे आय ,आवास एंव सत्ता ,संपत्ति , जिन्हें सामाजिक संस्था ,अधिकार और स्वतंत्रताएएँ प्रत्यक्ष रूप से वितरित करती हैं और **दूसराप्राकृतिक पदार्थ ,** जैसे स्वास्थ्य ,

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

परंतु ,प्राकृतिक प्रतिभा इत्यादि। जो प्रत्यक्षतः सामाजिक संस्थाओं द्वारा वितरित नहीं किए जाते ,कल्पना शक्ति ,ओज ,बुद्धि आंशिक रूप से उन संस्थाओं के अधीन हो सकते हैं या उनसे प्रभावित भी हो सकते हैं।

रॉल्स ने अपने सिद्धांत निर्माण के लिए ऐसी स्थिति की कल्पना की हैराजनीतिक पृष्ठभूमि -आर्थिक-जिसमें लोग अपनी सामाजिक , ' के बारे में नहीं जानते और वे एकअज्ञान के पर्दे 'के पीछे बैठे हुए हैं। इस पर्दे के पीछे बैठे लोग अपनी आवश्यकताओं ,हितों , निपूर्णताओ तथा योग्यताओं के बारे में पूर्णता अनजान है और इस स्थिति में बैठे लोगों को यह भी ज्ञात नहीं होता कि यथार्थ समाज में संघर्ष पैदा करने वाली कौन' कौन सी बातें हैं। रॉल्स इसे-मूल 'स्थिति-कहते हैं। साथ ही रॉल्स के अनुसार' मूल 'स्थिति-में रहने वाले वार्ताकारों को मनोविज्ञान एवं अर्थशास्त्र का साधारण ज्ञान अवश्य होता है।' मूल 'स्थिति-में रहने वाले वार्ताकार अपनी स्वहित की चिंता करते हैं लेकिन ये अहंवादी नहीं होते। उनके पास उत्तम जीवन को लेकर कोई स्पष्ट एवं सुनिश्चित दृष्टि नहीं होती। लेकिन यह चाहते हैं कि इनकी प्राथमिक वस्तुओं अर्थात् स्वतंत्रता अवसर ,संपत्ति ,एवं आत्मसम्मान की अधिकतम वृद्धि - ' हो। रॉल्स यह कल्पना करते हैं किमूल 'स्थिति-में रहने वाले वार्ताकार जोखिम नहीं लेना चाहेंगे। इसलिए अनिश्चितता कि इस स्थिति में वे ऐसे विकल्प का चयन करेंगे जिसमें सबसे कम नुकसानदेह परिणाम सामने आने की उम्मीद हो। अतवह उन : सि्द्धांतों का चयन करेंगे जो हीनतम स्थिति वाले लोगों के लिए ज्यादा से ज्यादा लाभदायक हो। इसका मुख्य कारण यह था कि , ' उन्हें यह भय रहता है कीअज्ञान का पर्दा 'हटने पर उनकी स्थिति भी सबसे बुरी हो सकती है। रॉल्स के अनुसार ऐसी समान एवं निष्पक्ष दिखने वाली स्थिति में न्याय के जिन नियमों को स्वीकारा जाएगा वे इस प्रकार हैं–

1. प्रत्येक व्यक्ति को अति विस्तृत मौलिक स्वतंत्रताओं की एक पर्याप्त रूप से सुस्पष्ट व्यवस्था का समान अधिकार प्राप्त होना चाहिए और यह व्यवस्था सभी के लिए सुलभ हो।
2. सामाजिक तथा आर्थिक असमानताएँ इस प्रकार व्यवस्थित की जाए कि;
   क. इसमें हीनतम स्थिति वाले लोगों को अधिकतम लाभ हो।
   ख. ये विषमताएँ उन पदों एवं स्थितियों के साथ जुड़ी हो जो अवसर की उचित समानता की शर्तों पर सबके लिए सुलभ हो।

सरल शब्दों में इन्हें इस प्रकार देखा जा सकता है;

1. समान मौलिक स्वतंत्रता का सिद्धांत।
2. भेदमूलक सिद्धांत।
3. अवसर की उचित समानता का सिद्धांत।

रॉल्स ने इन सिद्धांतों को विशेष रूप से एक विशेष पूर्वताक्रम के नियमानुसार व्यवस्थित किया है। सिद्धांत एक को हमेशा सिद्धांत दो से प्राथमिकता दी जाएगी। इसके अतिरिक्त सिद्धांत दो के अंतर्गत नियम ख को नियम क से प्राथमिकता दी जाएगी। अतः यह कहा जा सकता है कि असमानताओं को इस तरह व्यवस्थित किया जाएगा कि यह सबसे बदत्तर स्थिति वाले लोगों को सबसे ज्यादा फायदा पहुँचाएँ।

2.4.1 रॉल्स के न्याय सिद्धांत की आलोचना

निस्संदेह रॉल्स के न्याय सिद्धांत ने न्याय संबंधी चिंतन को एक नई दिशा दी है परंतु उनका यह सिद्धांत आलोचना मुक्त नहीं है। भिन्न–जो इस प्रकार है ,भिन्न दृष्टिकोण से रॉल्स के न्याय सिद्धांत की आलोचना की है-भिन्न आलोचकों ने भिन्न-

समुदायवादियों के विचार

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

समुदायवादियों) Communitariansद्वारा रॉल्स कि व्यक्ति क (ी संकल्पना को अतार्किक एवं अव्यावहारिक माना गया है। इनका का मत है कि न्याय की कोई एक मात्र और सर्वमान्य परिभाषा नहीं हो सकती बल्कि विभिन्न समूह एवं विभिन्न समुदायों के लिए न्याय की भिन्नभिन्न धारणा-एँ आवश्यक है। इसलिए न्याय का कोई मानक मापदंड नहीं हो सकता।

समुदायवादी' व्यक्तिवाद 'की बजाय' समुदायवाद 'में विश्वास रखते हैं एवं व्यक्ति को समुदाय का एक सदस्य मानते हैं तथा प्रत्येक समुदाय की पहचान भी अलग मानते हैं। इस संदर्भ में मैकिंटायर ने समुदायवाद के नैतिक आधार पर बल देते हुएव्यक्ति के , स्वायत्तता की आलोचना की तथा कहा कि व्यक्ति का व्यक्तित्व उसके सामाजिक परंपराओं में विकसित होता है तथा इसी के माध्यम से सद्गुण अर्जित करता है। इसी तरह माइकल वाल्जर भी रॉल्स के सिद्धांत की आलोचना करते हुए कहते हैं किन्याय का , कोई सार्वभौमिक नियम नहीं हो सकता। न्याय के नियम के निर्धारण के लिए समुदाय विशेष में प्रचलित मान्यताओं एवं मापदंडों को ध्यान में रखना आवश्यक है। माइकल वाल्जर रॉल्स की आलोचना करते हुए कहते हैं कि न्याय की कोई भी प्रणाली अंतर्निहित रूप से न्यायपूर्ण या अन्यायपूर्ण नहीं हो सकती। उनके साथ जुड़े सामाजिक संदर्भ ही उसका मूल्यांकन संभव बनाते हैं। अर्थात् अगर पूर्ण समाज जाति प्रथा में-विश्वास करता है तो उसके अनुसार बनी वितरण की कसौटियाँ उस समाज के लिए न्यायप्रद होगी। अतः इस आधार पर वह न्याय के सिद्धांत की अमूर्तता तथा सार्वभौमिकता का खंडन करते हैं।

नारीवादियों के विचार

सुसेन मोलर ओकिन जैसी नारीवादी लेखिका इस बात पर ध्यान केंद्रित करती है कि रॉल्स का न्याय का सिद्धांत परिवार में मौजूदा असमानताओं और अन्याय के बारे में खामोश है। उनका मत है कि न्याय के संदर्भ में हुए अधिकांश महत्त्वपूर्ण शोधकार्यों में - परिवार की आंतरिक स्थिति एवं भूमिका पर शायद ही कोई विचार किया गया है। रॉल्स का मत है कि न्याय का संबंध' समाज के मूल ढाँचे 'से होना चाहिए जबकि नारीवादी लेखकों ने' पर्सनल इज पॉलिटिकल 'के विचार के संदर्भ में रॉल्स कि इस आधार पर आलोचना की है कि न्याय सिद्धांत परिवार में असमानताओं को लेकर मौन है। जैसा कि उपरोक्त चर्चा की गई है कि रॉल्स ने न्याय सिद्धांत के निर्माण हेतु एक' मूल 'स्थिति-का वर्णन करते हैं।' मूल 'स्थिति-में बैठे वार्ताकार ही न्याय के सिद्धांतों का निर्माण करते हैं। रॉल्स का मत है कि' मूल 'स्थिति-में परिवारों के मुखिया ही सम्मिलित होते हैं। रॉल्स एक तरफ तो परिवार को समाज की एक ऐसी आधारभूत संरचना के रूप में स्वीकार करते हैंवहीं दूसरी तरफ वह ,जिसके लिए न्याय के सिद्धांतों का चयन होता है , विभाजन की तरफ बिल्कुल भी ध्यान-परिवार के भीतर होने वाले अन्यायों एवं लिंग आधारित श्रमनहीं देते हैं।

अमर्त्य सेन के विचार

अमर्त्य सेन ने अपनी रचना' द आइडिया ऑफ जस्टिस) '2010में जॉन रॉल्स के न्याय के सिद्धांतों की आलोचनात्मक (' ,मूल्यांकन करते हुए न्याय के संबंध में एक विशेष विचारक्षमता या सामर्थ्य 'को प्रतिपादित किया है। सेन मत है कि रॉल्स द्वारा वर्णित मूल संसाधन स्वतंत्रता प्राप्त करने का साधन मात्र हैवे स्वतंत्रता की मात्रा तथा गुणवत्ता तय नहीं कर सकते अर्थात् यदि दो , व्यक्तियों के पास ये मूल संसाधन समान मात्रा में है तो भी वे एक जैसी स्वतंत्रताएँ में प्राप्त नहीं कर सकते। उनकी आयुउनका , उनके अनुवांशिक गुण एवं क्षमताओं का अंतर उनकी स्वतंत्रताओं में भी विभेदीकरण कर देगा। संसाधनों को वास्तविक ,लिंग स्वतंत्रता में बदलना क्षमताओं पर निर्भर करता है।

समष्टिवादियों के विचार

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

समष्टिवादियों)Collectivistsरॉल्स का न्याय सिद्धांत ,के अनुसार (परंपरागत उदारवादी पूँजीवादी व्यवस्था की औचित्यता सिद्ध करता है। यह विचार संपत्तिशाली वर्ग के विशेषाधिकार को कायम रखने में सहायक सिद्ध हुआ है। रॉल्स ने अवसर की उचित समानता का जो सिद्धांत प्रस्तुत किया हैयदि उसे कठोरता पूर्वक भी लागू किया जाए तो भी धनी एव ,ं निर्धन वर्गों के बीच खाई को कम नहीं किया जा सकता। हीनतम लोगों की स्थिति में नाममात्र सुधार दिखाई देने पर भी यह सिद्धांत भारी सामाजिकआर्थिक - असमानताओं की अनुमति देता है। रॉल्स के न्याय सिद्धांत की एक अन्य आलोचना यह भी की जाती है कि हीनतम स्थिति वाले लोगों की पहचान अति कठिन कार्य हैं। रॉल्स का न्याय सिद्धांत इस बात पर मौन है कि लोगों को किनकिन आधार पर हीनतम - योग्यता एवं प्रतिभा का) यदि केवल आय एवं संपत्ति के आधार पर इनकी पहचान की जाएगी तो अन्य दृष्टियों ?माना जाएगा से जरूरतमंद लोगों पर हमारा ध (अभाव इत्यादि्यान ही नहीं जाएगा।

स्वेच्छातंत्रवादियों के विचार

स्वेच्छातंत्रवादियों)Libertarians) के अनुसार रॉल्स का यह तर्क पूर्णता अस्वीकार्य है कि व्यक्तिगत योग्यताएँ एवं क्षमताएँ समाज की सार्वजनिक संपत्ति है तथा उनको सामाजिक न्याय के आधार पर पुनर्वितरित किया जाना चाहिए। नॉजिक ने रॉल्स के 'भेदमूलक सिद्धांत 'की आलोचना करते हैं। यह विचारक तर्क देते हैं कि रॉल्स ने समानता पर अत्याधिक महत्त्व देते हुए मनुष्य की स्वतंत्रता की बलि दे दी है। अधिक योग्य एवं प्रतिभा संपन्न जोखिम उठाने को तैयार रहने वाले लोगों को हीनतम व्यक्तियों के लाभ हेतु कार्य करने को विवश क्यों किया जाएरॉल्स के समझौते में सम्मिलित वार्ताकार थोड़ी सी भी जोखिम उठाने को तैयार ? नहीं है। समाज की उन्नति में ऐसे लोग क्या उन्नति कर पाएँगे।

मार्क्सवादियों के विचार

मार्क्सवादियों)Marxistsके मतानुसार आर्थिक एव (ं सामाजिक तथ्यों की जानकारी के अभाव में न्याय के सिद्धांत को निर्धारित करना युक्तिसंगत नहीं है। रॉल्स न्याय के नियमों को ज्ञात करने हेतु मनुष्य को एक काल्पनिक' मूल 'स्थिति-में रखा जहाँ उन्हें सामाजिक' आर्थिक तथ्यों का बोध नहीं होता एवं वे इस संदर्भ में-अज्ञान के पर्दे 'के पीछे समझौता करता है। मार्क्सवादीयों के मतानुसार नैतिक व्यवस्थाओं को केवल' वर्ग 'संघर्ष-एवं' स्वामित्व की पद्धतियों 'के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। अतः 'अज्ञान के पर्दे' के पीछे हुआ समझौता अतार्किक एवं निराधार है।

2.5 वैश्विक न्याय

आधुनिक युग के आरंभ से लेकर वीं शताब्दी की संपूर्ण अवधि में न्याय की अवधारणा में रुचि रखने वाले राजनीतिक चिंतकों 21 ने प्रमुखतः केवल राष्ट्र के अंदर राष्ट्रीय मुद्दों एवं समस्याओं पर ही विचार किया। अर्थात् राज्य को अपने नागरिकों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए तथा नागरिकों के परस्पर संबंध क्या एवं कैसे होने चाहिए। परस्पर प्रभुसत्ताधारी राज्यों के मध्य अथवा सीमाओं के पार व्यक्तियों के बीच न्याय एक गौण विषय था जिसे उन्होंने ,अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के सिद्धांतकारों हेतु छोड़ रखा था। के 1980पश्चात् वैश्विक न्याय समकालीन राजनीति दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा बना। वैश्विक न्याय की धारणा मुख्यतः तीन संबंधित मुद्दों वितरणात्मक न्यायगिर्द घूमती है। वितरणात्मक न्याय का -नैतिक सार्वभौमिकता एवं प्रमुख वित्तीय संस्थानों के इर्द , मुद्दा धनसंपदा तथा संसाधनों के वर्तमान वितरण पर न्यायोचित प्रक्रिया से संबंधित है। हमारे देश में गरीबी है तो ऐसे में क्या , गरीबों की सहायता करनापूँजीपतियों का कर्तव्य है या सहायता की भावना परोपकार एवं दान तक आकर रुक जाती है या नैतिक दृष्टि से ऐसा जरूरी है।

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

इसके अलावा क्या वैश्विक राजनीति एवं आर्थिक संस्थाएँ जैसे संयुक्त राष्ट्र संघ ,विश्व बैंक ,अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ,विश्व व्यापार संगठन ,अंतर्राष्ट्रीय गैर सरकारी संगठनों बहुराष्ट्रीय निगम एवं ,अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय वैश्विक न्याय के आदर्श को प्राप्त करने में उत्तम सिद्ध होंगी। अब तक स्वतंत्रताराज्यों के अधिकार -सीमा के अंदर राष्ट्र-न्याय एवं अधिकार जैसे मुद्दे निश्चित भू ,समानता , क्षेत्र में थे। लेकिनवैश्वीकरण की धारणा ने इन परंपरागत धारणाओं को खुली चुनौती प्रदान की है। आज सबसे बड़ा सवाल यह खड़ा होता है कि क्या पश्चिम के समृद्ध देशों को विकासशील एवं अविकसित देशों के उपेक्षित वर्गोंकुप्रथाओं पर ,संस्कृतियों , ध्यान देना चाहिए या सिर्फ प्राकृतिक तथा मानवीय संसाधनों के दोहन तक स्वयं को सीमित रखना चाहिए।

वैश्विक न्याय की परियोजना अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर किसी कितनी संभव है–जैसे ;इस संदर्भ के अंतर्गत मुख्यतः पांच उपागम आते हैं ? राष्ट्रवाद ,विशिष्टतावाद ,यथार्थवाद ,विश्व बंधुत्ववाद एवं राज्यों की समाज परंपरा।

प्रथम; राष्ट्रवाद में यह भावना आरंभ से ही समाहित रही है कि राष्ट्र के अंदर एवं बाहर नैतिक कर्तव्यों में क्या अंतर होता उदाहरणस्वरुप किसी राज्य विशेष के निवासियों को ही उस राज्य के कल्याणकारी लाभ प्राप्त होते हैं इसी प्रकार राज्य के दुखी नागरिकों की मदद करना राज्य नैतिक कर्तव्य होता है, परंतु वितरणात्मक न्याय का मुद्दा देश के अंदर निवासियों के संदर्भ में ही होता है।

द्वितीय; मारगेंथाऊकैनेथ , वाल्ज जैसे यथार्थवादियों का मत है कि वैश्विक न्याय जैसी कोई धारणा नहीं है। वर्तमान युग में राज्य एक अच्छा नायक है, जो सदैव अपने हितों को सुरक्षित करते हैं। किसी गरीब देश के लोगों की मदद करना जब तक कोई कर्त्तव्य नजर नहीं आता तब तक उस देश विशेष के सामरिक हित को आगे नहीं बढ़ाती है।

तृतीय जुली परंपराओं से उत्पन्न होते-विशिष्टतावादियों के मतानुसार किसी भी तरह के नैतिक मापदंड मिली ;हैं। क्योंकि हम सभी जानते हैं कि हरेक समाज के स्वयं अपनेअपने मानदंड होते हैं और उसके अंदर रहने वाले निवासी इसके प्रति बाध्य होते हैं। -आवास पर दबाव ,परिवहन ,स्वास्थ्य ,शिक्षा ,समुदायवादियों का मत है कि राज्य की सीमाओं में ढिलाई बरते जाने से बेरोजगारी बढ़ता है। जिसके परिणामस्वरूप अलगाववादकट्टरवाद एवं जनकल्याण को अवरुद्ध करने जैसी प्रतिक्रिया ,एँ गंभीर समस्याओं के रूप में सामने आने लगती है। साथ ही साथ राज्य की प्रभुसत्ता पर भी खतरा उत्पन्न होता है। जिसके परिणामस्वरूप सुरक्षा एवं स्व निर्णयन की क्षमता में कमी आ सकती है।

चतुर्थ ;विश्व बंधुत्ववादियों के अनुसार नैतिकता एक सार्वभौमिक सत्य है। सभी लोग परस्पर साथी ,संबंधी होने के कारण ही नहीं-बल्कि एक मानव होने के आधार पर व्यापक न्याय की अवधारणा के अंतर्गत आते हैं।

पंचम; राज्यों की समाज परंपरा में राज्यों को एक विशिष्ट व्यक्तिगत इकाई के रूप में जाता है। जो कि अपने साझे हितोंनैतिक , ‘ नियमों पर परस्पर सहमति करते हैं। रॉल्स ने अपनी रचनाद लॉ ऑफ पीपुल्स) ’1999में वैश्विक न्याय की धारणा को अपनी (‘ पहली पुस्तकअ थियरी ऑफ जस्टिस ’से आगे बढ़ाया। इसके अंतर्गत उन्होंने कहा कि विभिन्न देशों के प्रतिनिधियों द्वारा एक ऐसी व्यवस्था का चयन किया जाएगा ,जिसमें किसी को यह ज्ञात नहीं होगा कि वे किसका प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। दूसरे शब्दों में , निर्णय अनभिज्ञता के आधार पर लिए जाएंगे। वे कांट की अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता की धारणा का समर्थन करते हैं। जिसमें राज्यों का मुख्य कर्त्तव्य संधियों का पालन करना तथा युद्ध को रोकना है। लेकिन इसका तात्पर्य संपत्ति का वैश्विक स्तर पर पुनर्वितरण करना बिल्कुल नहीं है। हम यह भी कह सकते हैं कि वैश्विक न्याय की धारणा स्वतंत्र राज्यों की व्यवस्था तक ही (परस्पर सहयोगियों) ‘ सीमित है। जिसे रॉल्स एकवास्तविक स्वपनलोक ’का नाम देते हैं। रॉल्स का मानना है कि विश्व बंधुत्व के समर्थक सभी व्यक्ति एक दूसरे के साथ मनुष्य होने के कारण न्याय की धारणा में सम्मिलित होते हैंन कि ए ,क जैसी जातिधर्म या वर्ग होने के कारण। , (गैर उदारवादी एवं गैर पश्चिमी) जो मर्यादित एवं अमर्यादित ,रॉल्स के न्याय का मुख्य लक्ष्य एक ऐसे सिद्धांत को निर्मित करना था

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

पर समान रूप से लागू हो सके। रॉल्स के मतानुसार उदारवादी लोगों को ऐसे लोगों का सम्मान करना चाहिए जो अपने नागरिकों को भले ही पूर्ण राजनीतिक समानता न देते होसंपत्ति तथा ,पर कुछ नीतियों पर उनकी सलाह अवश्य लेते हो और उन्हें स्वतंत्रता , जीवन जैसे अधिकारों की गारंटी देते हैं। मर्यादित समाजों द्वारा मानव अधिकारों की रक्षा करना आवश्यक है। इसकेपश्चात् रॉल्स इस बात पर बल देते हैं कि अमर्यादित लोगों के साथ कैसा व्यवहार किया जाए। ऐसे में विदेश नीति का प्रमुख लक्ष्य बोझिल समाज के लोगों को समाज की मुख्यधारा में लाना होगा। रॉल्स असमानता को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर समस्या नहीं मानते। वैश्विक गरीबी उन्मूलन को रॉल्स सभी देशों का सामूहिक कर्तव्य मानते हैं। अतः रॉल्स वैश्विक न्याय के संदर्भ में स्वयं को अंतर्राष्ट्रीय कानून मानवाधिकार एवं ,अंतर्राष्ट्रीय संधियों के अंतर्गत उत्तरदायित्वों तक सिमटे रहते हैं।

वैश्विक न्याय वरदान है या अभिशाप इस संदर्भ में लोगों के बीच काफी गलत धारणाएँ हैं। इस विषय में अमर्त्य सेन का मत है कि इसकी अच्छाइयों एवं बुराइयों की तरफ ध्यान देते हुए इसकी आवश्यकता के बारे में जरूर सोचना चाहिए। वैश्विक न्याय के अंतर्गत उचित न्याय एवं अवसरों के और अधिक उचित वितरण के स्थान पर एक संशोधित वैश्विक व्यवस्था का प्रयास होना चाहिए। अमर्त्य सेन वैश्वीकरण की समसामयिक विचारधारा में बदलाव करके वैश्विक पुनः वितरण न्याय की चर्चा करते हैं। गरीबी उन्मूलन एवं मानवाधिकारों के मध्य संबंधों पर विचार करते हुए सेन का मत है कि आर्थिक प्रगति तब तक उचित रूप में नहीं हो सकती जब तक कि वह नागरिक स्वतंत्रताओं अर्थात् विचार अभिव्यक्ति एवं सभा सम्मेलन करने की स्वतंत्रता से ,जुड़ी न हो।

यू) पी कि मानव विकास रिपोर्ट.डी.एन.1999(, में वैश्विक न्याय प्राप्त करने के संदर्भ में विचार प्रस्तुत किए गए हैं। जैसे अंतर्राष्ट्रीय निगमों के लिए वैश्विक आचार संहिता हो जिससे पर्यावरण तथा श्रम से संबंधित कायदे कानूनों का पालन हो सके। विश्व व्यापार संगठन के लिए एकाधिकार विरोधी शक्ति सहित नए कायदे कानूनों को लाया जाए। जिससे वे बहुराष्ट्रीय निगमों को उद्योगों पर अपना नियंत्रण जमाने से रोका जाए। वैश्विक केंद्रीय बैंक गरीब देशों को ऋण देने व वित्तीय बाजार को नियमित करने में उनकी सहायता करें। कई गैर सरकारी संस्थाएँ वैश्विक अर्थव्यवस्था में सुधार लाने के लिए प्रयासरत हैपरंतु ऐसा तभी संभव हो सकता है , जब ये संस्थाएँ तानाशाह पूर्ण रवैया छोड़कर लोकतांत्रिक स्तर पर काम करें। इसी तरह वे राज्य जो वितरणात्मक न्याय के सिद्धांतों के साथ जुड़ना चाहते हैंवे अपनी प्रभुसत्ता का बलिदान करने के लिए तैयार हो। ,

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया में न्याय को राष्ट्रराज्यों की सीमाओं से बाहर निकालकर - अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र की सीमाओं तक पहुँचा दिया गया है। राष्ट्र ,राज्य किस पद्धति से अपने नागरिकों को न्याय प्रदान करते हैं- ये बेशक सरल प्रसन्न हो परंतु वैश्विक न्याय कैसे प्राप्त किया जाए यह सवाल ही बड़ा कठिन है। इसका ,उसको प्रोत्साहित करते हैं प्रमुख कारण यह भी हो सकता है कि वैश्विक न्याय के लिए सामाजिकआर्थिक एवं राजनीतिक सुधारों की आवश्यकता होती है। , जिसके अंतर्गत विकासशील देशों कीअंतर्राष्ट्रीय आर्थिक नीति निर्माण में हिस्सेदारी में वृद्धि आवश्यक है। वस्तुओं के आदान--प्रदान के अलावा मानसिक विचारों के आदानप्रदान की जरूरत है। नागरिक अधिकारों की तरह इनके प्रमुख मुद्दे भी वैश्विक है , पर्यावरण ह्रास एवं एड्स इत्यादि। वास्तव में वैश्विक न्याय हम सबकी साझी जिम्मेदारी है। ऐसे में ,जैसे मानवाधिकारों का दुरुपयोग राज्य अपनी प्रभुसत्ता का त्याग कर दे तो नि-यदि राष्ट्रश्चय ही वस्तुओं के आवंटन की संभावना बनी रहेगी।

2.6 अधिकार

अधिकारों को सामान्य अर्थ में उन सामाजिक दावों के नाम से जाना जाता है, जो व्यक्ति को उनके सर्वोत्तम विकास आदि सिद्ध करने में मदद करते हैं और उनको अपनी निजी पहचानों को विकसित करने में सहायता करते हैं। राज्य कभी भी अधिकार प्रदान नहीं करता, वह केवल उन्हें मान्यता देते है, सरकारें कभी अधिकार प्रदान नहीं करती, वे सिर्फ उन्हें संरक्षण देती है। अधिकार

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

समाज से, विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियों से उद्भूत (उत्पन्न) होते है, और इसी कारण अधिकार हमेशा सामाजिक होते हैं। अधिकार व्यक्तियों के अधिकार होते है, वे व्यक्तियों से ही संबंध रखते है, वे व्यक्तियों के लिए ही अस्तित्व रखते हैं, इनका व्यवहार उनके द्वारा इसलिए किया जाता है ताकि वे अपनी निजी पहचानों का सम्पूर्ण विकास कर सकें।

जब हम व्यक्ति और राज्य के परस्पर संबंध की बात करते हैं तब दो बातें सामने आती है– पहली, व्यक्ति को राज्य से क्या प्राप्त होना चाहिए– ये उसके अधिकार है– दूसरी, व्यक्ति को राज्य के लिए क्या-क्या करना चाहिए– ये उसके कर्त्तव्य हैं। संक्षेप में, अधिकार राज्य के अन्तर्गत व्यक्ति को प्राप्त होने वाली ऐसी अनुकूल परिस्थितियों और अवसर हैं जिनसे उसे आत्म-विकास में सहायता मिलती है। हेराल्ड जे. लास्की के अनुसार, ''अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियाँ हैं जिनके बिना आम तौर पर कोई व्यक्ति पूर्ण आत्म-विकास की आशा नहीं कर सकता।''

अर्नेस्ट बार्कर के विचारानुसार, ''अधिकार न्याय की उस सामाजिक व्यवस्था का परिणाम है जिस पर राज्य और उनके कानून आधारित है।'' वास्तव में अधिकार इस बात का प्रमाण है कि राज्य में व्यक्ति की गरिमा को स्वीकार नहीं किया जाता, उसमें व्यक्ति के कोई अधिकार नहीं होते। फिर भी, किसी राज्य में कुछ वर्गों को अधिकारों से वंचित रखा जा सकता था। उदाहरण के लिए, प्राचीन यूनानी नगर-राज्यों में केवल स्वतंत्रजनों (Freemen) को ही नागरिक अधिकार प्राप्त थे, और वहाँ दासों, स्त्रियों तथा विदेशीयों को कोई अधिकार प्राप्त नहीं थे। जाहिर है, ऐसी अधिकार व्यवस्था न्याय की भावना पर आधारित नहीं होती।

अधिकार लोगों को व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के अवसर उपलब्ध कराने के अलावा राज्य की गतिविधियों पर कुछ महत्त्वपूर्ण सीमाएँ भी तय करता है। संयुक्त राज्य अमरीका के संस्थापकों द्वारा की गई स्वतंत्रता की घोषणा, जिसमें कहा गया कि कुछ अधिकार अहस्तांतरणीय होते हैं तथा नागरिकों और पुरुषों के अधिकारों को फ्रांसीसी घोषणा, आधुनिक युग के दो प्रभावी राजनीतिक दस्तावेज हैं।

ये दस्तावेज अधिकारों की अवधारणा को एक ऐसी केंद्रीय अवधारणा के रूप में स्वीकार करते हैं। जिनके आधार पर राजनीतिक संगठनों का निर्माण होता है। यह सामान्यतः स्वीकार किया गया है कि अधिकारों से जुड़े मामले किसी समाज के राजनीतिक जीवन में केंद्रीय भूमिका निभाते हैं। ऐतिहासिक रूप से देखने पर यह स्पष्ट होता है कि अधिकारों में बढ़ती दिलचस्पी केवल 17वीं और 18वीं शताब्दी तक ही सीमित नहीं है बल्कि 19वीं शताब्दी के उत्तरार्थ में मानव अधिकारों की अवधारणा में बढ़ती दिलचस्पी का पुनः उत्थान देखने को मिलता है। 1960 के बाद से नागरिक अधिकार आन्दोलन ने अधिकारों को समाज के पुनर्निर्माण के लिए एक प्रमुख स्तंभ के रूप में अपनाया। हाल ही की समकालीन बहस महिलाओं तथा वंचित अल्पसंख्यकों से जुड़े मुद्दे केंद्रीय मंच पर आ गए हैं। यहाँ तक कि हमारे समय में अपनी इच्छा से मृत्यु के अधिकारों के सवाल पर भी गर्मागर्म चर्चा जारी है। इसी प्रकार आज के समय में यौन अल्पसंख्यक–एल.जी.बी.टी. समुदाय अधिकारों के मुद्दे ने अल्पसंख्यकों के अधिकारों में नया आयाम जोड़ दिया है। आज अधिकारों की चर्चा के केंद्रीय मंच पर मानव अधिकारों से संबंधित चर्चाए है। वर्तमान समाज में अधिकारों से संबंधित चर्चा इतनी आकर्षक हो गई है कि अधिकारों की भाषा नैतिक परिवर्तन के लिए सबसे सशक्त भाषा बन गई है, न केवल वर्तमान में बल्कि निकट भविष्य में भी। इस इकाई में हम अधिकारों की विभिन्न अवधारणाओं को समझने का प्रयास करेंगे जिसके अंतर्गत प्राकृतिक, नैतिक व कानूनी अधिकारों पर विशेष महत्त्व दिया जायेगा साथ के साथ है इस इकाई में अधिकार व दायित्वों के सम्बंधों को भी उजागर करने का प्रयास किया जायेगा। यह इकाई मानवाधिकारों कि संकल्पना को भी समाहित करती है जो समकालिन विश्व में बहस का विषय बना हुआ है। सन् 1948 में संयुक्त राष्ट्र के 'मानव अधिकारों का सर्वव्यापक घोषणा-पत्र' ने मानव अधिकारों की एक नई धारणा का प्रतिपाद किया जो वस्तुतः पश्चिमी देशों की देन थी परन्तु जो धीरे-धीरे एशिया और अफ्रीका के देशों में भी फैल गई है और समकालीन राजनीतिक चर्चा का एक विवादस्पद विषय बनी हुई है।

© DDCE/COL/SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

2.6.1 अधिकारों की प्रकृति

व्यक्तियों व राज्यों के बीच संबंध राजनीति सिद्धान्त का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न रहा है, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसने युगों से राजनीति-दार्शनिकों को आपस में विवादित बना दिया है। उन्होंने तर्क-विर्तक किया है कि कौन-सा अधिकार महत्त्वपूर्ण है– राज्य या व्यक्ति और कौन किसके लिए किस बात का ऋणी है। व्यापक स्तर पर अधिकार उन 'अवसरों का समूह' है जो मानव व्यक्तित्व की संवृद्धता सुरक्षित करते हैं। यह अच्छे जीवन की वे मौलिक शर्ते हैं जिन्हें राज्य की मान्यता प्राप्त होती है। लास्की के अनुसार, 'अधिकार मानव जीवन की वे परिस्थितियाँ है जिनके अभाव में, सामान्यतः व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का सर्वोत्तम विकास नहीं कर सकता।' सालमंड के अनुसार, 'कानूनी अधिकार एक ऐसा हित है जो कानून के शासन द्वारा मान्य और सुरक्षित किया जाता है, और जिसका आदर करना एक कानूनी कर्त्तव्य है।' बोसांके के अनुसार, 'अधिकार व्यक्ति का एक ऐसा दावा है जिसे समाज द्वारा मान्यता दी जाती है और राज्य द्वारा लागू किया जाता है। (समलैंगिकता) बार्कर के अनुसार, 'व्यक्ति के व्यक्तित्व और शक्तियों के विकास में सहायता करना राज्य का परम उद्देश्य और सर्वोच्च राजनीतिक मूल्य है। राज्य के कानून उतने समय तक ही ठीक है और न्यायसंगत होते हैं जहाँ तक ये लोगों को अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिए बाह्य परिस्थितियों की सुरक्षा की गारंटी देते हैं। राज्य द्वारा ये सुनिश्चित की गई और गारंटी दी गयी परिस्थितियाँ ही अधिकार होते हैं।'

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम अधिकारों की प्रकृति के बारे में कुछ सामान्य निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

अधिकार किसी भी समाज की उचित अथवा न्यायसंगत सामान्य व्यवस्था का परिणाम होते हैं जिन पर राज्य और कानून आधारित होते हैं। समाज में 'उचित अथवा न्यायपूर्ण' की धारणा के बिना हम अधिकारों की कल्पना नहीं कर सकते। कानूनी दृष्टिकोण से सुरक्षित अधिकार तब तक न्यायपूर्ण नहीं हो सकते जब तक उस कानून का आधार उचित नहीं होगा जिस पर वे आधारित है। अधिकार व्यक्ति की समाज से वे माँगे होती है जिन्हें कानून सुरक्षित करता है क्योंकि ये वे माँगे होती है जिन्हें कानून सुरक्षित करता है तथा ये व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक होती है।

अधिकारों की दूसरी प्रकृति इनके स्रोत से जुड़ी हुई है। इसके दो स्रोत है– पहला स्रोत स्वयं व्यक्ति का व्यक्तित्व हैं। अधिकार व्यक्ति के नैतिक व्यक्तित्व तथा उसकी सामाजिक प्रकृति के परिणाम हैं। इस संदर्भ में अधिकारों को प्राकृतिक अथवा मानवीय भी कहा जा सकता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व में निहित होने के बावजूद भी यदि राज्य उन्हें अपने कानून के माध्यम से सुरक्षित तथा लागू नहीं करता तो ये अधिकार प्राप्त नहीं हो सकते। अतः अधिकारों के दो स्रोत है– पहला, व्यक्ति का व्यक्तित्व तथा उसके विकास की शर्त, दूसरा, राज्य तथा उसके कानून जो इनकी सुरक्षा और कार्यान्वयन करते हैं।

सामाजिक स्तर पर अधिकारों को मानवीय संबंधों से जोड़ा जाता है। सामाजिक कल्याण के लिए अधिकार कुछ मौलिक नियमों के पालन की माँग करता है। अधिकार कभी भी असीमित तथा निरंकुश नहीं होते हैं। ये व्यक्ति से कुछ नैतिक कर्त्तव्यों की अपेक्षा भी करते हैं। अधिकारों का उपभोग करते हुए व्यक्ति को यह ध्यान रखना चाहिए की उसके द्वारा दूसरे के अधिकार प्रभावित नहीं हो रहे हों। अतः अधिकारों का उपभोग इस दृष्टिकोण से होना चाहिए कि वे व्यक्तिगत हित के साथ-साथ सामाजिक हित में भी वृद्धि करें।

सामाजिक और आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप समाज में कई नई माँगे उभर कर आती हैं जो समय-समय पर अधिकार के रूप में मान्यता प्राप्त करवाने के लिए संघर्ष करती है। इसलिए अधिकार परिवर्तनशील है। जब इन माँगों को राज्य के कानून की सुरक्षा की गारंटी मिल जाती है तो वे अधिकार बन जाते हैं।

ज्यादातर अधिकार समय और परिस्थितियों से सीमित होते हैं, क्योंकि उनकी वास्तविकता एक विशेष प्रकार के मानव समाज में ही होती है। उदाहरण के लिए भारतीय नागरिकों द्वारा प्राप्त अधिकार न तो स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले थे और न ही आने वाले अगले

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

सौ सालों तक आज की भाँति रहेंगे। इसमें कोई शक नहीं कि कुछ अधिकार सर्वव्यापी होते हैं परंतु उनका कार्यान्वयन कैसे हो– यह एक विवाद का विषय है। इसकी चर्चा मानवाधिकार के उपखण्ड में की जायेगी।

2.6.2 नकारात्मक और सकारात्मक अधिकार

राज्य में व्यक्ति की जिन गतिविधियों पर राज्य की ओर से कोई प्रतिबंध नहीं होता, उन्हें नकारात्मक अधिकार की श्रेणी में रखा जा सकता है। उदाहरण के लिए साधारणतः विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार। यह इसका अर्थ यह है कि राज्य की ओर से व्यक्ति की इन गतिविधियों पर कोई रोक नहीं लगाई जाएगी, अतः यह एक नकारात्मक अधिकार है।

सकारात्मक अधिकार का अर्थ है कि व्यक्ति को आत्म विकास में सहायता देने के लिए राज्य की ओर से क्या-क्या व्यवस्था की गई है? उदाहरण के लिए शिक्षा की व्यवस्था करना सकारात्मक अधिकार है। रोजगार, कानूनी सहायता इत्यादि भी सकारात्मक अधिकारों की श्रेणी में आता हैं।

पूँजीवादी राज्य (उदारवादी राज्य) में नकारात्मक अधिकारों पर विशेष बल दिया जाता है, जबकि समाजवादी राज्य में सकारात्मक अधिकारों का पक्ष लिया जाता है। कल्याणकारी राज्य (नव उदारवादी राज्य) के अंतर्गत नकारात्मक अधिकारों के साथ-साथ यथासंभव सकारात्मक अधिकारों की व्यवस्था भी की जाती है।

2.6.3 अधिकारों का औचित्य

जब हम अधिकारों के औचित्य पर विचार करते हैं तो प्रश्न उठते हैं कि अधिकारों का औचित्य क्या है? अधिकारों का सम्मान क्यों किया जाना चाहिए? इस संदर्भ में दो सिद्धान्त प्रचलित हैं जिन्हें नीति शास्त्रीय या प्रतिष्ठा सिद्धान्त तथा परिणाम या यान्त्रिक सिद्धान्त कहा जाता है।

प्रतिष्ठा सिद्धान्त का मानना है कि मानव में कुछ अन्तर्निहित विशेषतायें है जो अधिकारों को सम्मान उपयुक्त बनाती हैं। इसके विपरीत यान्त्रिक सिद्धान्त का विश्वास है कि किसी भी अधिकार के लिए सम्मान इसलिए है क्योंकि यह हितों के अधिकतम वितरण को पूरा करता है। प्रतिष्ठा सिद्धान्त की जड़े प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त की परम्परा में है। सभी प्राकृतिक सिद्धान्तकार यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य की कुछ ऐसी जन्मजात विशिष्टायें हैं जो इन अधिकारों को उचित बनाती है, व्यक्ति की ये विशेषतायें विवेक, बुद्धि पर आधारित है। प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त आधुनिक युग में ग्रोशियस, हॉब्स, लॉक तथा रूसों के विचारों के परिणामस्वरूप अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया। इसके विपरीत, यान्त्रिक सिद्धान्तकार अधिकार को अपने हितों के सर्वोत्तम वितरण प्राप्त करने का एक साधन मानते हैं। परंतु यह सर्वोत्तम वितरण क्या है, यह विवाद का विषय है। उदाहरण के लिए शल्स का सिद्धान्त एक ऐसा सर्वोत्तम वितरण को उचित मानता है जो 'मूल स्थिति' के परिप्रेक्ष्य से चुना गया हो। अमृत्य सेन ने कुछ ऐसी व्यवस्थाओं का विकास किया है जो यान्त्रिक अधिकारों को केन्द्रीय स्थान देते हैं। निष्कर्षः अधिकारों के औचित्य में परिणामों की भूमिका में दोनों दृष्टिकोणों में काफी मतभेद हैं। प्रतिष्ठा सिद्धान्त का मानना है कि अधिकारों का सम्मान किया जाना चाहिए क्योंकि ये सम्मान के योग्य है, इसलिये नहीं कि इनमें से कोई अच्छे परिणाम निकलेंगे। इनके लिए अधिकार अच्छे परिणामों के प्रोत्साहन का साधन नहीं है। नॉजिक के शब्दों में, अच्छे परिणामों की प्राप्ति के लिए ये गौण प्रतिबंध है। इसके विपरीत यान्त्रिक सिद्धान्त में अधिकारों का प्रावधान एवं कार्यान्वयन का केवल एक औचित्य उनसे प्राप्त होने वाले अच्छे परिणाम है।

2.6.4 अधिकारों की परिकल्पनाएँ

अधिकारों के ऐसे अनेक सिद्धान्त है जो उनकी प्रकृति, उत्पत्ति और अर्थ स्पष्ट करते हैं। नैसर्गिक अधिकारों की परिकल्पना अधिकारों का वर्णन प्रकृति रूप में करती है, आदर्शवादी / नैतिक परिकल्पना वैध-अधिकार सिद्धांत की ही भाँति, अधिकारों का

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

संबंध सिर्फ राज्य से जोड़ती है तथा कानूनी अधिकारों की परिकल्पना अधिकारों को विधि-संगत रूप से पहचानती है। पाठ्यक्रम से अलग अन्य परिकल्पनाएँ भी है जैसे ऐतिहासिक परिकल्पना अधिकारों को परम्पराओं व प्रथाओं के परिणाम रूप से सुनिर्दिष्ट करती है, अधिकारों की समाज-कल्याण परिकल्पना अधिकारों को समाज-संबंधी मानती है जो कि व्यक्ति व समाज दोनों के हित में व्यवहार करती है।

अधिकारों की धारणा का विकास आधुनिक राष्ट्र-राज्य के उदय तथा मध्यकालीन सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था के विरुद्ध तीखी प्रतिक्रिया और आलोचना के संदर्भ में हुआ। इन्हें प्राप्त करने के तरीके उग्रवादी थे तथा इनकी विषयवस्तु क्रांतिकारी थी। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से व्यक्तिगत अधिकारों की माँग सर्वप्रथम औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आये मध्यवर्ग ने उठाई। अमेरिका और फ्रांस के क्रांतिकारियों की यह मौलिक विचारधारा थी जिसे बाद में अमेरिका के Bill of Right तथा फ्राँस के Declaration of Right of Man in France के माध्यम से साकार किया गया। लॉक जैसे प्रारंभिक विचारक से लेकर बैंथम, रूसो, जे.एस.मिल, टी.एच.ग्रीन, लास्की, बार्कर ने किसी न किसी आधार पर अधिकारों की माँग को उचित ठहराया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अधिकारों की धारणा का विकास रॉल्स, नॉजिक, डोरकिन तथा कई अन्य लेखकों के माध्यम से हुआ है।

प्राकृतिक अधिकार

प्राकृतिक अधिकारों का परिकल्पना अधिकारों के विभिन्न सिद्धान्तों में सबसे पहला और सबसे प्राचीन है। जॉन लॉक ने 1690 में प्रकाशित अपने लेख सेकेंड ट्रीटीज ऑन सिविल गवर्नमेंट में प्राकृतिक अधिकारों पर सबसे प्रभावी वक्तव्य दिया था। लेकिन उससे पहले प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत का प्रस्तुतिकरण थॉमस हॉब्स के द्वारा किया जा चुका था। प्राकृतिक अधिकारों से संबंधित उसके विचारों को उसके द्वारा प्रतिपादित 'प्राकृतिक अवस्था' नामक उसकी अवधारणा से समझा जा सकता है। इसका अर्थ व्यवस्थित राजनीतिक संस्था और सरकार की अनुपस्थिति में मानव जीवन की अवस्था से है। दूसरे शब्दों में, एक सरकार के अधीन कृत्रिम परिस्थितियों के विपरीत मानव की प्राकृतिक अवस्था। हॉब के अनुसार, प्राकृतिक अधिकार जिसे उसने 'जस नैचुरलिस' कहा है।

प्राकृतिक अधिकारों के प्रमुख समर्थक जॉन लॉक ने घोषणा की कि 'व्यक्ति कुछ जन्मजात अधिकारों के साथ पैदा होता है। ये अधिकार व्यक्ति में अंतर्निहित होते हैं। अर्थात, ये समाज अथवा राज्य पर निर्भर नहीं होते। ये अधिकार ईश्वर अपने बच्चों को देता है जैसे वह उन्हें आँख, कान, हाथ आदि देता है। अधिकार व्यक्ति की अंतर्निहित और जन्मजात शक्ति है।' किसी भी राज्य द्वारा प्रदान किये जाने वाले अधिकार वास्तव में व्यक्ति के अपने प्राकृतिक अधिकार ही है और वह जहाँ भी रहे, अधिकारों से उसे कोई वंचित नहीं कर सकता क्योंकि ये किसी संस्था या समूह की देन नहीं हैं। प्राकृतिक अधिकारों का स्रोत प्राकृतिक कानून को माना जाता है। यह सिद्धांत समझौतावादी लेखकों- हॉब्स, लॉक, रूसों आदि ने प्रचलित किया। इन लेखकों का विचार था कि राज्य की उत्पत्ति से पहले व्यक्ति की उत्पत्ति के बाद उसने इसमें से कुछ अधिकार समाज को सौंप दिये ताकि वह विशेष अधिकारों की गारंटी ले सके। प्रकृतिक अधिकारों के संदर्भ में विभिन्न विचारकों के मत अलग-अलग है। जहाँ हॉब्स केवल जीवन के अधिकार को ही प्राकृतिक अधिकार मानते हैं। वहीं लॉक ने जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति के तीन अधिकारों को प्राकृतिक अधिकारों की श्रेणी में रखा है। रूसों ने स्वतंत्रता और समानता के अधिकारों को प्राथमिकता दी है। इन विचारकों का मत है कि व्यक्ति इन अधिकारों को राज्य को नहीं दे सकता है। वह राज्य जो लोगों के इन अधिकारों को छीनने का प्रयत्न करता है, अथवा ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करता है जहाँ लोग नागरिक न रहकर दासता की स्थिति में आ जाते हैं। संक्षेप में, प्राकृतिक अधिकार वे है जिनके लिए व्यक्ति राज्य पर निर्भर नहीं है, बल्कि राज्य का निर्माण इन अधिकारों की रक्षा के लिए हुआ है।

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

प्राकृतिक अधिकारों की आलोचना

प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त की विभिन्न विचारकों द्वारा आलोचना की गई। बैंथम ने ऐसे सभी अधिकारों की आलोचना की जो राज्य से पहले है या उसके विरुद्ध है। प्राकृतिक अधिकारों की निम्न आधार पर भी आलोचना की जाती है।

- यदि व्यक्ति के अधिकार असीमित और निरंकुश हैं तो हम व्यक्ति और समाज के विरोधाभास को हल नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए किसी अकाल अथवा महामारी की स्थिति में, यदि एक व्यक्ति अनाज इकट्ठा कर लेता है और माँगने पर भी दूसरों को नहीं देता है तो इसकी वजह से दूसरे के जीवन के अधिकार का हनन हो सकता है। और यदि लोग जबरदस्ती छीनते हैं तो उसका संपत्ति का अधिकार खतरे में आ जाता है। अर्थात् यदि दो प्राकृतिक अधिकार आपस में टकरा जायें तो उनके समाधान का कोई नियम नहीं है।
- विभिन्न विचारकों में 'प्राकृतिक' का अर्थ से लेकर भी आलोचना की है। इनका कहना है कि कोई भी व्यक्ति प्रकृति का कुछ भी अर्थ लगा सकता है जैसे, प्राकृतिक 'ब्रह्मांड' के अर्थ में, इस संसार के गैर-मानवीय भाग के रूप में इत्यादि। परिणामस्वरूप प्राकृतिक अधिकारों की धारणा विभिन्न रूपों में अस्पष्ट सी रही है।
- कोई भी अधिकार बिना किसी कानून के नहीं हो सकते। अधिकार कुछ कर्त्तव्यों की अपेक्षा भी करते हैं। ये कुछ मानवीय संबंधों का निर्माण भी करते हैं जिन पर कर्त्तव्य टिके रहते हैं। ग्रीन लिखते हैं कि, 'प्रत्येक अधिकार को अपना औचित्य समाज के कुछ ऐसे लक्ष्यों के संदर्भ में सिद्ध करना होता है जिनके बिना अधिकारों को प्राप्त नहीं किया जा सकता।'
- व्यक्ति और समाज को अलग करके प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त उन सभी आधारों को ही पृथक् कर देता है, जिन पर इनका औचित्य है। प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त मान कर चलता है कि अधिकार और कर्त्तव्य समाज से स्वतंत्र है। परन्तु यह गलत धारणा है क्योंकि अधिकार का सवाल केवल समाज और सामाजिक संदर्भों में ही पैदा होती है।

कानूनी अधिकार

इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार राज्य की देन हैं। कानून के विधि निषेध ही अधिकार और गैर-अधिकार की परिभाषा है। कोई भी अधिकार निरंकुश नहीं है सभी अधिकार देश-काल के कानून से बँधे हुए है। जब तक राज्य किसी अधिकार को मान्यता नहीं देता तब तक उसे किसी भी अर्थ में अधिकार नहीं माना जा सकता है। कानूनी अधिकार का सिद्धान्त प्राकृतिक अधिकार के सिद्धान्त के विपरीत है। इसके समर्थक यह तर्क देते हैं कि यदि तथाकथित प्राकृतिक अधिकार कानूनी अधिकारों के अनुरूप हो तो फिर कानून की जरूरत ही क्या है? और यदि प्राकृतिक अधिकार कानूनी अधिकार के विरुद्ध है तो इसका फायदा क्या है? इस सिद्धान्त के अंश हमें हॉब्स के चिंतन से मिलते हैं जिसका विचार था कि प्रत्येक व्यक्ति को आत्मसुरक्षा का प्राकृतिक अधिकार है परन्तु यह अधिकार केवल राज्य द्वारा ही उत्तम तरीके से सुरक्षित किया जा सकता है। बैंथम के अनुसार अधिकारों का आधार केवल कानून ही है जो स्वयं उपयोगिता की धारणा पर आधारित होते हैं। बैंथम ने प्राकृतिक अधिकारों को 'बैसाखियों पर टिकी महामूर्खता' की संज्ञा दी।

कानूनी अधिकार के सिद्धान्त की तीन विशेषतायें होती है–

(क) राज्य अधिकारों को परिभाषित करता है और उन्हें एक मान्यता के रूप में सुनिश्चित करता हैं। अधिकार राज्य के पहले नहीं बल्कि राज्य ही अधिकार का स्रोत है।

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

(ख) राज्य वह कानूनी और संस्थात्मक ढाँचा भी प्रदान करता है जो इन अधिकारों के उपयोग के लिए आवश्यक होता है। राज्य इन अधिकारों को लागू भी करता है।

(ग) अधिकारों की रचना और कार्यान्वयन राज्य करता है, अतः जब भी कानून में परिवर्तन आता है तो अधिकारों में भी परिवर्तन आता है।

कानूनी अधिकार की आलोचना

- कानूनी अधिकारों की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि उस सिद्धान्त ने सभी अधिकारों को अपने सिद्धान्त में शामिल नहीं किया है। यह केवल उन्हीं अधिकारों का वर्णन करता है जिन्हें राज्य अपने कानून से मान्यता तथा सुरक्षा प्रदान कर चुका है।
- यह सिद्धान्त इस दृष्टिकोण से भी अधूरा है कि इसने यह बात स्पष्ट नहीं की कि जिन अधिकारों को सुरक्षित किया जा रहा है वे वास्तव में उचित है, न्यायसंगत हैं अथवा उन्हें सचमुच मान्यता की आवश्यकता है। यह सिद्धान्त मानकर चलता है कि राज्य ने जिसे मान्यता दे दी केवल वही उचित है।
- इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए लास्की ने लिखा, लोग अधिकारों का प्रयोग केवल राज्य के सदस्य के रूप में ही नहीं करते बल्कि समाज के सदस्य के रूप में भी करते हैं। अतः अधिकारों को राज्य तक ही सीमित नहीं किया जा सकता है।
- राज्य अधिकारों का निर्माण नहीं करता। राज्य केवल उन्हें मान्यता और संरक्षण प्रदान करता है। अर्थात् अधिकारों का अस्तित्व रहता ही है, चाहे राज्य उन्हें मान्यता दे या न दे।
- यदि राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त अधिकारों को ही सर्वोपरी मान लिया जाए तो राज्य के विरुद्ध अधिकार ही नहीं होगा। इससे राज्य निरंकुश रूप धारण कर सकता है।

नैतिक अधिकार

इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार व्यक्ति के अंतःकरण द्वारा लागू होते हैं। यद्यपि अधिकारों का नैतिक सिद्धांत आदर्शवाद के साथ जुड़ा हुआ है, तथापि टी.एच. ग्रीन ने इसे उदारवाद के साथ जोड़ दिया है। इनसे प्रभावित होकर ही लास्की ने यह तर्क दिया है कि अधिकार राज्य की देन नहीं है, बल्कि उनका स्थान राज्य की सत्ता से ऊंचा है। लास्की का मुख्य सरोकार अधिकार के नैतिक आधार से है। लास्की के शब्दों में, "अधिकार वास्तव में सामाजिक जीवन की वह परिस्थितियाँ है जिनके बगैर कोई मनुष्य पूर्ण आत्म-विकास नहीं कर सकता।" राज्य का लक्ष्य भी इस विचार को साकार करना है और इसकी पूर्ति के लिए अधिकारों की रक्षा करना अनिवार्य है। अतः अधिकार इस अर्थ में राज्य से पहले आते हैं कि चाहे राज्य उन्हें मान्यता दे या न दें, राज्य इन्हीं से अपनी वैधता करता है।

नैतिक सिद्धान्त अधिकारों को उस नैतिक स्वतंत्रता के साथ जोड़ता है जो व्यक्ति समाज का एक सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है। इस संदर्भ में चाहे अधिकार जीने का हो या स्वतन्त्रता, संपत्ति, शिक्षा अथवा स्वास्थ्य का, ये सभी अंततोगत्वा व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास से ही प्रेरित होते हैं। इसलिए अधिकार वे शक्तियाँ हैं, जिनकी व्यक्ति समाज से नैतिक स्तर पर मांग करता है। अधिकार

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

प्राकृतिक न होकर कुछ आदर्श होते हैं इसलिए जैसे-जैसे समाज की सामूहिक चेतना में परिवर्तन आता रहता है ये अधिकार भी समय और परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं। नैतिक धारणा के अनुसार अधिकारों का आधार प्राकृतिक अथवा कानूनी न होकर नैतिक मूल्य होते हैं।

2.6.5 अधिकार व दायित्व

इस बात पर पर्याप्त बल देना आवश्यक है कि अधिकारों के साथ-साथ उनके कर्तव्य व दायित्त्व भी जुड़े हुए हैं। इन दोनों में सह-संबंध व्याप्त है। नागरिकों के अधिकार व कर्तव्य वास्तव में एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इन दोनों में दो प्रकार के संबंध दिखाई देते हैं।

प्रथम, कोई भी समाज पारस्परिकता के सिद्धांतों पर ही क्रियाशील हो सकता है। उदाहरण के लिए– हमारे अधिकारों के संदर्भ में समाज का यह दायित्व है कि वह उन्हें यथोचित सम्मान दे। इसके साथ ही हमारा भी कर्तव्य बन जाता है कि हम दूसरों के ऐसे ही अधिकारों को समान मान्यता प्रदान करे। समाज इस सिद्धांत पर कार्य करता है कि "जो पाता है वह देता है और जो देता है वह पाता भी है।" वास्तव में हमारा अधिकार समाज के सभी सदस्यों के सामूहिक कल्याण का एक अटूट हिस्सा है। इस कारण किसी अधिकार विशेष संबंधी हमारे उपभोग का अनुपात अनिवार्यतः इस तथ्य पर टिका होता है कि समाज के अन्य सदस्य इस अधिकार का उतना ही उपभोग कर पाते हैं अथवा नहीं। हमारे अधिकार इस अर्थ में समाज के अन्य सभी सदस्यों के उक्त अधिकार से अटूट रूप से जुड़े हुए है। एक पक्ष दूसरे के बिना अस्तित्व में रह ही नहीं सकता। किसी समाज में जहाँ लोग अपने कत्तव्यों पर उतना ध्यान नहीं देते जितना कि अपने अधिकारों पर, वह समाज कभी-कभी विघटित हो जाता है। दूसरे व्यक्तियों के मूल्य पर उनके स्वयं के अधिकारों को अक्षुण्ण बनाए रखने संबंधी उनके निरंतर प्रयास वास्तव में उस समाज को एक ऐसे जंगल के रूप में बदल देते हैं जिसमें अंततः 'बल का कानून' ही हावी हो जाता है। हर कोई अपने अधिकारों का समान उपभोग कर सके, इसके लिए यह आवश्यक है कि हम दूसरे के प्रति अपने दायित्व व कर्तव्यों को सहज स्वीकार करें। हम यह बिल्कुल नहीं कह सकते कि हम तो हर प्रकार से मुक्त रहेंगे, जबकि अन्य सभी लोग अपने दायित्वों के बंधनों से जकड़े रहेंगे। ऐसी कोई भी मान्यता न केवल संगतहीन है बल्कि अमानवीय भी है।

द्वितीय, अधिकारों व कर्तव्यों के तर्क का यह भी निहितार्थ है कि यदि राज्य के विरुद्ध हमारे कोई दावे हैं तो उसकी समृद्धि की दिशा में हमारे कुछ उत्तरदायित्व भी हैं। इन दायित्वों का निर्वाह हम ऐसे कार्यों द्वारा करते हैं जो सामाजिक दृष्टि से उपयोगी होते हैं। राज्य उन स्थितियों का निर्माण करता है जिनमें हम अपने आपको सर्वाधिक उपयुक्त रूप से पा सकते हैं अर्थात अपने व्यक्तित्व व क्षमता का सर्वोत्तम विकास कर सकते हैं। इसके बदले हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम इन स्थितियों का सर्वोत्तम लाभ उठाएं और उनको अपना सर्वोत्कृष्ट योगदान दें। समाज को हमारा सबसे अच्छा योगदान केवल यही हो सकता है कि हम जीवन में अपने निर्दिष्ट स्थान पर रहते हुए अपना उत्तरदायित्व निभाएँ, अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों को स्वीकार करें तथा समाज के अन्य सदस्यों के अधिकारों को अपना पूर्ण सम्मान दें। समाज में कोई भी व्यक्ति प्रधानमंत्री के पुत्र अथवा कवि के रूप में ही अपना योगदान दे यह आवश्यक नहीं है। आवश्यक यह है कि वह अपने आपको स्वयं पहचानते हुए अपनी क्षमता व सामथ्र्य के आधार पर ईमानदारी से समाज को अपना योगदान दे। हममें से हर एक का यह कर्तव्य है कि हम हर स्थिति में अपने व्यक्त्वि का विकास करें ताकि हम समाज को सर्वोतम योगदान दे सकें। यह संभव है कि हम जीवन में पर्याप्त सफलता न पा सके लेकिन यदि हम समाज के प्रति अपने सक्षम योगदान की दिशा में गंभीर व निष्ठावान प्रयासों का पर्याप्त संकेत भी दे देते हैं तो हमारा कर्तव्य पूरा हो जाता है। हर नागरिक को उन स्थितियों और सवालों पर अपना मूल्यवान निर्णय देने के लिए तत्पर रहना चाहिए जिनका वह दैनिक जीवन में लगातार सामना करता है। उसे अनिवार्यतः राज्य को अपना कर देना चाहिए तथा किसी भी स्थिति में समाज के अन्य सदस्यों के समान अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप से बचना चाहिए। जब तक राज्य व्यक्तियों के सुख के अनुकूल वातावरण बनाने में मदद करता है

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

तब तक नागरिकों को भी एक कर्तव्य के रूप में कानून व व्यवस्था स्थापित करने में राज्य की आवश्यक सहायता करनी चाहिए। उनसे यह भी अपेक्षा की जाती है कि वे ईमानदारी से अपने सार्वजनिक दायित्वों का पालन करें, अपने देश को मजबूत बनाने में कोई कसर न उठा रखें और आवश्यकता पड़ने पर अपने देश की रक्षा के लिए तैयार रहें।

पारस्परिकता के बंधन में बंधे ये दायित्व व्यक्तियों के अधिकारों पर कोई पाबंदी नहीं लगाते। इसके विपरीत, वे उन्हें अधिक पूर्णता तथा अधिक वास्तविकता प्रदान करते हैं। यह सोचना कि हमारे अधिकार हमारे कत्तव्यों से अलग हो सकते हैं वास्तव में कोरा स्वार्थी होना है। समाज में रहते हुए जब हम सामाजिक दृष्टि से कोई उपयोगी कार्य करते हैं तो हमारा वही कार्य हमारे समाज को समृद्ध करता है। ऐसे राज्य में जहाँ नागरिक अपने अधिकारों की परवाह अधिक करते हैं और कत्तव्यों की कम, वहाँ खतरनाक स्थिति पैदा हो सकती है। वहाँ अराजकता उत्पन्न हो सकती है। जो अंततः राज्य को विघटित कर सकती है। हमारे अधिकारों के समुचित संरक्षण प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि पहले हम समाज को इस बात के प्रति आश्वस्त करें कि उन अधिकारों की सुरक्षा प्रदान करके समाज हमें वास्तव में लोककल्याण से प्रेरित भागीदारी के लिए ही तैयार कर रहा है। हमें समाज को यह समझाना ही होगा कि जब तक समाज हमारे अधिकारों की सुरक्षा नहीं करता तो वास्तव में वह हमें अभीष्ट मानव स्तर से गिरा देता है और उस सीमा तक वह हमें सामाजिक कल्याण को समृद्ध करने के अवसर से वंचित कर देता है। समाज के सदस्यों में व्याप्त वैयक्तिक कार्यों व सामाजिक कल्याण के उचित समीकरण द्वारा ही हम अधिकार के किसी वास्तविक सिद्धांत की रचना कर सकते हैं और समाज को उसकी स्थापना का ठोस आधार मिल सकता है।

2.6.7 बहस का विषय : मानव अधिकार-सर्वभौमिकता तथा सांस्कृतिक सापेक्षवाद

संयुक्त राष्ट्र आम सभा द्वारा 1948 से मानव अधिकारों की सर्वभौमिक घोषणा अस्तित्व में है। परंतु पिछले तीन दशको से एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा उभर कर सामने आया है जिसे मानव अधिकारों के सन्दर्भ में सर्वभौमिकता बनाम सांस्कृतिक सापेक्षवाद का नाम दिया जाता है। मानव अधिकारों से सम्बन्धित सभी समकालीन अध्ययनों में सांस्कृतिक सापेक्षवाद का एक अध्याय अवश्य होता है। जहाँ सर्वभौमिकता के सिद्धान्त का मानना है कि अन्य प्राचीन संस्कृतियाँ धीरे-धीरे पश्चिमी सभ्यता की तरह कानून एवं अधिकार का रूप धारण कर लेंगे वहीं संस्कृतिक सापेक्षवादियों का तर्क उल्टा है तथा वैसा ही दृढ़ है कि एक परम्परागत संस्कृति में परिवर्तन सम्भव नहीं है, कि प्रत्येक संस्कृति की अपनी कुछ मूलभूत धारणायें तथा गुण होते है, विशेषतः उनके विश्वास एवं मूल्य। सार्वभौमिकतावादी और सापेक्षवादी दोनों इस बात से सहमत है कि मुख्य मुद्दा यह है कि क्या मानव अधिकार पश्चिमी सभ्यता से जुड़े हुए हैं, परंतु इसका उत्तर वे अलग-अलग देते हैं।

मानव अधिकार सार्वभौमिक है

अधिकारों की सर्वभौमिक घोषणा-पत्र में तीन पीढ़ी के अधिकार निहित है। प्रथम नागरिक तथा राजनीतिक अधिकार, दूसरी, सामाजिक-आर्थिक तथा सांस्कृतिक अधिकार तथा तीसरी पीढ़ी के अधिकार सामूहिक अधिकार या सामुदायिक अधिकार है जैसे राष्ट्रों का विकास, या स्वच्छ पर्यावरण अधिकार। इन अधिकारों को सार्वभौमिक अधिकार कहा जाता है। घोषणा-पत्र में निहित की गई मानव अधिकारों की मूल धारणा यह थी कि ये सभी अधिकार प्रत्येक व्यक्ति के है चाहे उसकी समाज में स्थिति कैसी भी हो। सार्वभौमिकता की यह धारणा मानवाधिकार का आधार है। सार्वभौमिकतावादी लेखकों का मानना है कि कम से कम कुछ नैतिक निर्णय सर्वव्यापक दृष्टिकोण से वैध होते हैं। सार्वभौमिकता से अभिप्राय है कि ये किसी देश अथवा समाज की सांस्कृतिक सीमाओं से बंधे हुये नहीं हैं और न ही उनके द्वारा सीमित अथवा रद्द किये जा सकते हैं। मानव अधिकार के आधुनिक सार्वभौमिक

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

सिद्धान्त को प्राकृतिक कानून, न्याय, अन्याय के विरुद्ध प्रतिक्रिया, प्रतिष्ठा, समानता, सम्मान अथवा मानवीय चिन्ताओं पर आधारित किया जा सकता है।

विशेष बात यह है कि मानव अधिकारों की यह सर्वव्यापी धारणा पश्चिमी दर्शन एवं मूल्यों तथा व्यक्तिवाद पर आधारित है। संक्षेप में इस सिद्धान्त को इस प्रकार समझा जा सकता है, (क) सभी लोगों के अधिकार उनकी मानवता के गुणों के परिणामस्वरूप है, (ख) व्यक्ति के अधिकार उसके लिंग, राष्ट्रीयता अथवा प्रजातीय उत्पत्ति के साथ नहीं जुड़ हुए, (ग) मानव अधिकार सर्वव्यापी है और ये सर्वोच्च नैतिक अधिकार है अतः इन अधिकारों को किसी व्यक्ति अथवा संस्था के आधीन नहीं किया जा सकता।

सांस्कृतिक सापेक्षवाद

मानव अधिकारों के सार्वभौमिकता की आलोचना के एक महत्त्वपूर्ण पहलू को सांस्कृतिक सापेक्षवाद के नाम से जाना जाता है। इनका मानना है कि ऐसा कोई सार्वभौमिक अथवा निष्पक्ष मानदंड नहीं है जिससे दूसरों को नापा जा सके। सापेक्षवाद की धारणा ग्रीक सोफिस्ट प्रोटागोरस द्वारा आरम्भ की गई थी। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के समक्ष सांस्कृतिक सापेक्षवाद का मुद्दा पिछले कुछ दशकों में उभरा है तथा यह सबसे पहले आदा बोजमैन की पुस्तक "The Future of Law in a Multicultural World" में उठाया गया। सांस्कृतिक सापेक्षवाद का मानना है कि विभिन्न संस्कृतियों में अजेय विभिन्नता है क्योंकि प्रत्येक संस्कृति एक अद्वितीय सम्पूर्णता होती है। जिसके विभिन्न अंग एक दूसरे के साथ इस प्रकार जुड़ होते हैं कि उनमें से किसी एक भाग को अन्य भागों अथवा सम्पूर्ण, जिसे हम संस्कृति का प्रारूप भी कहते है, के अभाव में मूल्यांकन करना या समझना काफी मुश्किल होगा। यह सिद्धान्त इस बात का समर्थक है कि सभी संस्कृतियाँ बराबर है तथा सांस्कृतिक आदर्शों का मूल्यांकन करते समय सर्वव्यापी मूल्य गौण हो जाते हैं। एक स्थानीय संस्कृति के सामने कोई भी बाहरी मूल्य ऊँचे नहीं होते हैं। सापेक्षवादी कहते हैं कि विभिन्न संस्कृतियाँ इतनी भिन्न तथा व्यापक प्राथमिकताओं नैतिकता, प्रवृत्तियों तथा मूल्यांकन का उदाहरण प्रस्तुत करती है कि कोई भी मानव अधिकार सिद्धान्त स्वयं सिद्ध अथवा सभी स्थानों एवं सभी के लिए सार्वभौमिक नहीं हो सकते।

मानव अधिकारों की सर्वभौमिकता के विरुद्ध सांस्कृतिक सापेक्षवाद इस बात पर बल देता है कि मानव अधिकारों, मूल्यों तथा व्यवहारों में बहुलवाद का निश्चय सांस्कृतिक संदर्भ करता है। यह सिद्धान्त प्रत्येक संस्कृति की अद्वितीयता तथा अनन्यता पर बल देता हैं दूसरे शब्दों में यदि मानवीय, अधिकार एक विशिष्ट संस्कृति के साथ देशीय नहीं है तो इनकी वैधता तथा कार्यान्वयन संदेहपरक हो जाता है। **ऐन मेयर** के शब्दों में 'मानव अधिकार विदेशी है अतः ये गैर-पश्चिमी सांस्कृतिक तथा धार्मिक परम्पराओं के साथ सुसंगत नहीं है।'

2.7 प्रश्न

1. स्वतंत्रता का क्या अर्थ है। स्वतंत्रता की विभिन्न धारणाएँ बताइए?
2. सकारात्मक और नकारात्मक स्वतंत्रता के बीच अंतर क्या है?
3. स्वतंत्रता की मार्क्सवादी अवधारणा क्या है?
4. अवसर की समानता से क्या अभिप्राय है? क्या आप सोचते हैं कि यह एक प्राप्त करने योग्य लाभ है? अपने उत्तर की पुष्टि करने के लिए तर्क दीजिए।
5. औपचारिक समानता से आप क्या समझते हैं? आपके विचार में औपचारिक समानता की अवधारणा और व्यवहार की क्या सीमाएँ हैं?
6. अवसर की समानता और परिणाम की समानता के बीच अंतरों का विश्लेषण कीजिए।

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

7. सकारात्मक कार्यवाही पर संक्षिप्त निबंध लिखो।
8. न्याय की संकल्पना एवं अवधारणा पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए?
9. वैश्विक न्याय से आप क्या समझते हैं ?
10. प्रक्रियात्मक न्याय और तात्विक न्याय में क्या अंतर है टिप्पणी कीजिए?
11. कानूनीआर्थिक न्याय ,सामाजिक ,राजनीतिक , में क्या अंतर है?
12. रॉल्स के न्याय सिद्धांत का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए ?
13. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए?
14. अवसर की समानता।
15. वैश्विक न्याय पर रॉल्स के विचार।
16. रॉल्स के न्याय सिद्धांत की समुदायवादी आलोचना।
17. रॉल्स के न्याय सिद्धांत की नारीवादी आलोचना।
18. न्याय पर प्लेटो और अरस्तू के विचार।
19. अधिकारों की विभिन्न परिकल्पनाओं का संक्षेप में वर्णन करो?
20. जॉन लॉक के द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक अधिकारों के विचार का परीक्षण कीजिए।
21. प्राकृतिक अधिकार के उद्भव को अनुरेखित कीजिए। प्राकृतिक अधिकार के सिद्धांत की प्रमुख आलोचना का एक ब्यौरा प्रस्तुत कीजिए।
22. अधिकार और दायित्व एक दूसरे के पुरक है विवेचना कीजिए।
23. मानवाधिकार क्या होते हैं? समकालीन विश्व में मानवाधिकार की सार्वभौमिकता तथा सांस्कृतिक सापेक्षता के विवाद का वर्णन कीजिए।

2.8 सन्दर्भ

- Menon, K. (2008) 'Justice', in Bhargava, R. and Acharya, A. (eds), *Political Theory: An Introduction*. New Delhi: Pearson Longman, pp. 74-86.
- Wolf, J. (2008) 'Social Justice', in McKinnon, C. (ed), *Issues in Political Theory*. New York: Oxford University Press, pp. 172-193.
- Brock, G. (2008) 'Global Justice', in McKinnon, C. (ed), *Issues in Political Theory*. New York: Oxford University Press, pp. 289-312.
- Mill, J. S. (1991) *On Liberty and Other Essays*. ed. Jon Gray. Oxford: Oxford University Press.
- Berlin, I. (1969) 'Two Concepts of Liberty', in *Four Essays on Liberty*. England: Oxford University Press, pp. 118-172.
- Rawls, J. (1971) *A Theory of Justice.* Harvard: Harvard University Press.

© DDCE, CODL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

- Dworkin, R. (1981) 'What is equality? Part I: Equality of Welfare', *Philosophy and Public Affairs* 10 (3), pp. 185-246.
- Dworkin, R. (1981) 'What is equality? Part II: Equality of Resources', *Philosophy and Public Affairs* 10 (3), pp. 185-243.
- Dworkin, R. (1977) *Taking Rights Seriously*. London: Duckworth.
- Dryzek, J. (2000) *Deliberative Democracy and Beyond*. Oxford: Oxford University Press.
- Miller, D. (2006) *The Liberty Reader*. Edinburgh: University of Edinburgh Press.
- भार्गव, र) और अशोक आचार्या .2008(.एड) (, राजनीतिक सिद्धांत :एक परिचय, दिल्लीपिएसर्न :
- गौतम, बलवान)2013(.एड) (, राजनीतिक सिद्धांत :अवधारणाएँ एवं विमर्श, दिल्ली :हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली ,विश्वविद्यालय
- किमलिका ,विल)2010(.अनु) (, समकालीन राजनीति दर्शनपिए : दिल्ली ,र्सन
- Talukdar, P.S. (2008) 'Rights', in Bhargava, R. and Acharya, A. (eds), Political Theory: An Introduction. New Delhi: Pearson Longman, pp. 88-104.
- Mckinnon, C. (2003) 'Rights', in Bellamy, Richard and Mason, Andrew (eds), Political Concepts. Manchester: Manchester University Press, pp. 16-27.
- Campbell, T. (2008) 'Human Rights', in McKinnon, C. (ed), Issues in Political Theory. New York: Oxford University Press, pp. 194-217.
- भार्गव, र. और अशोक आचार्या (एड.), राजनीतिक सिद्धांत : एक परिचय, दिल्ली : पिएसर्न, 2008.
- कुमार, संजीव (एड.), राजनीति सिद्धांत की समझ, दिल्ली : ओरिएंट ब्लैकस्वान, 2019.

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

इकाई–III

राजनीतिक सिद्धांत में वाद-विवाद के मुद्दे

(क) सुरक्षात्मक भेदभाव और निष्पक्षता के सिद्धांत?

(ख) सार्वजनिक बनाम निजी बहस: नारीवादी परिप्रेक्ष्य सेंसरशिप और इसकी सीमाएं

डॉ. मंगल देव

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

संरचना

3.1 उद्देश्य

3.2 सुरक्षात्मक भेदभाव और निष्पक्षता के सिद्धांत?

- 3.2.1 भारत में जाति व्यवस्था: सैद्धांतिक अन्वेषण
- 3.2.2 अन्य पिछड़ा वर्ग जहाँ जाति एवं वर्ग के अंतर हैं
- 3.2.3 न्यायालय एवं ओ.बी.सी. आरक्षण
- 3.2.4 महिला, जाति एवं आरक्षण
- 3.2.5 जॉन रॉल्स का न्याय का सिद्धांत
- 3.2.6 रॉल्स के न्याय सिद्धांत की आलोचना

3.3 सार्वजनिक बनाम निजी बहस: नारीवादी परिप्रेक्ष्य

- 3.3.1 नारीवाद अर्थ और महत्त्व
- 3.3.2 सेक्स और जेंडर से समाज विभाजन
- 3.3.3 नारीवाद के विभिन्न प्रकार
- 3.3.4 भारत में महिलाओं की स्थिति और नारीवाद
- 3.3.5 नारीवाद सामने चुनौतियाँ

3.4 सेंसरशिप और इसकी सीमाएं

- 3.4.1 विषय का परिचय
- 3.4.2 सेंसरशिप के प्रकार और तत्त्व
- 3.4.3 भारत और सेंसरशिप
- 3.4.4 सेंसरशिप और मीडिया
- 3.4.5 स्वतंत्रता और निगरानी—कानून का शासन

3.5 प्रश्न

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

3.6 संदर्भ सूची

3.1 उद्देश्य

- इस अध्याय का उद्देश्य भारत में सुरक्षात्मक और निष्पक्षता नीति के कार्यान्वयन को समझना है।
- भारतीय विषय एक अनोखा विषय प्रस्तुत करता है जहाँ वंचित समूह के बीच वंचित माना जाता है।
- जाति, वर्ग एवं लिंग के प्रतिच्छेदन को समझने के द्वारा इस घटना का पता लगाया जाता है।
- अन्य पिछड़ा वर्ग (ओ.बी.सी.) एवं दलित महिलाओं के लिए आरक्षण को क्यों बढ़ाया गया, इस पर विशेष ध्यान दिया जाएगा।

3.2 सुरक्षात्मक भेदभाव और निष्पक्षता के सिद्धांत?

सुरक्षात्मक और निष्पक्षता असमानता को कम करने की प्रक्रिया है जो समाज में कुछ विशेष पहचानों का परिणाम है। दुनिया भर के लोकतांत्रिक देशों ने उन समूहों के लिए कुछ प्रकार के सुरक्षात्मक और निष्पक्षता कार्यक्रम को अपनाया है जो समानता में संरचनात्मक होने के कारण सीढ़ी के निचले भाग पर हैं। भारत में ऐसी एक पहचान जाति है जिसने इस असमानता को दूर करने के लिए कुछ कदम उठाने के लिए घटक निर्माताओं को तैयार किया था। दुनिया भर में मजबूती के साथ एवं समय के साथ, महिलाओं के लिए सुरक्षात्मक और निष्पक्षता कार्यक्रम भी लागू किया गया था क्योंकि वे जीवन के सभी क्षेत्रों में अदृश्य देखे गए थे। इस अध्याय का उद्देश्य भारत में सुरक्षात्मक और निष्पक्षता के अभ्यास को समझना है। परंतु पहले यह समझने की कोशिश की जायेगी कि जाति क्या है? फिर हम देखेंगे कि जातिगत असमानता को दूर करने के लिए संवैधानिक अनुयोजन कार्यक्रम तथा संवैधानिक प्रावधानों को कैसे सम्मिलित किया गया। इसके पश्चात् भारत में जाति पर विशेष ध्यान देने के साथ सुरक्षात्मक और निष्पक्षता कार्यक्रम पर चर्चा करेंगे। अंत में अंतिम खंड में जाति और लिंग के बीच अंतरविरोध पर विशेष ध्यान देने वाली महिलाओं के लिए सुरक्षात्मक और निष्पक्षता कार्यक्रम पर चर्चा की जाएगी।

3.2.1 भारत में जाति व्यवस्था: सैद्धांतिक अन्वेषण

जी.एस. घुर्ये (1932) ने भारत में जाति व्यवस्था पर चर्चा करते हुए जाति व्यवस्था की कुछ विशेषताओं को रेखांकित करने का प्रयास किया जो इस प्रकार हैं-

(क) पदानुक्रम

(ख) अंतर-भोजन पर प्रतिबंध

(ग) अंतरजातीय विवाह पर प्रतिबंध

(घ) नियंत्रण की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध

(ङ) समाज का खंड विभाजन

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

डॉ. बी.आर. अंबेडकर (**1936**) ने जी.एस. घुर्ये की विशेषताओं से सहमति व्यक्त करते हुए इस तथ्य को भी बताया कि जाति व्यवस्था एकता को खत्म करती है और राष्ट्र के निर्माण को रोकती है। नए स्वतंत्र भारतीय राष्ट्र में घुसपैठ करने के लिए जाति व्यवस्था के खतरे को रोकने के लिए, डॉ. अंबेडकर ने भारतीय संविधान के अनुच्छेद **15** को स्पष्ट रूप से तैयार किया था, जो जाति, धर्म, जाति, लिंग आदि के आधार पर किसी भी प्रकार के भेदभाव को रोकता है और इसे फिर से लागू किया गया था। अनुच्छेद **38** में कहा गया है कि लोगों का कल्याण धर्म, जाति वर्ग आदि की परवाह किए बिना किया जाएगा। इस प्रकार के अग्रेसिव कानून बनाने के बावजूद, भारतीय संविधान के निर्माताओं ने देखा कि जाति स्वयं कायाकल्प कर रही थी। ऐसा इसलिए था क्योंकि एक तरफ राजनेताओं द्वारा जाति व्यवस्था का इस्तेमाल किया जाता था और दूसरी तरफ समाज में इसे विभिन्न तरीकों से लागू किया जाता था। बर्नार्ड कोहन ने भारत में जाति व्यवस्था के इतिहास का पता लगाते हुए उस जाति व्यवस्था के आधार पर समाज को विभाजित करने के लिए जाति और धर्म के आधार पर जनगणना के इस्तेमाल की ब्रिटिश नीति की ओर इशारा किया जो तब प्रचलित नहीं था। स्वतंत्र भारत में जाति व्यवस्था की प्रकृति का अध्ययन करते हुए एम.एन. श्रीनिवास (**1956**) ने 'संस्कृतिकरण' की प्रक्रिया को बताया, जहाँ निचली जाति उतनी ही अनुष्ठान करती है, जितनी उच्च जाति करती है। यह उनकी स्थिति के उत्थान के लिए किया जाता है और इसे प्रिंट मीडिया, प्रतिनिधि संस्कृति और अंग्रेजी शिक्षा के तीसरे उपयोग में चर्चा के माध्यम से बढ़ावा दिया जाता है। रजनी कोठारी (**1973**) का कहना है कि राजनीति में जातिवाद अब जाति के राजनीतिकरण से कम नहीं है। यह एक ऐसी प्रणाली है जिसमें जाति और राजनीति दोनों की ताकतों को एक-दूसरे के समीप लाया जाता है। सार्वजनिक गतिविधि के आयोजन का विशिष्ट उद्देश्य बातचीत की प्रकृति और जाति व्यवस्था के अंतर संगठन के माध्यम से है। रजनी कोठारी ने तीन तरह से राजनीति में जाति संगठन का इस्तेमाल किया है। सबसे पहले धर्मनिरपेक्ष पहलू के माध्यम से जो एंडोगैमी के अलगाव सिद्धांत पर आधारित है। यह प्रदूषण और शुद्धता के सिद्धांत पर काम करता है। गुटनिरपेक्षता, जातिगत दरारें, संरेखण और प्रतिरूपण के पैटर्न ने निरंतर सामाजिक गतिशीलता को जन्म दिया है। इस धर्मनिरपेक्ष प्रवृत्ति को दो तरह से देखा जाता है पहला सरकारी पहलू के माध्यम से और दूसरा राजनीतिक पहलू के माध्यम से। धर्मनिरपेक्ष पहलू शिक्षा और क्षेत्रीय भिन्नता के माध्यम से है। ब्राह्मणों ने अंग्रेजी शिक्षा पर प्रतिक्रिया दी कि मताधिकार का धीमा विस्तार था। चूँकि ब्राह्मण शक्तिशाली नहीं थे, इसलिए जातिगत अंतर-जातीय संबंधों ने राजनीतिक भर्ती की एक निरंतर संरचना प्रदान की? नए धार्मिक संप्रदायों के प्रसार ने सत्ता में प्रवेश के लिए अनुक्रम के विभिन्न मॉडल बनाए। क्षेत्रीय संयम के माध्यम से तोड़ना और व्यावसायिक बलों को चौड़ा करना। दूसरी बात यह है कि जाति व्यवस्था द्वारा एकीकृत दृष्टिकोण मजबूत हुआ। इस व्यापक वफादारी में प्रचलित भेदभाव के माध्यम से संरचित किया जाता है और इसमें वैचारिक आधार को व्यापक करके लोकतांत्रिक राजनीति की प्रतिस्पर्धी शैली शामिल है। इसमें विभाजन और पहचान प्रणाली शामिल है जिसमें नेतृत्व को स्थानीय राय के लिए चिंता करने के लिए मजबूर किया गया था। इसमें न केवल वितरणात्मक और परस्पर विरोधी पहलू शामिल हैं, बल्कि समूह क्रियाएँ और सामंजस्य भी हैं। यह संलयन और एकत्रीकरण और विखंडन और विभाजन के माध्यम से होता है। जाति और आधुनिक संस्थानों के बीच आर्थिक लाभ के वितरण के बीच बातचीत से जाति चेतना और धारणाएँ बनती हैं। अभाव की भावना ने आरोही जाति को जन्म दिया। सत्ता के द्विपक्षीय संघर्ष ने उन माँगों को कड़ा कर दिया जिसने संसाधनों की उपलब्धता से अधिक लाभ की माँगों को जन्म दिया। पुरानी पहचानों के कमजोर होने ने राजनीतिक मूल्यों के निर्माण के लिए जगह बनाई और नए बदलावों को जन्म दिया। चेतना तीसरा पहलू है जो उदार शिक्षा, संरक्षण और धीरे-धीरे मताधिकार के विस्तार के माध्यम से संस्कृतकरण, पश्चिमीकरण और धर्मनिरपेक्षता प्रक्रियाओं का परिणाम है। धर्मनिरपेक्ष भागीदारी ने नए दृष्टिकोणों को बढ़ावा दिया है और नए पुरस्कारों की पेशकश की है। इसने

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

जातिगत और सांप्रदायिक संबंधों को उजागर किया है। एक जाति के साथ घनिष्ठ पहचान दूसरी जाति को अलग-थलग कर देती है। सभी प्रमुख समुदायों को शामिल करके ही राजनीतिक दलों को स्थिरता मिलती है। जाति के राजनीतिकरण से प्रतिस्पर्धी राजनीति का संचालन होता है। इसने जाति को अपने राजनीतिक संदर्भ से बाहर निकाला है और जाति व्यवस्था को नया दर्जा दिया है। वहाँ प्रमुख अभिजात वर्ग उभरता है जहाँ विभिन्न समूह आम दृष्टिकोण साझा करते हैं। जाति, जाति के सदस्यों के गठन, जाति संस्थाओं के निर्माण और जाति महासंघ के रूप में नई संगति लेती है।

जाति और राजनीति के बीच बातचीत का एक सीधा परिणाम रुडोल्फ और रुडोल्फ (**1987**) द्वारा रेखांकित किया गया है, जिन्होंने **1960** के दशक में हरित क्रांति के लागू होने के बाद बैलगाड़ी पूँजीवादी के उदय के बारे में चर्चा की थी। ये समूह निम्न जाति के थे जो प्रमुखता से उठे और भारतीय राजनीति में खुद को शामिल किया। इसने मंडल आयोग की स्थापना की जिसने अंततः अन्य पिछड़े वर्गों का निर्माण किया जो तत्कालीन निम्न जाति समूह थे और जिन्होंने भारतीय राजनीति को नई दिशा दी। इसे क्रिस्टोफर जैफरलॉट (**2003**) द्वारा रेखांकित किया गया था, जब उन्होंने उत्तर भारतीय राज्यों में अन्य पिछड़ा वर्ग के उदय को भारत की मौन क्रांति के रूप में देखा था।

3.2.2 अन्य पिछड़ा वर्ग जहाँ जाति एवं वर्ग के अंतर हैं

जबकि अनुसूचित जाति और जनजातियों के लिए आरक्षण की नीति भारतीय संविधान के समय लागू की गई थी, इसे अन्य पिछड़ा वर्ग तक नहीं बढ़ाया गया। यह उस समय उभरती हुई सत्ता की राजनीति के कारण था जो उन्हें वंचित समूह के रूप में देखने में विफल रहा। आरक्षण की नीति को इस श्रेणी के लिए समानता को संस्थागत रूप देने के बजाय राजनीतिक लाभ प्राप्त करने के लिए बढ़ाया गया था। जाति संरचना के प्रति तिरस्कार दिखाते हुए, नेहरू को 'अन्य पिछड़े वर्गों' की श्रेणी में लाया गया, हालाँकि संविधान में ''वर्गों'' की परिभाषा पर चुप्पी थी। केवल अनुच्छेद **340** में, राष्ट्रपति के पास, सामाजिक, शैक्षणिक रूप से पिछड़े वर्गों की पहचान करने के लिए आयोग 'नियुक्त करने की शक्तियाँ थीं। इस श्रेणी को कैसे परिभाषित किया जाए, इस पर कोई प्रवेश बिंदु नहीं होने से यह एक बड़ी बहस का कारण बन गया है और ''जातियों'' को ''वर्ग'' के रूप में मान्यता देने में समाप्त हो गया है। ''वर्ग'' और ''जाति'' के बीच शब्दार्थ समानता इन दो शब्दों के अर्थ के विरुद्ध है। अन्य पिछड़े वर्गों को आरक्षण देने के कारणों में से एक यह था कि यह अनुसूचित जातियों और जाति के हिंदुओं के बीच एक तीव्र अंतर के बजाय वर्गीकृत असमानता में परिलक्षित होता था।

अंतर्दृष्टि को पहले पिछड़े वर्ग आयोग के अनुभव के माध्यम से प्राप्त किया जाता है जिसने सामाजिक पिछड़ेपन का न्याय करने के लिए चार मुख्य मानदंडों का इस्तेमाल किया था जो निम्न दर्जे के थे, शिक्षा की कमी, नागरिक सेवाओं और अन्य सरकारी क्षेत्रों में प्रतिनिधित्व के तहत (जैफरलॉट **2003**: **549**)। यह निम्न जाति से संबंधित था। परिणामस्वरूप पहले पिछड़े वर्ग आयोग ने **2399** की सिफारिश की, जिसे ओ.बी.सी. जाति कहा गया, जिसने **1931** की जनगणना के अनुसार पूरी आबादी का **32** प्रतिशत हिस्सा बनाया। यद्यपि, भारत को आधुनिक बनाने की दृष्टि से, पिछड़े वर्ग आयोग के पहले आवेदन को छोड़ दिया जाए। समय की राजनीतिक मजबूरियाँ इस सवाल को फिर से सामने ले आईं। ऐसा इसलिए था क्योंकि वर्ग के प्रति नेहरू की अधिमानी नीति ने जाति की भारतीय वास्तविकता को नजरअंदाज कर दिया था। इसके अलावा अन्य पिछड़ा वर्ग आरक्षण नीति गैर-कांग्रेस शासित राज्यों में लागू की जा रही थी। जनता पार्टी के सत्ता में आने के बाद मंडल आयोग नाम से दूसरा पिछड़ा वर्ग आयोग गठित किया गया। इस आयोग की सिफारिश के बाद, अधिमान्य उपचार की नीति को अन्य सामाजिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़े वर्गों तक

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

बढ़ाया गया। हालाँकि यह एक आसान काम नहीं था क्योंकि अन्य पिछड़ा वर्ग को परिभाषित करना मुश्किल था। पिछड़ेपन को कैसे मापा जाना चाहिए? इस सूची में किसे शामिल किया जाना चाहिए? इसकी चयन प्रक्रिया में जाति की भूमिका क्या होगी? यह मामला अनुसूचित जाति और जनजातियों के लिए पहले से मौजूद नीति के समान कैसे होगा? आयोग के सामने सबसे बड़ी चुनौती यह थी कि पिछड़ेपन को कैसे मापा जाए? क्या यह शीर्ष की तुलना में अनुभव किए गए सापेक्ष अभाव पर आधारित होना चाहिए या क्या यह औसत अभाव सूचकांक पर आधारित होना चाहिए, जिससे इसे अनुसूचित जाति और जनजातियों से ऊपर जा सके। (गलन्टर **308)** जब मंडल आयोग पिछड़ेपन के संबंध में जाति का चयन करता है तो जाति और वर्ग के अंतर-संप्रदाय प्रमुखता से सामने आते हैं। यह जाति को सामाजिक इकाइयों के रूप में देखकर किया जाता है, जिसका पिछड़ापन मापा जाएगा और यह जाति को मापने वाली छड़ के रूप में उपयोग करने का प्रस्ताव रखता है। यह ग्यारह मानदंडों के आधार पर जटिल प्रणाली द्वारा किया जाता है, लेकिन इन्हें निम्न स्थिति (पद, शारीरिक श्रम और श्रम बल में महिला भागीदारी में माना जाता है) के पारंपरिक उपायों पर बल देने के लिए भारित किया जाता है। यह समझ भारत में गरीबी की सामाजिक समझ से प्रेरणा लेती है। आमतौर पर गरीबी को समूह की घटनाओं के रूप में देखा जाता है जो असमान स्थिति प्रणाली से उपजी उनकी सामाजिक पिछड़ेपन का परिणाम है। ऐसा इसलिए किया गया क्योंकि भारत में जाति व्यवस्था ने निचली जाति को ज्ञान, राजनीतिक शक्ति और अर्थव्यवस्था तक पहुँच से वंचित कर दिया था। आधुनिकीकरण में तेजी से प्रगति के कारण यह असमानता बढ़ गई, जिसका लाभ उच्च जाति को मिला। (शेठ **2000: 257)** जाति की कोई स्पष्ट श्रेणीबद्ध सूची नहीं होने के कारण समस्या और बढ़ जाती है। मंडल आयोग ने **3743** जातियों की पहचान की थी। इस मामले में सवाल उठता है कि क्या जाति को आर्थिक परीक्षण में मिलाया जा सकता है? (गलन्टर **309)**। यह एक समस्या है क्योंकि सरकार के पास उन व्यक्तियों की आय की स्थिति को रेखांकित करने की सीमित क्षमता है जो इस नीति को खतरे में डालती हैं। यह भी आशंका थी कि आरक्षण के प्रमुख लाभों में पिछड़े समुदायों के बी अग्रिम वर्ग होंगे, जिससे इस नीति को खतरा होगा। जब मंडल आयोग ने संलमत क्रीमी लेयर 'की अवधारणा में लाया, तो यह नीति पिछड़े वर्गों के सामाजिक रूप से उन्नत वर्गों तक नहीं पहुँची।

राजनीतिक क्षेत्र में आरक्षण की भूमिका का आकलन करने के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान में से एक क्रिस्टोफ जाफरलॉट **(2003)** है। वह राजनीतिक प्रक्रिया में नए समूहों को ''मूक क्रांति'' के रूप में शामिल करने को कहते हैं, क्योंकि भारत में उच्च जाति के कुलीन वर्ग से लेकर निम्न पदस्थ समूहों तक राजनीतिक सत्ता का हस्तांतरण हुआ है, ओ.बी.सी. निर्वाचित प्रतिनिधियों का अनुपात **1984** में **11** प्रतिशतसे **25** प्रतिशत हो गया जबकि **1996** में उच्च जाति के निर्वाचित अधिकारी **47** प्रतिशत से **35** प्रतिशत तक गिर गए। (जाफरलॉट **2003: 310)** यद्यपि, वह इस बात को बनाए रखता है कि अड़चनें साफ और स्पष्ट हैं- (क) सवर्णों की सत्ता के पदों पर मजबूत पकड़ है। (ख) निम्न जाति की राजनीति के उदय में असमानता रही है। उदाहरण के लिए, यूपी और बिहार जैसे राज्यों में यह राजस्थान की तुलना में अधिक सफल रहा है। (ग) उनका तर्क है कि उदारीकरण ने उच्च जाति के लिए नए रास्ते और अवसर खोले, और सरकारी नौकरियों में कमी आई, जिसने सच्चे अर्थों में आर्थिक और सामाजिक समावेश की गुंजाइश को काफी हद तक कम कर दिया है। (घ) निचली जातियों में वृद्धि रैखिक या अपरिवर्तनीय नहीं है क्योंकि जाति दलों या व्यक्तियों के बीच कोई स्पष्ट एकता नहीं है। उन्होंने पाया कि ओ.बी.सी. और एस.सी. अक्सर संघर्ष में होते हैं, परस्पर विरोधी वर्ग के हितों के कारण, स्पष्ट रूप से यूपी में समाजवादी पार्टी (स.पा.) और बहुजन समाज पार्टी (ब.स.पा.) के बीच सत्ता के संघर्ष में परिलक्षित होते हैं।

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

3.2.3 न्यायालय एवं ओ.बी.सी. आरक्षण

अदालतों ने यह निर्धारित करने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है कि क्या जाति को विश्लेषणात्मक उद्देश्यों के लिए एवं आरक्षण नीतियों के लक्ष्य तय करने में वर्ग के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। सबसे पहले, कई मामलों में, अदालतों ने ओ.बी.सी. की जाति आधारित परिभाषा का समर्थन किया है। माइनर पी. राजेंद्रन बनाम मद्रास राज्य (**1968**) में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि''एक जाति भी नागरिकों का एक वर्ग है।'' शब्द ''वर्ग'' का उपयोग यहां बहुत विस्तार से किया गया है, जिसका अर्थ है सामान्य विशेषताओं वाले कई व्यक्ति और इसलिए एक साथ समूहीकृत। राजेंद्रन विषय में अदालत ने किसी भी जाति को पिछड़ा वर्ग मानने के लिए विशिष्ट शर्तें रखीं, जैसे- अगर मामला पूरी तरह से सामाजिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़ा है। हालाँकि, आंध्र प्रदेश बनाम यू.एस.वी. बालाराम मामले (**1972**) में, सी. वैद्यलिंगम की सर्वोच्च न्यायालय की खंडपीठ ने कहा कि एक जाति ''पिछड़ा वर्ग'' हो सकती है, जो सामाजिक और शैक्षणिक रूप से सामान्य औसत से ऊपर ''कुछ व्यक्तियों'' की उपस्थिति के बावजूद है। यह तय करने में कि क्या जाति पिछड़ेपन की असली परीक्षा हो सकती है, एम.आर. बालाजी और मैसूर राज्य (**1962**) में अदालत ने तर्क दिया कि यद्यपि जाति ''एकमात्र'' मानदंड नहीं हो सकती है, लेकिन यह पिछड़ेपन का निर्धारण करने में प्रासंगिक मानदंड या कारक है। कुछ समय के लिए इस निर्णय ने आरक्षण की नीति के माध्यम से ओ.बी.सी. के कल्याण को बढ़ावा देने के लिए व्यक्तिगत राज्य के उपायों को उलट दिया क्योंकि वहाँ केवल जाति कारक को परिभाषित किया गया था। बहरहाल, विवादास्पद खंड उन्हें दिए गए आरक्षण के प्रतिशत पर था जो कि **50** प्रतिशत के बीच था। यद्यपि न्यायालयों ने इस बात से कभी अस्वीकृत नहीं किया कि वर्गों का पिछड़ापन पिछड़ी जाति का गठन नहीं कर सकता। न्यायालयों ने क्या परामर्श दिया कि ओ.बी.सी. के वास्तविक लक्ष्य समूहों की सूची तक पहुँचने की नीति को नियमित रूप से संशोधित किया जाना चाहिए। इसने ओ.बी.सी. श्रेणी के भीतर उप-वर्गीकरण के लिए भी अनुमति दी है जिससे यह सुनिश्चित किया जा सके कि कुलीन वर्ग लाभ को नियंत्रित नहीं करते हैं और नीति के साथ संलग्न हैं, और लक्षित समूह सक्रिय रूप से क्रीमी लेयर 'वर्गीकरण का लाभ उठाते हैं। एन.एम. थॉमस मामले में, न्यायालय ने ओ.बी.सी. के बीच क्रीमी लेयर के महत्त्व को मजबूर किया, जिससे उन व्यक्तियों को जिनकी पारिवारिक आय एक सहमत सीमा से ऊपर हो गई, उन्हें आरक्षण नीति के लाभ से छूट दी जाएगी। अशोक कुमार ठाकुर ने न्यायालय में कहा कि एस.सी. और एस.टी. के लिए आरक्षण कई कारकों पर आधारित था, और न केवल वर्ग या आर्थिक स्थिति के संदर्भ में, मलाईदार परत की अवधारणा उन पर लागू नहीं की जा सकती थी। इसी तरह, अदालतें मानती थीं कि अल्पसंख्यक संस्थानों और "सुपर-स्पेशिलिटी" या तकनीकी पदों के लिए आरक्षण लागू नहीं होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आरक्षण नीति में मंडल आयोग के कार्यान्वयन ने फिर से राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश कर लिया है। इंद्रा सेहनी बनाम भारत संघ मामले में इसकी पुष्टि की गई थी जब सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों ने घोषणा की थी कि 'एक जाति और भारत में एक सामाजिक वर्ग में अक्सर हो सकती है'। इसने **1991** में केवल आर्थिक मानदंडों के आधार पर आरक्षण को लागू करने के लिए कांग्रेस की सरकार की पहलों पर से पर्दा उठाया। (जैफरलॉट **2003: 311)**

3.2.4 महिला, जाति एवं आरक्षण

महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी विश्व भर में एक उबाल भरा विचार-विमर्श रहा है। समान राजनीतिक अधिकारों की माँग प्रवचन के केंद्र में थी जिसके कारण उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान पश्चिम में नारीवादी आंदोलनों का उदय हुआ। राजनीतिक क्षेत्र से महिलाओं के बहिष्कार को सही ठहराने के लिए ऐतिहासिक रूप से, विभिन्न प्रकार के तर्क विकसित किए गए थे। मान्यताओं में

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

से एक प्रकृति बनाम संस्कृति (जॉन, **2005: 63-64)** के बारे में थी, जो समाज में अपनी प्राकृतिक भूमिका के आधार पर महिलाओं को निजी क्षेत्र में सीमित करने के औचित्य को आकर्षित करती थी। एक सार्वजनिक गतिविधि होने के नाते राजनीति को पुरुषों का विशेषाधिकार माना जाता था। चूँकि पुरुषों ने सैनिकों और श्रमिकों के रूप में सार्वजनिक क्षेत्र का नियंत्रण अर्जित किया, जबकि महिलाओं की भूमिका माताओं और शिक्षकों के रूप में निजी तक ही सीमित थी, नागरिकता देने के तर्क में लैंगिक असमानता को अतंर्निहित किया गया था। (पेटमैन, **1988: 241)** इसका परिणाम यह हुआ कि भले ही उन्हें मतदान आदि के मामले में समान राजनीतिक अधिकार प्राप्त हुए, लेकिन यह उन्हें प्रतिनिधि संस्थानों में अपने लिए जगह बनाने में मदद नहीं कर सका। यद्यपि प्रक्रियात्मक समानता सुनिश्चित की गई थी, यह लोकतांत्रिक नागरिकता के मूल रूपों में अनुवाद नहीं कर सका। यह विधानसभाओं में महिलाओं की तिरछी उपस्थिति को दर्शाता था। इस प्रस्ताव ने इस बात पर बहस की कि राजनीति में महिलाओं की उपस्थिति कैसे सुनिश्चित की जाए जो प्रभावी नीतियों में अनुवाद कर सकें, जिसके परिणामस्वरूप कोटा की माँग हो सकती है। नारीवादी संघर्षों के भीतर, इसने ''विचारधारा की राजनीति'' से ''उपस्थिति की राजनीति'' की प्रगति का संकेत दिया। ऐनी फिलिप्स ने अपने विद्वतापूर्ण कार्य में राजनीति की उपस्थिति का तर्क दिया कि अब मुद्दा ''कौन'' के बजाय ''कौन'' का प्रतिनिधित्व कर रहा था। फिलिप्स ने कहा कि लोकतांत्रिक प्रवचन का वर्तमान रूप बहिष्करण के उन रूपों से नहीं जुड़ा है जो समाज में कई समूहों का सामना कर रहे थे, उदाहरण के लिए, राजनीति में महिलाओं का बहिष्कार। अनुभवात्मक महामारी विज्ञान के तर्क के आधार पर, उन्होंने कहा कि इन वर्गों के अनुभव उनके जीवन की दुनिया को प्रभावित करते हैं और उनके हितों का संज्ञान लेने के लिए, प्रतिनिधि निकायों में उनकी उपस्थिति अनिवार्य थी। यह तर्क दिया गया था कि नीतियों के विचार-विमर्श के समय ऐसे समूहों का प्रतिनिधित्व नहीं होने पर किसी भी समूह के लिए तैयार की गई नीतियाँ प्रासंगिक नहीं हो सकती हैं (फिलिप्स **1995: 4)**

फिलिप्स ने ''उपस्थिति की राजनीति'' और ''विचारों की राजनीति'' के संयोजन की वकालत की, और इस तरह के उपरोक्त दावों के जवाब में महिला प्रतिनिधियों की आवश्यकता के लिए चार मुख्य कारण दिए। पहला मुद्दा ''प्रतीकात्मकता'' के बारे में था, जिसके अंतर्गत पूर्व में शामिल किए गए समूहों का प्रतिनिधित्व किया जा सकता है और इसलिए उन्हें सच्चे अर्थों में समान माना जाता है। फिलिप्स के अनुसार, यह प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि परिणामों में इस तरह के समावेश को सुनिश्चित किया जा सकता था। दूसरा तर्क यह था कि कार्यसूची तैयार करने एवं मौजूदा मानदंडों को बदलने के लिए पूर्ववर्ती बहिष्कृत समूहों की जरूरत थी ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि जिससे उनके हितों को शामिल किया जा सके। तीसरा तर्क नीति निर्माण में ''अनुभव'' के महत्त्व के बारे में था। यदि महिला विषयों की उपेक्षा की गई, तो एक महिला प्रतिनिधि इस तरह के विचारों के लिए अधिक प्रभावी रूप से वाद-विवाद कर सकती है। इसके अलावा, महिला मुद्दों से संबंधित नीतियों पर वाद-विवाद के दौरान, एक महिला प्रतिनिधि, एक समूह के सदस्य के रूप में अपने अनुभवों और हितों के आधार पर, विषयों पर एक सच्ची तस्वीर सामने लाने के लिए बेहतर स्थिति में होगी। अंतिम तर्क प्रतिनिधि निकायों में पहले से मौजूद विषमताओं को तोड़ने की आवश्यकता के बारे में है। फिलिप्स के अनुसार, यह केवल सार्वजनिक क्षेत्र में पूर्व में अपवर्जित समूहों के आक्रामक प्रवक्ताओं की मौजूदगी द्वारा सुनिश्चित किया जा सकता था, जो शक्ति पदानुक्रम (फिलिप्स **1995: 6)** के आधार पर प्रतिनिधित्व के मौजूदा पैटर्न को चुनौती देने में सक्षम थे।

© DDCE-COL-SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

आइरिस एम. यंग ने विभिन्न समूहों के बीच अंतर के विचार के आधार पर महिलाओं के लिए कोटा का समर्थन किया। यंग के अनुसार, लोकतांत्रिक जनता को प्रभावी मान्यता और समूहों की विशिष्ट आवाजों और दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करना चाहिए जो उत्पीड़ित या वंचित हैं। ''यदि महिलाएँ राजनीतिक शक्ति तक पहुँच प्राप्त करती हैं, तो वे राजनीति और नीतियों का विकल्प चुनेंगी जो सामाजिक और लैंगिक समानता, शांति और सतत विकास को बढ़ावा देती हैं''। (यंग **1990: 184)** इस प्रकार, चुने हुए निकायों में महिलाओं के उच्च अनुपात को सुनिश्चित करने के कोटा या अन्य तरीके इन संस्थानों को बदल सकते हैं।

कोटा के लिए ऐनी फिलिप्स का तर्क प्राकृतिक परिस्थितियों से पैदा हुए मतभेदों के कारण महिलाओं को एक विशेष श्रेणी से संबंधित मानता है। दूसरी ओर आइरिस मैरियन यंग महिलाओं के लिए कोटा या किसी अन्य समूह के बारे में चर्चा करता है जो ''शोषण, हाशिए, शक्तिहीनता, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद और हिंसा'' के अनुभवों के बारे में तर्कों के आधार पर उत्पीड़न का सामना करता है। (यंग **1988**: **42)** इसलिए कोटा पर उसकी स्थिति सांस्कृतिक पहलुओं पर अधिक आधारित है। जबकि फिलिप्स और यंग दोनों अलग-अलग कारणों से कोटा माँगते हैं, उनकी धारणा महिलाओं को सजातीय श्रेणी के रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश करती है।

यह एक श्रेणी के रूप में महिलाओं की एक सार्वभौमिक धारणा की धारणा है जिसने ऐनी फिलिप्स और आइरिस मैरियन यंग दोनों के लिए गंभीर आलोचना को आमंत्रित किया है। यह तर्क दिया जाता है कि यह प्रतीत होता है कि महिलाएँ कालातीत विषय हैं जो केवल एक शब्द ''पितृसत्तात्मक उत्पीड़न'' से एकजुट हैं। यह भी संकेत देता है कि सभी महिलाएँ एक ही तरह के उत्पीड़न का सामना करती हैं। आलोचकों ने महिलाओं के उत्पीड़न को समझने की इस समरूपता पर सवाल उठाया है। अलग-अलग धर्मों के नारीवादी आलोचक-ब्लैक, उत्तर-उपनिवेषवादी और दलित नारीवादियों ने निम्नलिखित प्रश्न उठाए हैं- (क) अंतर-डोमेन के अंतर का उद्भव कैसे होता है-अंतर के डोमेन के ओवरलैप और विस्थापन-राष्ट्र, सामुदायिक हित के व्यक्तिपरक और सामूहिक अनुभव अथवा सांस्कृतिक मूल्यों पर बातचीत की जाती है। कैसे विषयों का गठन ''बीच-बीच में''अथवा अधिकता में, अंतर के हिस्सों का योग (आमतौर पर जाति/वर्ग/लिंग, आदि के रूप में) होता है? समुदायों के प्रतिस्पर्धी दावों में प्रतिनिधित्व या सशक्तिकरण की रणनीति कैसे बनाई जाती है? अभाव और भेदभाव के साझा इतिहास के बावजूद, मूल्यों, अर्थों और प्राथमिकताओं का आदान-प्रदान हमेशा सहयोगी और संवादपूर्ण नहीं हो सकता है, लेकिन गहन रूप से विरोधाभासी, संघर्षपूर्ण और यहाँ तक कि असंगत हो सकता है? इन चिंताओं को लिंग की सार्वभौमिक धारणा द्वारा अतिक्रमण नहीं किया जाता है। यद्यपि, नागरिकता की अवधारणा में अंतर और प्रतिनिधित्व के सवालों की परवाह किए बिना, राजनीतिक क्षेत्र में महिलाओं के लिए कोटा की आवश्यकता के बारे में आम सहमति बन गई है। यह उत्पीड़न को चुनौती देने और समाज में महिलाओं के विषयों के बारे में चेतना बढ़ाने के लिए सबसे अच्छा उपलब्ध साधन के रूप में मान्यता प्राप्त है।

अन्य संबंधित प्रश्न जो प्रवचन में उठता है वह महत्त्वपूर्ण दृश्य परिवर्तन लाने के लिए आवश्यक आरक्षण के अनुपात के बारे में था। इसका अर्थ राजनीतिक प्रतिनिधित्व में ''महत्त्वपूर्ण जन'' की उपस्थिति था जो महिलाओं को गुणात्मक महिला अनुकूल विधान लाने के लिए आवश्यक था। अभिव्यक्ति महत्त्वपूर्ण द्रव्यमान परमाणु भौतिकी से उपजा है और एक निश्चित मात्रा को संदर्भित करता है जिसे अपरिवर्तनीय श्रृंखला प्रतिक्रिया आरम्भ करने की आवश्यकता होती है जो एक प्रक्रिया को बदल सकती है। आमतौर पर मोड़ के रूप में उल्लिखित प्रतिशत **30** प्रतिशत है। ये संख्या रोसबेथ मॉस कनटेर और डहलरूफ के शोधों से काफी हद तक प्राप्त हुई थी, जिन्होंने कोटा प्रणाली के प्रभावी प्रदर्शन के लिए आवश्यक महत्त्वपूर्ण संख्या पर काम किया था। (कनटेर

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

1977: 965) लीना वांगरनड ने इस निष्कर्ष के साथ वर्णनात्मक और मूल प्रतिनिधित्व दोनों पर अध्ययन से किए गए कुछ अनुभवजन्य परिणामों को संक्षेप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया, यद्यपि महिलाओं के प्रतिनिधित्व के अनुभवजन्य परिणाम मिश्रित थे, लेकिन ''महिला राजनेताओं ने महिलाओं के हितों की स्थिति को मजबूत करने में योगदान दिया''।(वेनगार्ड **2000: 67)**

3.2.5 जॉन रॉल्स का न्याय सिद्धांत

अमेरिकी राजनीतिक दार्शनिक जॉन रॉल्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक' अ थियरी ऑफ जस्टिस) '1971में न्याय संबंधी अपने (विचार दिए। रॉल्स एक ऐसी अभिधारणा के लिए सैद्धांतिक आधार तैयार करने का प्रयत्न किया जो उदारवादी परंपरा में तो हो , ' लेकिन पूर्ववर्ती उदारवादियों कीहर व्यक्ति सिर्फ अपने लिए 'वाली मान्यता की अपेक्षा कल्याणकारी राज्य की कल्पना को समर्थन देने में सहायक हो। रॉल्स का न्याय सिद्धांत एक तरफ तो प्लेटो के कर्त्तव्यपरायन न्याय से अलग दिखाई देता हैदूसरी तरफ , होब्स, लॉक तथा रूसो के समझौतावादी सिद्धांत को अपनाते हुए भी उनके सिद्धांतों के मूलाधार' मानव 'स्वभाव-अध्ययन की अनदेखी करते हुए अपने सिद्धांत का प्रतिपादन तत्कालीन सामाजिकआर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों के अनुरूप प्रस्तुत , जेम्स मिल जैसे प्रमुख विचारको की भी आलोचना की जिन्होंने सभी ,बेंथम ,करते हैं। उन्होंने उदारवादी परंपरा के डेविड ह्यूम ' सामाजिक तथा राजनीतिक सवालों का समाधान सुखवादी सिद्धांत से जोड़ते हुएअधिकतम लोगों का अधिकतम सुख 'का सिद्धांत दिया था। रॉल्स अपने सिद्धांत की रचना करने के लिए सामाजिक समझौता और वितरणात्मक न्याय की अभिधारणाओं को आधार बनाते हैं। वे दो प्रकार के पदार्थों का निर्देश करते हैं ;**पहला ,समाजिक पदार्थ** जैसे आय ,आवास एंव सत्ता ,संपत्ति , जिन्हें सामाजिक संस्था ,अधिकार और स्वतंत्रताएएँ प्रत्यक्ष रूप से वितरित करती हैं और **दूसराप्राकृतिक पदार्थ ,** जैसे स्वास्थ्य , प्राकृतिक प्रतिभा इत्यादि। जो प्रत्यक्षतः सामाजिक संस्थाओं द्वारा वितरि ,कल्पना शक्ति ,ओज ,बुद्धित नहीं किए जातेपरंतु , आंशिक रूप से उन संस्थाओं के अधीन हो सकते हैं या उनसे प्रभावित भी हो सकते हैं।

रॉल्स ने अपने सिद्धांत निर्माण के लिए ऐसी स्थिति की कल्पना की हैराजनीतिक पृष्ठभूमि -आर्थिक-जिसमें लोग अपनी सामाजिक , ' के बारे में नहीं जानते और वे एकअज्ञान के पर्दे 'के पीछे बैठे हुए हैं। इस पर्दे के पीछे बैठे लोग अपनी आवश्यकताओं ,हितों , निपूर्णताओ तथा योग्यताओं के बारे में पूर्णता अनजान है और इस स्थिति में बैठे लोगों को यह भी ज्ञात नहीं होता कि यथार्थ कौन सी बातें हैं। रॉल-समाज में संघर्ष पैदा करने वाली कौन्स इसे' मूल 'स्थिति-कहते हैं। साथ ही रॉल्स के अनुसार' मूल- 'स्थितिमें रहने वाले वार्ताकारों को मनोविज्ञान एवं अर्थशास्त्र का साधारण ज्ञान अवश्य होता है।' मूल 'स्थिति-में रहने वाले वार्ताकार अपनी स्वहित की चिंता करते हैं लेकिन ये अहंवादी नहीं होते। उनके पास उत्तम जीवन को लेकर कोई स्पष्ट एवं सुनिश्चित दृष्टि नहीं होती। लेकिन यह चाहते हैं कि इनकी प्राथमिक वस्तुओं अर्थात् स्वतंत्रतासम्मान की -अवसर एवं आत्म ,संपत्ति , ' अधिकतम वृद्धि हो। रॉल्स यह कल्पना करते हैं किमूल 'स्थिति-में रहने वाले वार्ताकार जोखिम नहीं लेना चाहेंगे। इसलिए अनिश्चितता कि इस स्थिति में वे ऐसे विकल्प का चयन करेंगे जिसमें सबसे कम नुकसानदेह परिणाम सामने आने की उम्मीद हो। अतवह उन सिद्धांतों का चयन करेंगे जो हीनतम स्थिति वाले लोगों के लिए ज्यादा से ज्यादा लाभदायक हो। इसका मुख्य कारण : उ ,यह था किन्हें यह भय रहता है की' अज्ञान का पर्दा 'हटने पर उनकी स्थिति भी सबसे बुरी हो सकती है। रॉल्स के अनुसार ऐसी समान एवं निष्पक्ष दिखने वाली स्थिति में न्याय के जिन नियमों को स्वीकारा जाएगा वे इस प्रकार हैं–

3. प्रत्येक व्यक्ति को अति विस्तृत मौलिक स्वतंत्रताओं की एक पर्याप्त रूप से सुस्पष्ट व्यवस्था का समान अधिकार प्राप्त होना चाहिए और यह व्यवस्था सभी के लिए सुलभ हो।

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

4. सामाजिक तथा आर्थिक असमानताएँ इस प्रकार व्यवस्थित की जाए कि;
   ग. इसमें हीनतम स्थिति वाले लोगों को अधिकतम लाभ हो।
   घ. ये विषमताएँ उन पदों एवं स्थितियों के साथ जुड़ी हो जो अवसर की उचित समानता की शर्तों पर सबके लिए सुलभ हो।

सरल शब्दों में इन्हें इस प्रकार देखा जा सकता है;

4. समान मौलिक स्वतंत्रता का सिद्धांत।
5. भेदमूलक सिद्धांत।
6. अवसर की उचित समानता का सिद्धांत।

रॉल्स ने इन सिद्धांतों को विशेष रूप से एक विशेष पूर्वताक्रम के नियमानुसार व्यवस्थित किया है। सिद्धांत एक को हमेशा सिद्धांत दो से प्राथमिकता दी जाएगी। इसके अतिरिक्त सिद्धांत दो के अंतर्गत नियम ख को नियम क से प्राथमिकता दी जाएगी। अतः यह कहा जा सकता है कि असमानताओं को इस तरह व्यवस्थित किया जाएगा कि यह सबसे बदत्तर स्थिति वाले लोगों को सबसे ज्यादा फायदा पहुँचाएँ।

3.2.6 रॉल्स के न्याय सिद्धांत की आलोचना

निस्संदेह रॉल्स के न्याय सिद्धांत ने न्याय संबंधी चिंतन को एक नई दिशा दी है परंतु उनका यह सिद्धांत आलोचना मुक्त नहीं है। भिन्नभिन्न दृष्टिकोण से-भिन्न आलोचकों ने भिन्न- रॉल्स के न्याय सिद्धांत की आलोचना की है–जो इस प्रकार है ,

समुदायवादियों के विचार

समुदायवादियों) Communitariansद्वारा रॉल्स कि व्यक्ति की संकल्पना को अतार्किक एवं अव्य (ावहारिक माना गया है। इनका का मत है कि न्याय की कोई एक मात्र और सर्वमान्य परिभाषा नहीं हो सकती बल्कि विभिन्न समूह एवं विभिन्न समुदायों के लिए न्याय की भिन्नभिन्न धारणा-एँ आवश्यक है। इसलिए न्याय का कोई मानक मापदंड नहीं हो सकता।

समुदायवादी‘ व्यक्तिवाद ’की बजाय‘ समुदायवाद ’में विश्वास रखते हैं एवं व्यक्ति को समुदाय का एक सदस्य मानते हैं तथा प्रत्येक समुदाय की पहचान भी अलग मानते हैं। इस संदर्भ में मैकिंटायर ने समुदायवाद के नैतिक आधार पर बल देते हुएव्यक्ति के , स्वायत्तता की आलोचना की तथा कहा कि व्यक्ति का व्यक्तित्व उसके सामाजिक परंपराओं में विकसित होता है तथा इसी के माध्यम से सद्गुण अर्जित करताहै। इसी तरह माइकल वाल्जर भी रॉल्स के सिद्धांत की आलोचना करते हुए कहते हैं किन्याय का , कोई सार्वभौमिक नियम नहीं हो सकता। न्याय के नियम के निर्धारण के लिए समुदाय विशेष में प्रचलित मान्यताओं एवं मापदंडों को ध्यान में रखना आवश्यक है। माइकल वाल्जर रॉल्स की आलोचना करते हुए कहते हैं कि न्याय की कोई भी प्रणाली अंतर्निहित रूप से न्यायपूर्ण या अन्यायपूर्ण नहीं हो सकती। उनके साथ जुड़े सामाजिक संदर्भ ही उसका मूल्यांकन संभव बनाते हैं। अर्थात् अगर पूर्ण समाज जाति प्रथा में-विश्वास करता है तो उसके अनुसार बनी वितरण की कसौटियाँ उस समाज के लिए न्यायप्रद होगी। अतः इस आधार पर वह न्याय के सिद्धांत की अमूर्तता तथा सार्वभौमिकता का खंडन करते हैं।

नारीवादियों के विचार

सुसेन मोलर ओकिन जैसी नारीवादी लेखिका इस बात पर ध्यान केंद्रित करती है कि रॉल्स का न्याय का सिद्धांत परिवार में मौजूदा असमानताओं और अन्याय के बारे में खामोश है। उनका मत है कि न्याय के संदर्भ में हुए अधिकांश महत्त्वपूर्ण शोधकार्यों में - परिवार की आंतरिक स्थिति एवं भूमिका पर शायद ही कोई विचार किया गया है। रॉल्स का मत है कि न्याय का संबंध‘ समाज के

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

मूल ढाँचे 'से होना चाहिए जबकि नारीवादी लेखकों ने' पर्सनल इज पॉलिटिकल 'के विचार के संदर्भ में रॉल्स कि इस आधार पर आलोचना की है कि न्याय सिद्धांत परिवार में असमानताओं को लेकर मौन है। जैसा कि उपरोक्त चर्चा की गई है कि रॉल्स ने न्याय सिद्धांत के निर्माण हेतु एक' मूल 'स्थिति-का वर्णन करते हैं।' मूल 'स्थिति-में बैठे वार्ताकार ही न्याय के सिद्धांतों का निर्माण करते हैं। रॉल्स का मत है कि' मूल 'स्थिति-में परिवारों के मुखिया ही सम्मिलित होते हैं। रॉल्स एक तरफ तो परिवार को समाज की एक ऐसी आधारभूत संरचना के रूप में स्वीकार करते हैंवहीं दूसरी तरफ वह परिवार ,जिसके लिए न्याय के सिद्धांतों का चयन होता है , विभाजन की तरफ बिल्कुल भी ध्यान नहीं देते हैं।-के भीतर होने वाले अन्यायों एवं लिंग आधारित श्रम

अमर्त्य सेन के विचार

अमर्त्य सेन ने अपनी रचना' द आइडिया ऑफ जस्टिस) '2010में जॉन रॉल्स के न्याय के सिद्धांतों की आलोचनात्मक (' ,मूल्यांकन करते हुए न्याय के संबंध में एक विशेष विचारक्षमता या सामर्थ्य 'को प्रतिपादित किया है। सेन मत है कि रॉल्स द्वारा वर्णित मूल संसाधन स्वतंत्रता प्राप्त करने का साधन मात्र है वे ,स्वतंत्रता की मात्रा तथा गुणवत्ता तय नहीं कर सकते अर्थात् यदि दो व्यक्तियों के पास ये मूल संसाधन समान मात्रा में है तो भी वे एक जैसी स्वतंत्रताएँ में प्राप्त नहीं कर सकते। उनकी आयुउनका , उनके अनुवांशिक गुण एवं क्षमताओं का अंतर उनकी स्वतंत्रताओं में भ ,लिंगी विभेदीकरण कर देगा। संसाधनों को वास्तविक स्वतंत्रता में बदलना क्षमताओं पर निर्भर करता है।

समष्टिवादियों के विचार

समष्टिवादियों)Collectivists रॉल्स का न्याय सिद्धांत परंपरागत उदारवादी ,के अनुसार (पूँजीवादी व्यवस्था की औचित्यता सिद्ध करता है। यह विचार संपत्तिशाली वर्ग के विशेषाधिकार को कायम रखने में सहायक सिद्ध हुआ है। रॉल्स ने अवसर की उचित समानता का जो सिद्धांत प्रस्तुत किया हैयदि उसे कठोरता पूर्वक भी लागू किया जाए तो भी धनी एवं निर्धन वर्गों के बीच खाई को , कम नहीं किया जा सकता। हीनतम लोगों की स्थिति में नाममात्र सुधार दिखाई देने पर भी यह सिद्धांत भारी सामाजिकआर्थिक - असमानताओं की अनुमति देता है। रॉल्स के न्याय सिद्धांत की एक अन्य आलोचना यह भी की जाती है कि हीनतम स्थिति वाले लोगों की पहचान अति कठिन कार्य हैं। रॉल्स का न्याय सिद्धांत इस बात पर मौन है कि लोगों को किनकिन आधार पर हीनतम - योग्यता एवं प्रतिभा का) यदि केवल आय एवं संपत्ति के आधार पर इनकी पहचान की जाएगी तो अन्य दृष्टियों ?माना जाएगा से जरूरतमंद लोगों पर हमारा ध्यान ही नहीं जाएगा। (अभाव इत्यादि

स्वेच्छातंत्रवादियों के विचार

स्वेच्छातंत्रवादियों)Libertarians) के अनुसार रॉल्स का यह तर्क पूर्णता अस्वीकार्य है कि व्यक्तिगत योग्यताएँ एवं क्षमताएँ समाज की सार्वजनिक संपत्ति है तथा उनको सामाजिक न्याय के आधार पर पुनर्वितरित किया जाना चाहिए। नॉजिक ने रॉल्स के 'भेदमूलक सिद्धांत 'की आलोचना करते हैं। यह विचारक तर्क देते हैं कि रॉल्स ने समानता पर अत्याधिक महत्त्व देते हुए मनुष्य की स्वतंत्रता की बलि दे दी है। अधिक योग्य एवं प्रतिभा संपन्न जोखिम उठाने को तैयार रहने वाले लोगों को हीनतम व्यक्तियों के लाभ हेतु कार्य करने को विवश क्यों किया जाएरॉल्स के समझौते में सम् ?मिलित वार्ताकार थोड़ी सी भी जोखिम उठाने को तैयार नहीं है। समाज की उन्नति में ऐसे लोग क्या उन्नति कर पाएँगे।

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

मार्क्सवादियों के विचार

मार्क्सवादियों)Marxistsके मतानुसार आर्थिक एवं सामाजिक तथ्यों की जानकारी के अभाव में न्याय के सिद्धांत को निर्धारित (करनायुक्तिसंगत नहीं है। रॉल्स न्याय के नियमों को ज्ञात करने हेतु मनुष्य को एक काल्पनिक' मूल 'स्थिति-में रखा जहाँ उन्हें सामाजिक' आर्थिक तथ्यों का बोध नहीं होता एवं वे इस संदर्भ में-अज्ञान के पर्दे 'के पीछे समझौता करता है। मार्क्सवादीयों के मतानुसार नैतिक व्यवस्थाओं को केवल' वर्ग 'संघर्ष-एवं' स्वामित्व की पद्धतियों 'के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। अतः 'अज्ञान के पर्दे' के पीछे हुआ समझौता अतार्किक एवं निराधार है।

3.3 सार्वजनिक बनाम निजी बहस: नारीवादी परिप्रेक्ष्य

कहा जाता है कि 'दिन औरत अपनी मेहनत का हक माँगेगी उस दिन दुनिया की सबसे बड़ी चोरी पकड़ी जाएगी'। हालाँकि इस कथन को तथाकथित राजनीतिक वैज्ञानिक या सिद्धांत शास्त्री किसी विशिष्ट विचारधारा से ओत-प्रोत माने पर सच्चाई तो वे भी नहीं नकार सकते। उपर्युक्त कथन जितना सरल लगता है उसकी गहनता और जटिलता उतनी ही अधिक है, इसलिए इसके पीछे की समझ को जानना बहुत अधिक आवश्यक है। ऐसा क्यों है कि हर समाज में महिलाओं की स्थिति पुरुषों के समान नहीं होती? उन्हें राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक तौर पर हीन पाया जाता है। क्या ऐसा होना कोई प्राकृतिक कारण है या फिर कोई सामाजिक सांस्कृतिक अनुबंध। इन सभी प्रश्नों पर प्रकाश डालने के लिए नारीवाद को समझना होगा।

राजनीतिक सिद्धान्त के क्षेत्र में नारीवाद और उसके महत्त्व को जानना जरूरी है। वैसे भी क्लेयर चैम्बर्स (2008) का मानना है कि राजनीतिक सिद्धांत का इतिहास हमेशा से ही पुरुष सिद्धांतवादी रहा है। क्योंकि जितने भी सिद्धांत बने हैं, उसमें महिलाओं के योगदान को हाशिये पर रखा गया है। नारीवाद को समझने पर ही उसके उद्देश्यों और लक्ष्य को जान सकते हैं। इस लेख को इन्हीं सभी चिह्नों को ध्यान में रखकर गढ़ा गया है।

3.3.1 नारीवाद अर्थ और महत्त्व

नारीवाद नारी संबंधी उस विचारधारा को कहेंगे जो, समाज में उसकी असमानता, अधीनता, पिछड़ेपन व हाशिए की स्थिति पर ना सिर्फ प्रश्न उठाता है, बल्कि उसको परिवर्तित करने की कोशिश भी करता है। यह ऐसा सिद्धांत है, जो सभी क्षेत्रों में लैंगिक समानता की पैरवी करता है। उसका उद्देश्य ही है कि वर्तमान सामाजिक आर्थिक राजनीतिक व्यवस्था के दमनकारी पुरुष प्रभुत्व को समाप्त किया जाए और महिलाओं की स्वतंत्रता और समानता को बढ़ावा दिया जाए (विक्टोरिया ब्राऊन, 2019)।

विक्टोरिया ब्राऊन(2019) जो कि नारीवाद के ऐतिहासिक विकास को जाँचती हैं, उनका मानना है कि मैरी वॉल्सटॉनक्राफ्ट (Mary Wollstonecraft) को नारीवाद की जननी मन जाता है। वह बताती हैं कि नारीवाद का इतिहास काफी पुराना है इसकी शुरुआत 19वीं सदी में हुई थी, जब सर्वप्रथम सेनेका फाल्स में 1848 में वूमेन राइट कन्वैक्शन लगा था और उन्होंने महिलाओं के लिए राइट टू वोट यानी मताधिकार की बात की थी इसी को नारीवादी आंदोलन की पहली लहर माना जाता है। और इसकी दूसरी लहर 1960 और 1970 के दशकों में यूरोप और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में स्त्री स्वतंत्रता आंदोलनों के रूप में आई। इस दौरान यूनाइटेड किंगडम में समान भुगतान कानून (Equal Pay Act,1970) और अमेरिका में समान अधिकार संशोधन, 1972 पास हुए थे। हालाँकि इन दोनों लहरों महिलाओं की माँग के मूल्यों का आंकलन किया जाए तो वह स्वतंत्रता और समानता ही निकल कर आता है। जिसमें स्वतंत्रता का मूल्य उदारवाद और समानता का मूल्य समाजवाद के करीब लाता है। जिस पर आगे नारीवाद के प्रकार में विचार किया जाएगा।

©DDCE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

अभी के लिए जो अहम है, वह यह समझना है कि राजनीतिक सिद्धान्त में नारीवाद का क्या महत्त्व है? इस प्रश्न के जवाब देने के लिए नारीवाद योगदान को समझना होगा। जिसपर निवेदिता मेनन का मानना है कि इसका सबसे बड़ा योगदान है, सेक्स व जेंडर में भेद का निर्माण करना।

3.3.2 सेक्स और जेंडर से समाज विभाजन

नारीवादी विमर्श को समझने के लिए सबसे पहले यह जान लेना जरूरी है कि सेक्स और जेंडर एक ही नहीं हैं, बल्कि दोनों अलग-अलग तरीक़े है जो सामाजिक विभाजन लाते हैं। एक तरफ सेक्स को जहाँ जैविक अर्थ में समझ सकते हैं, वहीं दूसरी तरफ जेंडर को सामाजिक और सांस्कृतिक अर्थ में समझ सकते हैं। अभी यही दो तरीके हैं, यह निर्धारण करने के लिए कि कौन पुरुष, स्त्री, या अन्य है। जिसमें से एक तरीका तो प्राकृतिक रूप में है, जबकि दूसरा मानव निर्मित। हमारा पुरुष प्रधान व्यवस्था हर संभव तरीके से अपनी स्थिति को उच्चतम या नियंत्रण करने वाली रखने के लिए जैविक निर्धारण के तरीके का भी इस्तेमाल अपने वर्चस्व को बढ़ावा देने के लिए करता है। यानी सेक्स के आधार पर ही समाज मे जेंडर भूमिका तय की जाती है। इसके द्वारा ही पुरुष बोला जाने वाला प्राणी अपनी इस चालाकी से दुनिया का मालिक बना हुआ है और औरत उसकी नौकर। निवेदिता मेनन का भी मानना है कि जैविक निर्धारण सदियों से महिलाओं के दमन का सबसे वैधानिक यन्त्र बना हुआ है। इसलिए नारीवादी राजनीति के लिए इस जैविक निर्धारण को चुनौती देना बहुत अहम है (Bhargava, Acharaya: 225)। क्योंकि इस प्रकार के निर्धारण ने ही महिलाओं को हीन स्थिति में पहुँचाया है। इसको और बढ़िया से जानने के लिए Simone De Beauvior (सिमोन दी बुआ) की रचना The Second Sex(1949) से उस कथन को जाँचना होगा जिसमें वह कहती हैं कि कोई औरत पैदा नहीं होती, बल्कि औरत बन जाती है (One is not born but, rather becomes a woman)। औरत समाज द्वारा बनाई जाती है। जन्म से ही लड़की और लड़के की परवरिश में अंतर रखा जाता है उसके अंदर समाज कुछ ऐसे मूल्यों को गढ़ने की कोशिश करता है जो समाज में विभाजन लाता है हम देख सकते हैं कि लड़का और लड़की के लिए खिलौने, कपड़े, रंगों से लेकर उनके व्यवहार तक को भी अलग तरह से निर्धारित किया जाता है। उदाहरण के तौर पर लड़कियों को बचपन से ही सिखाया जाता है कि वह इधर-उधर नहीं घूमती दिन ढ़लने पर बाहर नहीं निकलती, जबकि लड़कों को सिखाया जाता है कि लड़के रोते नहीं हैं, लड़के किसी से डरते नहीं हैं। दोनों को इस तरह से सामाजिक किया जाता है कि उनमें अलग-अलग मूल्य आ जाएँ लड़के को निडर और लड़की को नाजुक बनाया जाता है। ऐसा इसलिए किया जाता है ताकि दोनों मैं अंतर बना रहे और दोनों के दायरों को अलग किया जा सके। जहाँ एक लड़के का दायरा बृहद होता है, वही एक लड़की का दायरा बस घर तक सीमित होता है। यहीं से समाज में उन्हें अलग-अलग जेंडर आधारित भूमिकाएँ थमा दी जाती हैं, जिसमें पुरुष को घर से बाहर की सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका प्राप्त होती है और महिला को घर के भीतर की घरेलू भूमिकाओं से जूझना पड़ता है। पुरुष प्रधानता को बनाए रखने के पीछे जेंडर आधारित भूमिका निधार्रण भी अहम किरदार निभाती है। हम यहाँ पर यह भी देख सकते हैं कि कुछ मामलों में सेक्स आधारित अंतर का प्रयोग करके समाज में जेंडर आधारित अंतरों का निर्माण किया और उसके अनुसार सामाजिक भूमिका तय की है। उदाहरण के लिए बच्चे को जन्म देना, उसका स्तनपान कराना सेक्स आधारित अंतर है जो एक महिला करा सकती है, पुरुष नहीं। जबकि बच्चे का ख्याल रखना उसको पालना उसका पोषण करना जेंडर आधारित अंतर है, जो एक पुरुष भी कर सकता है लेकिन जेंडर की भूमिका के तहत यह काम महिलाओं पर थोपा गया है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि यह जो जेंडर आधारित अंतर हैं यह समाज के मान्यताओं से थोपे जाते हैं। मानव किसी भी प्राकृतिक नियम को तो नहीं बदल सकता लेकिन उन नियमों को जरूर बदल सकता है, जो खुद उसने समाज में रहकर बनाए हों या संस्कृति के नाम पर बनाए हों। इसीलिए नारीवादी हमेशा जेंडर और उसकी भूमिका की आलोचना करते हैं। क्योंकि यही सब कारण है जो महिलाओं को अधीनता की स्थिति में रखते हैं। कोई भी प्राकृतिक भेद को तो नहीं बदल सकता लेकिन

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

सामाजिक और सांस्कृतिक मानव निर्मित भेद को अवश्य बदल सकता है। सिमोन दी बुआ का मानना है जेंडर समाज निर्मित है इसलिए इसे खत्म किया जाना चाहिए। जबकि नैंसी फ्रेसर भी जेंडर के विनिर्माण की बात करती हैं (Catriona Mckinnon, 2008: 272)। तमाम प्रकार के सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों विचारधाराओं और संस्थाओं ने महिलाओं के वैचारिक और भौतिक अधीनता को जन्म दिया है। इस अधीनता को समाप्त करने के लिए ही नारीवादियों के निम्नलिखित लक्ष्यों को साथ आगे बढ़ रहे हैं—प्रथम, राजनीतिक सिद्धांत के निर्माण में जेंडर की भूमिका को समझना और उसकी आलोचना करना, दूसरा ऐसे राजनीतिक सिद्धांतों को बनाना जो जेंडर समानता को बढ़ावा दें और तीसरा ऐसे राजनीतिक विज्ञान का समर्थन करना या आगे बढ़ाना जो जेंडर समानता की बात करते हैं।

3.3.3 नारीवाद के विभिन्न प्रकार

1. उदारवादी-नारीवादी : नारीवादियों की इस श्रृंखला में उन शुरुआती नारीवादियों को रखा गया है, जिन्होंने शुरुआती दौर में महिलाओं की समानता और स्वतंत्रता की बात की थी। जैसे मैरी वोलस्टोनक्राफ्ट (A Vindication of the Right of Women) जे. एस. मिल (Subjugation of women) इन सभी ने अपनी रचनाओं के द्वारा महिलाओं के लिए समान अवसर और निष्पक्ष अवसर की माँग, समान राजनीतिक अधिकारों की माँग की और सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों के अंतर को उजागर किया।
2. मार्क्सवादी-समाजवादी नारीवादी : इनके द्वारा माना जाता है कि महिलाओं के दमन के लिए वर्ग सिद्धांत की प्रमुख स्रोत है। और महिलाओं के दमन का कारण आर्थिक है जैसा कि हम देख सकते हैं कि महिलाओं को उनको घर में काम करने के लिए कोई आय नहीं मिलती। उनकी स्थिति बंधुआ की तरह है। पुरुष महिलाओं के कारण ही घर के बाहर के काम कर सकते हैं। इसलिए पैसे कमा सकते हैं लेकिन महिला आर्थिक रूप से पूरी तरह पुरुषों पर ही निर्भर है। इसलिए घर में भी महिलाएँ आर्थिक कारणों से पुरुषों के अधीन ही रहती हैं। जहाँ महिलाओं को पैसे कमाने वाले कार्यों में रखा जाता है, वहाँ भी उन्हें पुरुषों के समान कार्य के लिए वेतन काम दिया जाता है।
3. रेडिकल नारीवादी : इनका मानना है कि पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री सुलभ मूल्यों का अवमूल्यन हुआ है महिलाएँ ज्यादा संवेदनशील, स्वाभाविक और प्रकृति के नजदीक हैं। सुसैन ग्रिफिन और एंड्रिया डवोर्कि कहती है कि इन स्त्री सुलभ मूल्यों को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। क्योंकि पुरुष नैतिक निर्णय इस आधार पर लेता है कि समाज किसे सही मानता है, इसलिए पश्चिमी नैतिक दर्शन जैसे तार्किकता संप्रभुता व न्याय पुरुषों के अनुभव पर निर्मित है।
4. उत्तर-आधुनिक नारीवादी : जुडिथ बटलर मानती हैं कि जेंडर ही जैविक सेक्स की श्रेणी को जन्म देता है। जेंडर का निर्माण शक्ति के संबंधों मानको और पाबंदियों द्वारा होता है। इन नारीवादियों द्वारा बायोमेडिकल साइंस की आलोचना की गई है, क्योंकि रुथ ब्लिर एवं एवलिन फॉक्स केलर मानती है कि सेक्स और जेंडर के बीच का विभाजन सिर्फ बायोमेडिकल साइंस तक सिमट कर रह गया है। नेल्ली ओउदशरून (1994) अपने कार्य में वर्णन करती हैं कि यहाँ जेंडर प्रभावित किया जाता है, क्योंकि यह मानते हैं कि वैज्ञानिक तथ्य गहरे रूप से समाज और संस्कृति में समाहित है। इनका यह भी मानना है कि सेक्स मानवीय व्यवहार से भी बनता है (Bhargava, Acharaya, 2008: 231)।

3.3.4 भारत में महिलाओं की स्थिति और नारीवाद

भारत में महिलाओं की स्थिति काफी विचित्र है, क्योंकि एक ओर जहाँ महिलाओं को देवी सामान समझा जाता है, उनकी पूजा की जाती है। वहीं दूसरी ओर समाज में महिलाओं की स्थिति काफी निम्न स्तर पर देखी जा सकती है। उनके ऊपर घरेलू हिंसा, यौन उत्पीड़न, और भी बहुत सारी प्रताड़ना होती रहती हैं। उन्हें पुरुष प्रभुत्व अधीन रहना पड़ता है। यही भारत देश में महिलाओं की

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

स्थिति की विचित्रता है कि एक और तो उन्हें पूजनीय स्थान प्राप्त है लेकिन वास्तविकता में वे पुरुषों के समान तक नहीं मानी जाती हैं। इस प्रकार की भारत में महिलाओं की विचित्र स्थिति या आम भाषा में कहें तो महिलाओं के प्रति दोगलापन का कारण क्या हो सकता है? क्या यह प्राचीन सुविख्यात भारतीय संस्कृति के कारण है? या किसी बाहरी सभ्यता के कारण है? इसका जवाब ढूँढ़ना बहुत जरूरी है।

उमा चक्रवर्ती इन्हीं सब सवालों का जवाब ढूँढ़ते हुए अपने लेख 'Conceptualizing Brahamanical Patriarchy in Early India' का निर्माण करती हैं, जिसमें उन्होंने पाया कि जाति और पितृसत्ता में एक गहरा संबंध है। वह वर्णन करती है कि महिलाओं की अधीनता उन सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण से निर्मित होती है, जिसमें महिलाओं को रखा गया है। वह मानती हैं कि धार्मिक परंपराओं से ऐसी सामाजिक क्रियाओं और अभ्यासों का निर्माण होता है, जो महिलाओं को सदा पुरुषों के अधीन रखने की कोशिश करते हैं।

वह लिखती हैं कि जाति पदानुक्रम और जेंडर पदानुक्रम ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था के आयोजन सिद्धांत हैं। ब्राह्मणवादी पितृसत्ता में औरतों की पवित्रता पर जोर दिया जाता है और इसी कारण पुरुषों द्वारा उनकी लैंगिकता पर नियंत्रण किया जाता है। क्योंकि ब्राह्मणवादी व्यवस्था में रक्त की गुणवत्ता का प्रश्न उठता रहता है, वह रक्त की पवित्रता को बचाए रखना चाहते हैं। वह नहीं चाहते कि किसी भी प्रकार से इस रक्त की शुद्धता को भंग किया जाए, क्योंकि उनके द्वारा समाज पर थोपी गई जाति प्रथा को बनाए रखने का आधार वह रक्त की शुद्धता को ही बताते हैं। इसलिए उन्होंने अंतर-जाति विवाह पर अपने द्वारा निर्मित धार्मिक ग्रंथों के माध्यम से विरोध प्रकट किया है। उनके लिए सबसे ज्यादा प्रदूषित वह जति है, जो उच्च जाति की महिला और निम्न जाति के पुरुष के मेल का परिणाम है। यदि ऐसा होता है तो उन्हें धर्म से बहिष्कृत किया जाना चाहिए या वह रीति-रिवाज के तहत मृत्यु का भागी है। ऐसा ब्राह्मणवादी ग्रंथो में उल्लेखित है। उमा चक्रवर्ती आगे लिखती हैं कि इस समस्या से बचने के लिए समाज में महिलाओं की लैंगिक अधीनता को ब्राह्मणवादी नियम कानूनों द्वारा संस्थागत बनाया गया और उसे राज्य की शक्ति के द्वारा उन पर थोपा गया।

लेकिन यहाँ यह जानना जरूरी है कि महिलाओं ने इस प्रकार के रीति-रिवाजों या पारंपरिक नियमों का विरोध क्यों नहीं किया? इसका उत्तर देते हुए उमा चक्रवर्ती बताती हैं कि औरतों द्वारा इसका कोई विरोध नहीं किया, क्योंकि औरतें अक्सर इस पर अपनी सहमति तीन कारणों के वजह से दिखाती हैं जिसमें सबसे पहले विचारधारा, फिर पुरुषों के ऊपर उनकी आर्थिक निर्भरता, और अंत में सहमत न होने स्थिति में उनके ऊपर पुरुषों द्वारा बल का प्रयोग करना है। इसलिए महिलाएँ अक्सर इन सभी स्थितियों में अपनी सहमति दिखाने के अलावा और कुछ नहीं कर सकती।

उमा चक्रवर्ती यह भी वर्णन करती हैं, कि आदि काल में जब शिकार-भण्डारण का दौर था तब महिलाएँ और पुरुष अलग थे, लेकिन समान थे। इसको साबित करने के लिए वह कठोतिया, भीमबेटका और खरवाई की गुफाओं में बनी चित्रकारी का सहारा लेती हैं। और बताने की कोशिश करती हैं, कि उस दौर के समाज में महिला लैंगिकता, महिलाओं के अस्तित्व का एक पहलू था। लेकिन उनके ऊपर कोई लैंगिक नियंत्रण नहीं था। महिलाओं और उनकी लैंगिकता पर नियंत्रण तो वैदिक काल से आया जिसमें प्राचीन राज्य की सामाजिक संगठन द्वारा इसे लागू किया गया। वह बताती हैं कि ऋग्वेद में दासी प्रथा का वर्णन है। आर्य जिसको भी हर आते थे, उनकी औरतों पर कब्जा कर लेते थे, और उन्हें दासी बना लेते थे। तब दासी रखना धन के संचयन के रूप में देखा जाता था। उत्तर वैदिक संस्कृति में आर्यों की महिलाएँ घर के कामों तक ही सीमित रह गई और उनकी दासियाँ खेतों में काम करती थी और आर्य महिलाएँ सिर्फ प्रजनन का काम करती थी।

वह बताती हैं कि किस प्रकार धर्म द्वारा महिलाओं की लैंगिकता और महिलाओं पर नियंत्रण स्थापित किया गया है। देवी देवताओं में भी इसका वर्णन मिलता है क्योंकि देवियाँ बस अपने देवताओं का पालन करती थी, उनके अधीन रहती थी। जातक कथाओं

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

द्वारा भी महिलाओं की स्थिति को हीन बनाया गया। जैसे शतपथ ब्राह्मण के रूप में हमें बताया गया है कि एक महिला, एक शूद्र, एक कुत्ता और एक कौवा असत्य, पाप और अंधकार के अवतार हैं।

जातक कथाओं में महिलाओं को कामुकता से भरा हुआ बताया गया है। जैसे उनमें लिखा है कि महिलाओं को न तो सुंदरता की परवाह होती है, न ही उनका ध्यान उम्र पर टिका होता है; यह सोचकर कि वह एक आदमी है, वे अपने आप को सुंदर और कुरूप को दे देते हैं। पुरुषों के प्रति अपने जुनून के माध्यम से, अपने परिवर्तनशील स्वभाव के माध्यम से, अपनी स्वाभाविक हृदयहीनता के माध्यम से, वे अपने पतियों के प्रति विश्वासघाती हो जाती हैं, चाहे कितनी भी सावधानी से उनकी रक्षा की जाए [मनु IX। 15]. वैदिक काल से महिलाओं की बुरी स्थिति का या उनके अधीनता का सबसे बड़ा कारण रहा वह मनु है। उन्होंने अपनी निम्न समझ से बताया कि औरतों की झूठ बोलने की, यहाँ-वहाँ बैठने की, गहनों से प्रेम करने की, गुस्सा, कमीनापन और बुरा बर्ताव करने बुरी आदत होती है। मनु यह लिखता है कि महिलाएँ सहज रूप से कामुक, चंचल दिमाग वाली, प्यार में कमी और अपने पति के प्रति विश्वासघाती होती हैं। यहाँ तक की बारीकी से पहरा देने पर भी। उन्होंने महिलाओं को अपवित्र माना। खासतौर से मासिक धर्म को, वह मानते हैं कि मासिक धर्म ब्रह्म हत्या में महिलाओं की भागीदारी से जुड़ा है। यह एक महिला की जन्मजात अशुद्धता और साथ ही उनकी शारीरिक कामुकता का प्रतीक है। इसलिए मनु मानता है कि महिलाओं के ऊपर हमेशा पहरा रखा जाना चाहिए, चाहे उनकी कोई भी उम्र हो, दिन हो या रात हो। मनु के अनुसार जिस महिला पर सबसे ज्यादा पहरा देना है, या नियंत्रण रखना है, वह पत्नी है। क्योंकि पत्नी से उसके पति के बच्चे का जन्म होता है यदि पत्नी का चाल चलन सही नहीं हुआ तो परिवार सही नहीं होगा।

इन सभी पारंपरिक और धार्मिक कारणों ने पुरुषों के भीतर महिला की लैंगिकता को नियंत्रित करने का मार्ग खोला है। उन्हें महिला की अनियंत्रित लैंगिकता से डर लगने लगा है। उनके मन-मस्तिष्क में यह कुविचार भर चुका है कि औरत के संभोग आकांक्षा कभी पूरी या खत्म नहीं हो सकती। इसलिए महिलाओं को नियंत्रित करने के कुछ यांत्रिक तत्त्व का निर्माण किया गया। जिसमें सर्वप्रथम है विचारधारा, विचारधारा के द्वारा महिलाओं के जेहन में स्त्री-धर्म या पतिव्रता धर्म और पर्दा प्रथा को उतारा गया। चक्रवर्ती मानती हैं कि यह सभी चीजें ऊँच-नीच असमानता का संगठनात्मक ढाँचा है। महिलाओं के सामने ऐसी स्त्रियों का उदाहरण पेश किया गया, जो अपने पति के अधीन रहती थी और पतिव्रता धर्म का पालन करती थी। जैसे सीता, सावित्री, अनुसूया, अरुंधति आदि। यहाँ गौर करने लायक यह बात है कि सीता और संबुला की कहानी लगभग एक समान ही है, जबकि दोनों ही अलग-अलग धर्मों का उदाहरण पेश करती है। जहाँ सीता हिंदू धर्म के लिए देवी मानी जाती है, वहीं संबुला को बौद्ध धर्म में बेहद पवित्र माना गया है। महिलाओं के नियंत्रण के लिए जो दूसरा हथकंडा अपनाया गया, वह ब्राह्मणवादी सामाजिक नियम हैं जिनके द्वारा महिलाओं को हमेशा पुरुषों के अधीन रखा गया। इस व्यवस्था से यह सुनिश्चित किया गया कि एक महिला अपने पति के अलावा किसी अन्य पुरुष के संपर्क में ना आए, वह घर में ही रहे, उसका कहीं और बाहर आना-जाना ना हो। यदि वह पति की अनुमति के बिना कहीं बाहर जाती है, किसी और पुरुष से बातचीत करती है, तो वह पापी है उसे दंड दिया जाना आवश्यक है।

तीसरा तरीका महिलाओं को नियंत्रित रखने के लिए पितृसत्तात्मक राज्यों द्वारा अपनाया गया। राज्य या सभा मुख्यतः महिलाओं की पवित्रता को बचाने का काम करते थे, ताकि जाति की पवित्रता बनी रहे और ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था चलती रहे।

उमा चक्रवर्ती के लेखों से जो मुख्य बात निकल कर आई वह यह थी कि जेंडर और जाति आपस में जुड़े हुए हैं। उन्होंने महिलाओं की बुरी स्थिति के लिए वैदिक परंपरा को दोषी माना। जिसमें मनु, जातक कथाएँ, महाभारत, रामायण जैसे महा ग्रंथ हमेशा ब्राह्मणवादी पितृसत्ता को स्थापित करने की कोशिश करते रहे। यह सभी प्रयास केवल और केवल जाति व्यवस्था को बचाए रखने के लिए किया गया, ताकि ब्राह्मणवादी परंपरा चलती रहे और निम्न जातियाँ और महिलाएँ उनके अधीन रहे। ब्राह्मणवादी परंपरा द्वारा महिलाओं को नियंत्रित रखने का मुख्य कारण यह है कि वह महिलाओं को जाति व्यवस्था को दूषित करने या अन्य जाति के प्रवेश करने के द्वार के रूप में देखते रहे। उन्हें लगता था यदि कोई शूद्र या निम्न जाति का पुरुष उच्च जाति की महिला से संबंध

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

बनाता है या संतान को जन्म देता है, तो इससे जाति व्यवस्था को या वर्ण व्यवस्था को खतरा पैदा होगा। यही कारण था कि ब्राह्मणवादी सोच रखने वाले हमेशा अपनी स्थिति को बनाए रखने के लिए अपने घर की, और अपनी जाति की औरतों को नियंत्रित करते रहे।

बाला देवी अपने लेख 'भारत में महिलाओं की वर्तमान स्थिति की वैदिक तथा मध्यकालीन स्थिति की तुलनात्मक सामाजिक विवेचना' में वर्णन करती हैं कि वैदिक काल में महिलाओं को निम्न दृष्टि से देखा गया, पर उनकी स्थिति में गिरावट मुख्य रूप से उत्तर-वैदिक काल से आई। वह मानती हैं कि मध्यकाल में महिलाओं के विरुद्ध बहुत सारी कुरीतियाँ प्रचलित हो गई, जिसमें सती प्रथा, बाल विवाह, विधवा पुनः विवाह पर रोक और पर्दा प्रथा मुख्य थी। बाला देवी इन सभी कुरीतियों के कारण को खोजते हुए बताती हैं कि विदेशी आगमन, महिलाओं की निम्न स्थिति का कारण है। मुगल शासन, सामंती व्यवस्था, विदेशी आक्रमण और शासकों का विलासिता पूर्ण प्रकृति इन सभी तत्त्वों ने महिलाओं को उपभोग की वस्तु बना दिया। इस संकट से बचाने के लिए धार्मिक रूप से बहुत सारी कुरीतियों, रीति-रिवाजों का निर्माण किया गया ताकि महिलाओं को दूसरों से बचाया जा सके। लेकिन बाला देवी यह भूल रही हैं कि जिन तरीकों का इस्तेमाल महिलाओं की सुरक्षा या संरक्षण के लिए किया गया वह पुरुष प्रधानता या पितृसत्तात्मक सोच रखने वालों के द्वारा लागू किए गए, महिलाओं की इसमें कोई भागीदारी नहीं थी। वह तो बस इन सामाजिक कुरीतियों का पालन मजबूरन कर रही थीं।

बहरहाल बाला देवी यह भी बताती हैं कि मध्यकाल महिलाओं के संघर्ष का युग भी है, जिसमें बहुत सारे समाजसेवी महिलाओं की स्थिति को सुधारने के लिए उनका सही संरक्षण करने के लिए लड़ रहे थे। उन्नीसवीं सदीं के पूर्वार्द्ध में भारत के कुछ समाजसेवियों जैसे राजाराम मोहन राय, दयानन्द सरस्वती, ईश्वरचन्द विद्यासागर तथा केशवचन्द्र सेन ने अत्याचारी सामाजिक व्यवस्था के विरूद्ध आवाज उठायी। इन्होंने तत्कालीन अंग्रेजी शासकों के समक्ष स्त्री पुरुष समानता, स्त्री शिक्षा, सती प्रथा पर रोक तथा बहु विवाह पर रोक की आवाज उठायी। इसी का परिणाम था सती प्रथा निषेध अधिनियम, 1829, 1856 में हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1891 में एज ऑफ कन्सटेन्ट बिल,1891 में बहू विवाह रोकने के लिए मैरिज एक्ट पास कराया। इन सभी कानूनों का समाज पर दूरगामी परिणाम हुआ।

वैदिक काल और मध्यकाल में महिलाओं की स्थिति को जानने के बाद सबसे ज्यादा जरूरी है कि वर्तमान में उनकी स्थिति को समझा जाए और यह देखा जाए कि भारत में नारीवादी किस प्रकार से काम कर रहे हैं? इसके लिए हमें कमला भसीन जो कि अपने आप को विकासवादी नारीवादी के रूप में देखती हैं, उनकी नारीवादी समझ और माँगों पर ध्यान देना होगा।

कमला भसीन अपनी कृति What is Patriarchy? में एक अनूठी लेकिन सार्थक समझ को स्थापित किया और भारत में पूँजीवादी पितृसत्ता का वर्णन किया, जिसको वह इस प्रकार परिभाषित करती हैं "बड़े पैमाने पर अश्लील साहित्य और सौंदर्य प्रसाधन उद्योग जो महिलाओं, और साथ ही साथ लोकप्रिय मीडिया और अन्य पुरुष-केंद्रित उद्योगों का समर्थन करती है, वह खतरनाक जेंडर भूमिकाओं और रूढ़िवादिता को बढ़ावा देते हैं, कमला भसीन इसको 'पूँजीवादी पितृसत्ता' के रूप में संदर्भित करते हैं।" वह यह भी वर्णन करती हैं कि पूँजीवादी में हर बिकने योग्य चीज़ बिकती है। जिससे पुरुषों के मन-मस्तिष्क पर मात्र लाभ कमाने का जुनून होता है, यही उन्हें अमानवीय और हिंसक बना देता है।

अपनी एक अन्य कृति Understanding Gender में कमला भसीन वर्णन करती हैं कि सेक्स एक चीज है, लेकिन जेंडर बिल्कुल दूसरी चीज है। हर कोई पुरुष या महिला पैदा होता है और हमारे लिंग का निर्धारण हमारे जननांगों द्वारा किया जा सकता है, लेकिन लड़कियों और लड़कों के लिए जन्म से जो सामाजिक और सांस्कृतिक पैकेजिंग की जाती है वह जेंडर है। जैसा कि हमारे समाज में बच्चे के जन्म से ही भेदभाव शुरू हो जाता है अगर कोई लड़का पैदा होता है तो कमरे में नीले रंग के गुब्बारों से सजाया जाएगा

© DDCE, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

और दूसरी ओर बच्ची के लिए आयोजित कई समारोहों में गुलाबी गुब्बारे को प्राथमिकता दी जाती है और कोई उत्सव नहीं होता है और अनुष्ठान अनिवार्य रूप से आयोजित किए जाते हैं। जैसा कि हम देख सकते हैं कि कैसे जेंडर रंगों से जुड़ा है।

सेक्स सार्वभौमिक है लेकिन समय और स्थान के अनुसार जेंडर बदलता रहता है। उदाहरण के लिए मध्यम वर्ग की लड़की घर या स्कूल तक सीमित हो सकती है, जबकि एक आदिवासी लड़की स्वतंत्र रूप से जंगलों में घूम सकती है। कमला भसीन यह वर्णन करती हैं कि हमारी लड़ाई दो विचारधाराओं की लड़ाई है। यह कहीं भी पुरुषों के खिलाफ लड़ाई नहीं है, बल्कि यह पितृसत्ता की विचारधारा के विरुद्ध लड़ाई है,जो सोचती है कि पुरुष उत्तम है और वह अपने लाभ के लिए महिलाओं पर नियंत्रण कर सकता है। इस विचारधारा के खिलाफ जो दूसरी नारीवादी समानता की विचारधारा का समर्थन करते हैं, जो मानती है कि महिलाएँ और पुरुष अलग हैं लेकिन एक समान, वह दोनों एक समान मानव हैं। अपने नारीवादी आंदोलनों, कविताओं और लेखों से कमला भसीन सदैव महिलाओं के विरुद्ध होने वाली सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ लड़ती रही। वह दहेज प्रथा और बलात्कार के प्रति कानून को परिवर्तित करने के लिए आंदोलन चलाती रहीं। उनका योगदान आधुनिक दौर में भारतीय नारीवादी चिंतन में बहुत बड़ा है।

3.3.5 नारीवाद सामने चुनौतियाँ

जिस प्रकार पूर्व स्थापित दमनकारी अत्याचारी व्यवस्थाओं के विरुद्ध लड़ने वालों के सामने चुनौतियाँ होती हैं। वैसे ही कुछ चुनौतियाँ नारी वादियों के सामने भी हैं, लेकिन यह चुनौतियाँ अधिक गहन क्योंकि यह लड़ाई ना सिर्फ राजनीतिक स्तर की नहीं है बल्कि मानसिक स्तर तक भी लड़ी जानी है नारीवादियों की सबसे बड़ी और सबसे बड़ी चुनौती तो यह है कि वह मान्यता प्राप्त सामाजिक सांस्कृतिक, पितृसत्तात्मक समाज की आलोचना कर रहे हैं। उसके विरुद्ध अपने लिए निष्पक्ष आधार पर सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता और समानता की मांग कर रहे हैं। नारीवादियों के लिए सबसे पहले चुनौती समाज द्वारा निर्मित वह मान्यता और मूल्य है जिसको पुरुषत्व या अंग्रेज़ी में musculinity कहते हैं। इस धारणा को पितृसत्ता द्वारा गढ़ा गया है। पितृसत्ता इस पुरुषत्व को बनाए रखने पर जोर देती है, क्योंकि इससे कुछ मूल्यों को निर्मित किया जाता है। जैसे पुरुष उसी को माना जाता है जो निडर हो, ताकतवर हो या जिसके पास शक्ति हो। समाज में इन गुणों को मर्दानगी से जोड़कर देखा जाता है यह गुण समाज में जिस भी व्यक्ति के पास होते हैं उसे मर्द समझा जाता है, यदि कोई व्यक्ति ऐसे गुण नहीं रखता तो उसे शक्तिहीन समझा जाता है या नारी समझा जाता है। कुल मिलाकर यह कहने का प्रयास किया जाता है कि नारी कमजोर होती है। उसमें निडरता, शक्ति और ताकत जैसी कोई चीज नहीं होती। लेकिन सवाल यह उठता है यदि कोई पुरुष इन गुणों के बिना है तो उसका क्या होगा? निवेदिता मेनन बताती हैं कि ऐसे में समाज उन शक्तिहीन पुरुषों का नारीकरण कर देता है। हमारे समाज में ऐसे पुरुषों की भरमार है, जिसे हम या तो दलित पुरुष के रूप में देखते हैं या मजदूर पुरुष के रूप में देख सकते हैं।

दूसरी बड़ी चुनौती यह है कि जेंडर कि अपनी विशिष्ट पहचान बहुत सारी दूसरी पहचानो के कारण धूमिल हो जाती है। क्योंकि जेंडर इन बहुत सारी पहचानों के घेरे में स्थित है। यह पहचान जाति आधारित, नस्ल आधारित या धर्म आधारित हो सकती है। इसलिए एक महिला खुद को पहले महिला के अलावा खुद को किसी विशिष्ट जाति, धर्म या नस्ल से पहचान कर देख सकती है। जिस कारण कई बार महिला अपने अधिकारों के लिए इसलिए न नारीवादी आंदोलनों से नहीं जुड़ती, क्योंकि वह अपने धर्म, जाति, नस्ल का विरोध करने में असमर्थ होती है। यही समस्या नारीवादियों के लिए एक तीसरी चुनौती को भी जन्म देती हैं।

तीसरी चुनौती अधिक जटिल है। जेंडर विभाजन सीधे तौर पर शक्ति के बटवारे से जुड़ा हुआ है, जिसमें पितृसत्तात्मक सोच रखने वाले हमेशा अपनी वर्चस्वकारी स्थिति को बनाए रखने के लिए स्त्रियों को नियंत्रण में रखते हैं और इसके लिए वह सांस्कृतिक-धार्मिक झुनझुना या यूँ कहें अपने-अपने पर्सनल लॉ का इस्तेमाल करते हैं। भारत में हर धर्म के अपने-अपने पर्सनल लॉ हैं, जो यह बताने में तत्पर रहते हैं कि उनके धर्म के अनुसार महिलाओं के लिए क्या सही है या क्या गलत है। उनके धर्म के बाहर किसी और प्रकार की विधिशास्त्र उनके लिए सही नहीं है। भारत में यूनिफॉर्म सिविल कोड की माँग 1937 में शुरू हुई थी पर 1980 के दशक में भारतीय राजनीति सांप्रदायिक रंग में रंग गई और धार्मिक अल्पसंख्यकों की असुरक्षा बढ़ गई इसलिए उन्होंने पर्सनल लॉ का

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

निर्माण करने पर ज़ोर दिया। आप यह पर्सनल लॉ इतने जटिल हो गए हैं कि यह सामान कानून के लिए भी खुद को खत्म नहीं करना चाहते।

3.4 सेंसरशिप और इसकी सीमाएं

3.4.1 विषय का परिचय

भारत ने शासन के लोकतांत्रिक ढाँचे में सरकार को सेंसरशिप की शक्ति का अधिक सामान्य रूप से प्रयोग करने की कोई बड़ी गुंजाइश नहीं दी। जीवंत भारतीय नागरिक समाज और स्वतंत्र न्यायपालिका सरकार की शक्ति पर एक आवश्यक जाँच करती है और अगर अधिकारों और स्वतंत्रता के दायरे को सीमित करने के लिए कार्यकारी शक्ति का विस्तार किया जाता है, तो उच्चतम न्यायालय के पास हस्तक्षेप करने का अधिकार और मौलिक शक्ति है। इसके विपरीत, चीन की कम्युनिस्ट पार्टी (सी.पी.सी.) अपने नागरिकों पर सख्त निगरानी और सेंसरशिप का प्रयोग करने की पूर्ण शक्ति देता है। यह चीनी प्रणाली में इतना नियमित और स्थापित है कि कई विद्वान चीनी राज्य मॉडल को सेंसरशिप राज्य या निगरानी राज्य के रूप में संदर्भित करते हैं। सामान्य शब्द में कहे कि जो अक्सर चीनी राजनीतिक व्यवस्था को संदर्भित करने के लिए सार्वजनिक प्रवचन में उपयोग किए जाते हैं।

3.4.2 सेंसरशिप के प्रकार और तत्त्व

एक लोकतांत्रिक समाज की राजनीतिक व्यवस्था में गोपनीयता तथा खुलापन परस्पर विरोधी मूल्यों और विचार की स्वतंत्रता को दर्शाता है। हालाँकि, राज्य या किसी भी तरह के राजनीतिक प्रतिष्ठान द्वारा सेंसरशिप के मामले में हमेशा विभिन्न संदर्भों में सूचनाओं को नियंत्रित करने का प्रयास किया जाता है। सूचना छिपाने और संचार पर प्रतिबंध के मानदंड ज्यादातर संवैधानिक व्यवहार तथा सरकार चलाने के विभिन्न रूपों में मौजूद हैं। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन का आधिकारिक गोपनीयता अधिनियम या संयुक्त राज्य अमेरिका का सूचना की स्वतंत्रता अधिनियम, गोपनीयता के चरित्र और सार्वजनिक डोमेन से जानकारी को प्रतिबंधित करने के तत्त्व के साथ वैधानिक कानून हैं।

सेंसरशिप की मूलभूत विशेषताओं में से गोपनीयता एक है, जो सूचना के नियंत्रण के बारे में आदर्श है, चाहे उसकी पहुँच को सीमित करना, इसे नष्ट करना, या इसके निर्माण को प्रतिबंधित करना या आकार देना। गोपनीयता एक सामान्य और मौलिक सामाजिक प्रक्रिया है, जिसे सभी समाज जानते हैं। यहाँ चर्चा की गई सेंसरशिप के कानूनी रूप से समर्थित रूप में गोपनीयता शामिल है। प्रेस और प्रसारण संगठनों और प्रमुख समाचार-पत्रों और टेलीविजन नेटवर्क में आचार संहिता और स्वैच्छिक मानक हैं। ये एजेंसियाँ अक्सर किसी भी लोकतांत्रिक और सत्तावादी व्यवस्था में शासन द्वारा विभिन्न प्रकार की सेंसरशिप के अधीन होती हैं। राजनीतिक व्यवस्था में कई बार विभिन्न एजेंसियों पर राज्य के कानूनों का उपयोग करने की प्रवृत्ति होती है, जो कार्यपालिका द्वारा नियंत्रण और विनियमन के अधीन होते हैं। गोपनीयता के अलावा समकालीन दुनिया में लोकलुभावनवाद और नवगठित लोकतांत्रिक राज्यों के नाम पर भी सेंसरशिप का अभ्यास किया जाता है। यह कई तीसरी दुनिया के देशों और कुछ लोकतांत्रिक रूप से सत्तावादी राज्यों में देखा जा सकता है।

© DDCE/COL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

3.4.3 भारत और सेंसरशिप

भारत जैसे लोकतांत्रिक देश में राज्य द्वारा किसी भी प्रकार की सेंसरशिप या निगरानी की कोई गुंजाइश नहीं हो सकती है। भारतीय संविधान किसी भी प्रकार की कार्यकारी कार्रवाई के खिलाफ अधिकारों और सुरक्षा के व्यापक सेट की अनुमति देता है, जो कानून और प्रक्रिया का उल्लंघन करता है। हालाँकि, स्वतंत्रता के बाद के युग में लोकतंत्र के विकास में राज्य द्वारा कुछ कदम और कार्रवाइयाँ देखी गई हैं, जो अक्सर भारत में सेंसरशिप की श्रेणी में आती हैं। भारत की गहरी लोकतांत्रिक नींव के बावजूद, ऐसे उदाहरण हैं जब सरकार ने नागरिकों के लिए स्वतंत्रता को प्रतिबंधित करने का प्रयास किया है। 1970 के दशक में कुख्यात आपातकाल ऐसा ही एक उदाहरण है जब हम भारत में राज्य द्वारा सेंसरशिप और निगरानी के चरम रूप का उपयोग करते हुए देखते हैं। यह वह समय था जब जनता के विरोध और सामाजिक उथल-पुथल के डर से उस समय की सरकार ने नागरिकों की स्वतंत्रता और अधिकारों को दबाने की कोशिश की थी।

जब हम सेंसरशिप की बात करते हैं, तो यह मूल रूप से व्यवस्थित दमन या विचारों और सूचनाओं के नियंत्रण को दर्शाता है, जिसे एक खुले समाज में प्रसारित किया जाना चाहिए। सेंसरशिप एक ऐसी चीज है, जो सूचना के मुक्त प्रवाह के बुनियादी सिद्धांतों के खिलाफ जाती है। इस तरह की प्रक्रिया और अभ्यास के लिए रास्ता बनाने वाली किसी भी राजनीतिक व्यवस्था को सेंसरशिप स्थापित करना कहा जाता है। यह समझना भी दिलचस्प है कि ग्रीक गणराज्यों के समय से सरकार के समकालीन आधुनिक रूप तक, सरकार के लिए किसी भी अवांछित आलोचना से लड़ने के लिए सेंसरशिप का व्यापक रूप से एक प्रमुख उपकरण के रूप में उपयोग किया गया है।

अनुच्छेद 19 में भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार हमारे संविधान द्वारा प्रदान किया गया है। सार्वजनिक अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों को सीमित करने के लिए, जो कार्यकारी हितों और उसके अधिकार में कुछ व्यवधान पैदा कर सकता है। दुनिया भर के कई राज्य अपने अधिकार को मजबूत करने के लिए सेंसरशिप कानूनों और विनियमों के लगातार उपयोग का पालन करने के लिए बाध्य हैं। उदाहरण के लिए सरकारी प्रणाली में भारत की तरह यह सेंसरशिप के खिलाफ एक निश्चित व्यापक सुरक्षा प्रदान करता है। चीन की तुलना में, भारत विश्व स्तर पर अधिकारों की सुरक्षा के मामले में सर्वश्रेष्ठ स्थान पर है।

3.4.4 सेंसरशिप और मीडिया

भारत में सेंसरशिप का एक उत्कृष्ट उदाहरण केंद्रीय फिल्म प्रमाणन बोर्ड (सी.बी.एफ.सी.) की संस्था है। यह भारत सरकार के सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के अधिकार क्षेत्र में आता है। बोर्ड किसी भी चीज़ की निगरानी और विनियमन करने के लिए ज़िम्मेदार है, जिसे आपत्तिजनक माना जाता है, या ऐसे विषय जिन्हें राजनीतिक और सामाजिक रूप से अस्थिर माना जाता है। यह समझने की जरूरत है कि भारत में सेंसरशिप के अत्यधिक प्रयोग के लिए कई बार बोर्डों की गतिविधि और विनियमन सार्वजनिक आलोचना के अधीन होते हैं। बोर्ड अक्सर स्वतंत्रता के रक्षकों और किसी भी कार्यकारी प्राधिकरण के बीच एक विवादित बिंदु बन गया है।

स्वतंत्र के बाद भारत में कांग्रेस पार्टी ने राज्यों और संघ स्तर पर सत्तारूढ़ प्रतिष्ठान को काफी हद तक नियंत्रित किया है। अधिकांश स्तरों पर कांग्रेस द्वारा एकल दल का प्रभुत्व मुख्यतः 1950 और 1960 के दशक में मौजूद था। हालाँकि, 1970 के दशक में कांग्रेस सरकार द्वारा उठाया गया कदम जिसके कारण भारत में आपातकाल की घोषणा हुई तथा एक और कदम जिसके कारण भारत में नई सेंसरशिप हुई। इस अवधि के दौरान भारत में आपातकाल और नए सेंसरशिप कानूनों को लागू करने के लिए प्रिंट मीडिया की प्रतिक्रिया नागरिक समाज के बीच बहुत आलोचना और बहस का विषय बन गई। इस आलोचना को दो चरणों में विभाजित किया जा सकता है।

1. प्रारंभिक प्रतिक्रिया, स्वतंत्रता और पसंद के नुकसान के कारण निराशा की भावना की थी।
2. प्रेस जिसे सरकार का विरोध करना था, कुछ समय बाद कार्यकारी आलोचना पर चुप हो गया।

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

भारत ने सूचना और प्रौद्योगिकी के वर्तमान युग में, इस क्षेत्र की बेहतर निगरानी और विनियमन के लिए कुछ आईटी कानूनों को भी पारित और क्रियान्वित किया है। हालाँकि, भारत के आईटी कानूनों में हाल के कुछ संशोधनों के कारण चिंताएँ भी हैं। सूचना प्रौद्योगिकी अधिनियम में संशोधन मई 2011 में जारी किए गए थे, 2011 के बाद भारत सरकार ने सार्वजनिक डोमेन में लाए जाने से पहले, अपनी वेब सामग्री को पूर्व-सेंसर करने के लिए Google और Yahoo जैसे कई आईटी निगमों से संपर्क किया। यह इन प्लेटफार्मों द्वारा उत्पादित की जा रही जानकारी और सामग्री की निगरानी या फ़िल्टर करने के लिए निर्देशित किया गया था। नए नियमों के अनुसार, इन प्लेटफार्मों से किसी भी तरह से महत्त्वपूर्ण या आपत्तिजनक सामग्री को हटाने या अस्वीकार करने की अपेक्षा की गई थी। विशेष रूप से संवेदनशील सूचना का प्रसार सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता और स्वास्थ्य के अधीन प्रतिबंधित माना जाता था। हालाँकि, इन मंचों के कई नेता और कुछ सार्वजनिक बुद्धिजीवी इन कदमों की आलोचना करते हैं, जो उनकी राय में लोकतांत्रिक व्यवस्था में उचित और स्वीकार्य नहीं था। उनके लिए, इन विनियमों का उद्देश्य कार्यकारी कार्रवाई द्वारा वांछित वेब सामग्री की निगरानी करना नहीं है, बल्कि कार्यकारी शक्ति की आलोचना की रक्षा के लिए अधिक डिज़ाइन किया गया है। भारत में आईटी कानूनों में संशोधन ने भारत में स्वतंत्रता, राज्य शक्ति और सेंसरशिप के अभिसरण पर बहस का नेतृत्व किया।

3.4.5 स्वतंत्रता और निगरानी—कानून का शासन

संवैधानिकता की अवधारणा में कानून के शासन को मौलिक मूल्य के रूप में बहुत अधिक प्रतिष्ठापित किया गया है। सीमित सरकार का विचार संवैधानिकता की कुंजी है और मूल रूप से कानूनी शासन के व्यापक मानकों पर आधारित है। यह इस सिद्धांत को संदर्भित करता है कि कानून को 'शासन' करना चाहिए, और 'कानून की सर्वोच्चता' का सरकार के सभी स्तरों पर पालन किया जाना चाहिए। इसे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्तरों पर शासन के लिए एक कानूनी ढाँचा प्रदान करना चाहिए। सिद्धांत को प्राचीन राजनीतिक लेखन में सैद्धांतिक तर्क मिला है। ग्रीक राजनीतिक चिंतन में प्लेटो और अरस्तू ने कानून के शासन के बारे में चर्चा की है तथा इसके महत्त्व को भी रेखांकित किया है। प्लेटो के राजनीतिक चिंतन में 'आदर्श राज्य' की अवधारणा ज्ञान, साहस और भूख के तीन प्रमुख मानवीय गुणों के इर्द-गिर्द बनी है, उन्होंने कहा, "जहाँ कानून किसी अन्य अधिकार के अधीन है और उसका अपना कोई नहीं है, मेरे विचार में राज्य का पतन दूर नहीं है; लेकिन अगर कानून सरकार का मालिक है और सरकार उसकी गुलाम है, तो स्थिति आशीर्वादों वादे से भरी हुई है और लोग उन सभी आशीर्वादों का आनंद लेते हैं जो भगवान राज्य पर बरसते हैं। इसी तरह, अरस्तू का कहना है कि नागरिकों के पास अच्छे कानून होने चाहिए और उनका पालन करने की आदत होनी चाहिए। उनका तर्क था कि "कानून को शासन करना चाहिए"। उनकी समझ में यह आज्ञाकारिता और पालन की एक आवश्यक आदत का प्रतिनिधित्व करता है। कानूनी न्यायशास्त्र के अनुशासन में, जेरेमी बेंथम, जॉन ऑस्टिन और एच.एल.ए. जैसे समकालीन कानूनी प्रत्यक्षवादी थे। एक नागरिक की ओर से आज्ञाकारिता की एक सामान्य आदत के रूप में कानून के शासन को समझने में हार्ट ने ग्रीक राजनीतिक दार्शनिकों के साथ समानता साझा की।

कानून का शासन अपने वैचारिक मूल और राष्ट्र राज्य मॉडल के विकास के लिए बहुत अधिक है। औद्योगिक क्रांति और पुनर्जागरण काल के बीच अभिसरण ने एक सिद्धांत के रूप में कानून शासन के लिए महत्त्वपूर्ण धक्का दिया। इसने मध्ययुगीन युग के धर्मतंत्र के अंत को चिह्नित किया और कानून के शासन के साथ आधुनिक राष्ट्र राज्य मॉडल के उद्भव का मार्ग प्रशस्त किया, जो इसके प्रमुख आधारभूत आधार थे। कानून के शासन के पहले सैद्धांतिक प्रतिपादकों में जॉन लॉक के लेखन शामिल हैं। उन्होंने जोर दिया कि कानून के शासन का मूल उद्देश्य व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा करना है, जिसका अर्थ लॉक के विचार में जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति का अधिकार है। बाद में ए.वी. प्रसिद्ध ब्रिटिश विधिवेत्ता और संवैधानिक सिद्धांतकार डाइसी ने कानून के शासन के सिद्धांत को लोकप्रिय बनाया। डाइसी के विचार में कानून के शासन में कुछ प्रमुख विशेषताएँ शामिल हैं। इसमें कानून के

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

उल्लंघन के लिए सजा होनी चाहिए, इसके लिए कानून के लिए 'समान अधीनता' की आवश्यकता होती है, जिसे आमतौर पर कानून के समक्ष समानता के रूप में समझा जाता है, हर समय और परिस्थितियों में कानून के आवेदन के साथ और अंत में मौलिक कानून में व्यक्तिगत अधिकारों का अवतार है। उन्होंने बड़े पैमाने पर कानून के शासन के लिए आवश्यक तंत्रों पर विस्तार से चर्चा की। बुनियादी मानदंड जिन पर सदियों से कानून के शासन का सिद्धांत विकसित हुआ है, व्यक्तिगत अधिकारों को सरकारी दुरुपयोग से बचाने के लिए कार्य करता है; साथ ही, यह कानून के आधार पर शासन सुनिश्चित करता है न कि पुरुषों के। इस तरह के विचार को रेच्सस्टैट की जर्मन अवधारणा में निहित किया गया था, जो कानून पर आधारित एक राज्य था, जिसे पूरे महाद्वीपीय यूरोप में व्यापक रूप से अपनाया गया और संहिताबद्ध और पेशेवर कानूनी प्रणालियों के विकास को प्रोत्साहित किया गया।

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि कानून का शासन समकालीन दुनिया में सबसे महत्त्वपूर्ण राजनीतिक आदर्शों में से एक है। सार्वजनिक बुद्धिजीवी और विद्वान अक्सर राज्य के कार्यों, राजनीतिक निर्णयों या संपूर्ण कानूनी प्रणालियों को सही ठहराने या उनकी निंदा करने के प्रयास में अवधारणा का आह्वान करते हैं। इसका उपयोग विभिन्न देशों में परीक्षण के आधार और शासन के पैरामीटर के रूप में किया गया है। इसके बावजूद कानून के शासन की अवधारणा पर विद्वानों में व्यापक असहमति है। शासन के उदार लोकतांत्रिक मॉडल में निहित सिद्धांत का अभी भी पश्चिम में भी काफी विरोध है।

कोई निश्चित अर्थ नहीं होने के कारण इस शब्द की अक्सर आलोचना की जाती है। वाल्ड्रॉन ने इसे "अनिवार्य रूप से विवादित अवधारणा" के रूप में संदर्भित किया। इसी तरह की अभिव्यक्ति ओलुफेमी ताइवो ने की थी जिन्होंने कहा था कि, "कानून के शासन के बारे में बात करना बहुत मुश्किल है; कानून के शासन की उतनी ही अवधारणाएँ हैं, जितने लोग इसका बचाव करते हैं।" तदनुसार, ये अवलोकन किसी दिए गए समाज में नियम कानून की उपस्थिति और स्तर का मूल्यांकन करने के दौरान उत्पन्न हुए हैं। सैद्धांतिक समझौते हो सकते हैं लेकिन जब शासन के विभिन्न मॉडलों के परीक्षण में इस सिद्धांत को लागू करने की बात आती है और व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा करने की उनकी क्षमता बड़े पैमाने पर सामने आती है। कानून के शासन के राजनीतिक आदर्श या नैतिक मूल्य होने पर भी मतभेद है। कुछ का तर्क है कि यह एक मूल्य है, यद्यपि नैतिक मूल्य नहीं है, जबकि अन्य इसे उच्चतम राजनीतिक आदर्शों में से एक मानते हैं।

3.5 प्रश्न

1. आप सेंसरशिप और स्वतंत्रता के बीच संबंधों को कैसे समझते हैं?
2. सेंसरशिप और निगरानी कानून के शासन को कैसे प्रतिबंधित/चुनौती देते हैं?
3. क्या चीन की राजनीतिक व्यवस्था निगरानी और राज्य सेंसरशिप का समर्थन करती है?
4. सेंसरशिप के लिए राज्य द्वारा उपयोग किए जाने वाले प्रमुख प्रकार के तरीके/रणनीति क्या हैं?
5. भारत में सेंसरशिप पर बहस को कैसे समझते हैं?
6. कानूनी, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक न्याय में क्या अंतर है?
7. रॉल्स के न्याय के सिद्धांत का समालोचनात्मक मूल्यांकन करें?
8. नारीवाद क्या है? नारीवाद के विभिन्न विद्यालयों की चर्चा कीजिए।
9. नारीवाद के विचार पर चर्चा करें। नारीवाद की विभिन्न तरंगों की व्याख्या करें?
10. सुसान मोलर ओकिन की समझ के संदर्भ में 'व्यक्तिगत राजनीतिक है' की व्याख्या करें।

© DDCE, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

3.6 संदर्भ सूची

- Menon, N. (2008) 'Gender' in Bharagava, R. and Acharya, A (eds.) Political Theory: An Introduction, New Delhi/ Pearson Longman.
- Rawls, John. (1973) *A Theory of Justice.*
- Sethi, A. (2008) Freedom of Speech and the Question of Censorship, In Bhargava, R. And Acharya, A. (eds.) Political Theory: An Introduction. New Delhi: Pearson Longman.
- Gaba, O.P. (2019) *An Introduction to Political Theory*, Mayur Paperback, Delhi.
- Jain, M.P. (2019) Introduction to Political Theory, Book age publication, New Delhi.

© DDCE, COL, SOL, University of Delhi

© दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग, मुक्त शिक्षा परिसर, मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

Department of Distance and Continuing Education
University of Delhi

B. A. (Programme) Political Science

Semester-I

Course Credits - 4

Multi-Discipline Specific Core Course (MDSC-1A)

INTRODUCTION TO POLITICAL THEORY

As per the UGCF - 2022 and National Education Policy 2020

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

Editorial Board

Dr. Mangal Deo

Dr. Shakti Pradayani Rout

Dr. Sudhir Kumar Parida

Content Writer

Dr. Mangal Deo

Disclaimer:

The current study material is an edited, reframed, and rewritten version of a previous study material from the C.B.C.S/Annual Mode.

© **Department of Distance and Continuing Education**

Ist edition: 2022

E-mail: ddceprinting@col.du.ac.in
politicalscience@col.du.ac.in

Published by:

Department of Distance and Continuing Education under the aegis of Campus of Open Learning, University of Delhi

Printed by:
School of Open Learning, University of Delhi

Introduction to Political Theory

Table of Contents

Sl. No.	Title	Writer	Pg. No.
Unit-1	What is political theory and what is its relevance?	Dr. Mangal Deo	01
Unit-2	Concepts: liberty, equality, justice, rights	Dr. Mangal Deo	13
Unit-3	Debates in political theory: A. Protective discrimination and principles of fairness? B. The Public vs Private debate: Feminist Perspective Censorship and its limits	Dr. Mangal Deo	74

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

Unit-1

WHAT IS POLITICAL THEORY AND WHAT IS ITS RELEVANCE?

Dr. Mangal Deo
School of Open Learning,
University of Delhi

STRUCTURE

1.1 Objective
1.2 Introduction
1.3 What is Political Theory?
1.4 Political Theory and Political Thought
1.5 Political Theory and Political Philosophy
1.6 Political Theory and Political Science
  1.6.1 Some Basic Characteristic of Political Theory
  1.6.2 Issues in Political Theory
1.7 Relevance of Political Theory
  1.7.1 Classical Political Theory
  1.7.2 Liberal political Theory
  1.7.3 Marxist Political Theory
  1.7.4 Empirical Scientific Political Theory
  1.7.5 Contemporary Political Theory
1.8 Why study History of Political Thought?
1.9 Questions
1.10 References

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

1.1 OBJECTIVE

- What is politics?
- The different conceptual approaches on viewing politics.

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

1.2 INTRODUCTION

The word theory refers to a body of logically collected and analysed body of knowledge. And Politics as we know is about many things including relationships among individuals and groups and classes and the state, and state institutions like the judiciary, bureaucracy etc. So one definition of Political Theory given by David Weld sees political theory as a network of concepts and generalisations about political life involving ideas, assumptions and statements about the nature, purpose and key features of government, state and society, and about the political capabilities of human beings'. Andrew Hacker defines it as 'a combination of a disinterested search for the principles of good state and good society on the one hand, and a disinterested search for knowledge of political and social realty on the other'.

1.3 WHAT IS POLITICAL THEORY?

A comprehensive definition has been given by Gould and Kolb who defined political theory as a 'sub-field of political science which includes:

(i) political philosophy- a moral theory of politics and a historical study of political ideas,

(ii) a scientific criterion,

(iii) a linguistic analysis of political ideas,

(iv) the discovery and systematic development of generalisations about political behaviour'.

We can conclude that political theory is concerned basically with the study of the phenomenon of the state both in philosophy as well as empirical terms. An attempt is made to provide explanations, descriptions and prescriptions regarding the state and political institutions. Also of course there is an underlying theme of studying the moral philosophical purpose. The thinker Weinstein had put it very succinctly when he had suggested that political theory is basically an activity, which involves posing questions, developing responses to those questions and creating imaginative perspectives on the public life of human beings. the questions that are asked are like what is the nature and purpose of the state and why should we prefer one form of state over another; how do we judge the ends, aims and methods of political organisation; what is and should be the relationship between the state and the individual. Through out history political theory has been answering these questions. It has been regarded as important because the fate of man is dependent on the kind of system of rulers and the ruled that is achieved and whether it leads to united action for the common good.

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© *Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi*

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

1.4 POLITICAL THEORY AND POLITICAL THOUGHT

Political theory is sometimes synonymously regarded with political thought but it is important to understand they don't necessarily mean the same thing. Political thought is a generalized term which comprises all thoughts, theories and values of a person or a group of persons or a community on state and questions related to the state. Any person expressing his views whether he is a professor, journalist, writer, novelist, poet etc and of course if he is a politician that has a bearing on our lives and that is about he state and governance and related questions then he is engaging in political thought. His thoughts may or may not comprise a theory if it is not a systematic logical hypothesis advanced to explain historical and political phenomenon related to political rule of the state and governance etc. Political thought thus is always of persons or groups while political theory is a self-contained and self-standing explanation or speculation or theory attempting to answer questions and explain history and the predict likely events in the future. Of course this theory is always some individual thinker' s creation. Barker had commented that while political thought is the immanent philosophy of a whole age, political theory is the speculation of a particular thinker.

1.5 POLITICAL THEORY AND POLITICAL PHILOSOPHY

Philosophy is all thinking really on anything and everything in search of the truth and wisdom. When this search is on political topics we call it political philosophy. Hence it may not necessarily have a theory to propose and that is the distinction between political philosophy and political thought. So while political theory is a part of political philosophy mostly political philosophy is much wider and need not necessarily be comprised of any theories.

Thus we can say political philosophy is the study of fundamental questions about the state, government, politics, liberty, justice, property, rights, law and the enforcement of a legal code by authority etc: what they are, why (or even if) they are needed, what makes a government legitimate, what rights and freedoms it should protect and why, what form it should take and why, what the law is, and what duties citizens owe to a legitimate government, if any, and when it may be legitimately overthrown or not. We often refer "political philosophy" to mean a general view, or specific ethic, belief or attitude, about politics that does not necessarily belong to the whole technical discipline of philosophy.

Political philosophy is often not concerned with contemporary issues but with the more universal issues in the political life of man. But a political theorist is looking at contemporary political life mostly and while he is interested in explaining the nature and purpose of the state and general questions like that he is also looking to describe and understand the realities of political behaviour, the actual relations between state and citizens, and the role of power in

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

the society.

While studying political science one gets the feeling political theory has to be supplemented by political philosophy. Otherwise, it appears barren and irrelevant.

1.6 POLITICAL THEORY AND POLITICAL SCIENCE

Political Science is a comprehensive subject or field of study of which political theory is only a sub-field. Political Science includes everything: political thought, political theory, political philosophy, political ideology, institutional or structural framework, comparative politics, public administration, international law and organisation etc. Some thinkers have stressed on the science aspect of political science and they suggest when political science is studied as a science with scientific methods political theory to the extent it is a part of political philosophy cannot be regarded as political science because whereas there is no room for abstract intuitive conclusions or speculations in political science, political philosophy relies on exactly those un-exact methods. Political theory is neither pure thought, nor pure philosophy, nor pure science.

Some Basic Characteristic of Political Theory

1. A political theory is generally the creation on individual thinker based on his moral and intellectual position and when propounding his theory he is looking explain the events, phenomenon and the mysteries generally of mankind's political life. The theory may or may not be accepted as true but it always can be regarded as one more theory. Generally we find the political theory of an individual thinker is put forward in a classic work y the thinker like Plato did in his Republic or Rawl in A Theory of Justice.
2. A political theory attempts to provide explanations on questions relating to mankind, the societies he formed and history and historical events generally. It also suggests ways of resolving conflicts and sometimes even advocates revolutions. There are also often predictions made about the future.
3. Political theory thus is also sometimes not only providing explanations and predictions but also sometimes actively influencing and participating in historical events particularly when they propose political action of a particular kind and that line of action is widely adopted. The great positive liberal thinker Harold Laski had commented that the task of political theorists is not merely of description but also of prescription on what ought to be.
4. Political theory is also usually discipline based and thought he subject of study remains the same the theorist might be a philosopher, historian, economist, theologian or a sociologist etc.

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

5. Political theories are often also the basis for a whole ideology. The liberal theories became the basis for liberalism and Marx's theory became the basis for Marxian socialist ideology. A political theorist proposed by a thinker is usually always reflecting the political ideology of the thinker too. That is also the reason why when there are conflicts between ideologies it leads to debates about the theories underlying those ideologies.

Issues in Political Theory

The issues that have held prominence in political theory have changed over time. Classical and early political theory was mainly concerned with the search for a morally perfect political order and focused on questions like the nature and purpose of the state, the basis on which political authority should be used and the problem of political disobedience. The rise of the modern nation state and changes in the economic structure and the industrial revolution gave rise to new priorities and he focus shifted to individualism and liberty of the individual and his relationship to society and the state. Issues like rights, duties, liberty, equality, and property became more important. Gradually it also became important to explain to the inter-relation between one concept and the other such as liberty and equality or, justice and liberty or, equality and property. After the second world war a new kind of empirical political theory emerged which studied the political behaviour of man and believed in making theoretical conclusions on that basis. Also the behavioural scholars created new issues for study often borrowed from other disciplines Some of these issues are political culture and legitimacy, political system, elites, groups, parties etc. In the last two decades a number of different issues have emerged like identity, gender, environmentalism, ecology and community etc. Also there has been a resurgence of value-based political theory with a new focus on the basic issues of freedom, equality and justice. The traditional twin ways of looking at issues - liberal and Marxist - therefore is also changing.

1.7 RELEVANCE OF POLITICAL THEORY

We humans as social beings live together and societies where we share the resources, jobs and rewards. We are also individuals needing some basic human rights. The process of organising state and society therefore becomes important to maximize harmony and prosperity and to allow the circumstances for individual self-realisation. So to facilitate the unity and integrity of human societies or the collective needs of society political theory becomes important it tries to study and find solutions to problems in this process. The relevance lies in evolving various approaches regarding the nature and purpose of the state, the basis of political authority and the best form of government to practice, relations between the state and the individual in the context of his basic rights. Apart from this political theory also seeks to establish the moral criterion for judging the ethical worth of a political state and to suggest alternative political arrangements and practices. To sum up in brief the relevance

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

of political theory lies in the following:

(a) In providing an explanation and description of political phenomenon

(b) helping select the political goals and actions for a community and

(c) helps in providing the basis for making moral judgments.

Also it has to be remembered increasingly at least in contemporary times states face challenges of poverty, corruption, over-population and ethnic and racial tensions, environment pollution etc. This is not to mention international problems like conflicts etc. Political Theory seeks to study the present and future problems of political life of the society and to suggest solutions for dealing with those problems. David Held has commented that the task of the political theorist is very great in its complexity because in the absence of systematic study, there is a danger that politics will be left to the ignorant and self-seeking people who are in pursuit of power.

Thus if one has to systematically think about the nature and purpose of the state and the problems of government while looking at the socio-political reality and keeping in mind the ideals and political philosophy, then one has to take the route of theoretically studying the problem. Thus political theory is relevant. Also studying political theory at an individual level makes one aware of one's rights and duties and helps one understand and appreciate the socio-political realities and problems like poverty, violence, corruption etc. Political theory is also important because it can go forward basing itself on the theories and propose the means and directions for changing society to establish an ideal society. Marxist theory for instance is an example of a theory which not only proposes the direction but also goes so far as to advocate a revolution for establishing an egalitarian state. If the political theory is sound and it can be transmitted and communicated to people then it can become a very powerful force or the advancement of society and mankind.

The Important Schools of Political Theory

The most important schools of political thought that have lasted in importance and have stood the test of time so to say are as follows:

1. Classical Political Theory
2. Liberal political Theory
3. Marxist Political Theory
4. Empirical Scientific Political Theory
5. Contemporary Political Theory

Classical Political Theory

The political theories that emerged starting from the 6th century B.C. and evolved through

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

the Greeks, Romans and early European Christian thinkers and philosophers is referred to as Classical Political Theories. Among the Greeks, Plato and Aristotle are the two thinkers who are studied and who have great influence till today. Classical political theory was deeply dominated by philosophy and the whole focus was on taking a holistic gaze searching for the most general of truths. So, there was no clear distinction between philosophical, theological and political issues and political science or thought was not separately recognised as a discipline as such. Political theory was concerned with probing into issues, asking important questions and serving as a sort of conscience keeper of politics. The underlying quest was to arrive at the best possible form of government. The state and government were also viewed as a tool for realising the moral goals of man and society and for promoting the good. Thus, the state was to serve as some sort of promoter to foster high moral standards among the members of the community. There had some debate about whether the individual good should be the priority or the common good. The common good was required as more complete than the private good of the individual. The classical tradition also sought to search ways for an ideal state and a stable system. The main questions that the classical tradition was asked was what is the best form of government? and who should rule and why? Also, how should conflict situations be resolved.

Liberal Political Theory

With the historical period referred to as Renaissance and Reformation in Europe which was followed by the Industrial Revolution, the dominance of the classical tradition came to an end. This new philosophical wave was led by thinkers like Hobbes, Locke, Thomas, Jefferson, Thomas Paine, Jeremy Bentham, J.S. Mill, Herbert Spencer and a host of other writers. The main thrust of the liberal tradition was the individual's rights and the state was merely regarded as a contract between individuals to benefit from the conflict resolution mechanism that a system of rule of law provides. The main aim of the state in the liberal tradition is to help individuals realise their fundamental inalienable rights. In fact, the liberal thinkers went so far as to propose that when the basic contractual relationship between the individual and the state is violated, the individuals have not only the right but the responsibility to revolt and establish a new government. Social control is best secured by law. The new liberal theories also dismissed the idea of common good and an organic community and instead advocated that the government should govern as less as possible for individual rights to reign supreme and free him from political, social and economic restraints as far as possible.

Marxist Political Theory

The fundamental changes that industrial revolution brought about caused inequality and a large class of impoverished industrial workers emerged. The basic liberal position that supported total economic freedom was challenged by Karl Marx and Engles and their followers who in the later half of the nineteenth century proposed what they called 'scientific

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

socialism'. Socialism predated the theory of Marx but he gave it a strong theoretical foundation. Marx offered a new way of looking at the history up to that time and suggested that the task of knowledge is not just to understand the world but also to change the social life of mankind for the better. For that he suggested a revolutionary path. He suggested that to win the basics of life for their emancipation he working class has to takeover the means of production and the means of production should be controlled by the state. This takeover will need to happen via a revolution he suggested because the upper classes will use the power of the state to crush any attempts for liberation and emancipation of the lower classes. Marx saw societies that liberal capitalism helped create as fundamentally unequal as a consequence of property concentration with a few families of fortune. Hence he wanted to create a society where "man shall not be exploited by man" and where each individual will have the full opportunity to develop his or her personality and potential. He also was the first major thinker to stress on the historical exploitation of the female gender and the need for women's liberation. The most important themes of Marxist political theory are class division, class struggle, property relations, modes of production, state as an instrument of class domination and revolution by the proletariat. Marxism also suggests that rights, liberty, equality, justice and democracy in a capitalist liberal democracy are really only enjoyed by the rich and properties classes because the state is controlled by the upper classes who use the institutions of the state as a tool for class exploitation. He believed real liberty and equality can only be achieved in a classless and stateless society. Thus whereas Liberal theory provided the theoretical basis for a capitalist free market system, Marxist political theory provided the basis for the establishment of a socialist state through revolutionary action.

Empirical-Scientific Political Theory

In America a new kind of political theory was developed particularly in the post second world war period that suggested relying on the scientific method (instead of philosophical) and base theories upon facts (rather than on values). Political Scientists at the Chicago University (known as the Chicago School) such as Charles Merrium, Harold Lasswell, Gosnell, David Easton, Stuart Rice etc. focused on studying politics in the context of behaviour of individual human beings as members of a political community. The task of political theory according to this new school of thought is to formulate and systematize the concept of science of political behaviour in which emphasis is placed on empirical research than on political philosophy. The behavioural scientists suggested a political theorist should clarify and criticise systems of concepts which have empirical relevance to political behaviour.

Behavioural schools differed fundamentally from all the previous schools because they suggested that the job of political theory is only to explain political phenomenon and extrapolate from that and predict the future. It is not to make philosophical and moral judgements. It is not at all to advocate revolutionary action. Thus political theory is not to

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

question or propose who rules, should rule and why but rather who does rule and how? . Or in other words it should not question the basis of the state but should be happy witht he status quo, stability, equilibrium and harmony in the society. It should focus attention on the study of political behaviour of man, group and institutions irrespective of their good or bad character. Practical political theory is not only concerned with the study of the state but also with the political process.

Contemporary Political Theory

Since the 1970 the sole focus of the empiricists and behavioural scholars on science, value-free politics and methods came under criticism and lost popularity because it failed to address pressing political and social issues. So there has been a revival of interest in political theory in USA, Europe and other parts of the world. Thinkers like John Rawls, Robert Nozick, Habermas etc made noteworthy contributions and took up basic issues like liberty, equality, justice etc again. Theory again regained the status of a legitimate form of knowledge and enquiry. Also on the question of what exactly is science there emerged many views that challenged the old notions. Further many scholars opined that social sciences throw up distinctive problems that cannot be grasped by scientific models. This is because perceptions and resulting actions of men vary and the same phenomenon can be viewed differently by different minds who may interpret the social issues differently. Hence it is difficult to do an objective scientific analysis of social issues and events with scientific rigor.

The publication of John Rawls 1970 book A Theory of Justice was important because he examined basic issues like rights, duties and obligations with great brilliance and offered a justification of civil disobedience, and with an original enquiry into intergenerational justice. Scholars like Peter Laslett, John Pocock, Quentin Skinner and John Dunn were called the 'new historians' of political thought. Juergen Habermass and the Frankfurt School gave important theories and Ronald Dworkin focused on the philosophy of law. David Held has opined that contemporary political theory has four distinct tasks: Philosophical: to focus on the fundamental philosophical positions of the normative and conceptual framework; Empirical: to empirically understand and explain the concepts; Historical: to examine the important concepts in the historical context; and Strategic: to asses the feasibility of moving from where we are to where we might like to be.

1.8 WHY STUDY HISTORY OF POLITICAL THOUGHT?

As has been mentioned above political thought concerns the state and its policies and decisions and activities. the various terms political science, political theory, political thought and political philosophy have not been used consistently in the same sense by scholars at all times. They have even been used as synonyms popularly. Political thought is the most general term of all these, which can be easily used to refer to the whole discipline easily and if we do

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

that then political science and political philosophy become specific sub-categories. Also political thought also accommodates ethics and moral philosophy, theology, role of politics in human development and the dignity of political activity.

On the question which is the best way of studying political thought, Gould and Thursby have opined that there are two ways to study political thought.

The first is to list the all the political thought considered to be classic such as Plato's Republic, Aristotle's Politics, Machiavelli's Prince, Hobbes' Leviathan, Locke's Two Treatises on Government, Hegel's Philosophy of Rights, Marx's The Communist Manifesto, Rawl's A Theory of Justice and to make a note of the constant questions and approaches in them like: What is the meaning of freedom and equality?, Why men should obey the government at all?, What are the ideals and goals of a state and what is the meaning of democracy? etc. The problem in this method one can't not easily decide what should be classified as a classic.

The second method is of general philosophical methodology and applying it to political matters which means picking the central concepts problems, methods, questions etc. from the classics and adding to that list important omissions if any. The items selected should then be arranged in an order from general principles to specific ones on the basis of importance. That way a coherent and comprehensive general account of political thought can be built.

The study of any social science is impossible without an understanding of the historical evolution of the subject. The political institutions and systems of political behaviour which we observe today are a result of evolution of centuries. A political theorist needs to study history to understand this evolution. He does not need to study the dates and colorful historical details of kings and princes and the battles they fought and the lives they led but rather the growth and changes in the economic structures, in technological capabilities and the impact that had and in political institutions and ways of governing. Social classes, political power and economic processes do not emerge overnight and cannot be understood by examining them in isolation in their contemporary settings. One needs to study the history of political thought to understand the evolving relationships between man, society and political authority and indeed the popular perceptions of those relationships through history. The study of the views and theories of past political thinkers enables one to go beyond the dominant contemporary political orthodoxies and draw intellectual resources from the past. A reflection on the thoughts of past thinkers provides a guideline to actual theorizing. Political theories thus emerge not from nowhere but is constructed by building, expanding and developing the vocabularies of the past author's texts. This also enables easy comparison and judgement between past and contemporary works.

Ideology has been inseparable from political thought and proceeding historically it has been possible to build theories that are supportive of a particular ideology. Of course history can be

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

both used and misused but is has been always used to buttress theoretical constructions. For instance the same history of Europe led Marx and Engel to support their arguments that the political history of mankind is a history of class struggle but the liberal thinkers saw it differently and some like Burke and Tocqueville glorified the past and saw it as an age of harmony, civility and ordered liberty.

Whatever the ideological pre-dispositions a study of the history political thought allows for evaluating the social and economic circumstances in which the political institutions arose and maintained themselves. Without a sense of history political theory cannot be constructed because it would then not take into account the full range of human social behaviour. Taking the historical route often throws up patterns and order for the theorist to discern.

Another reason to study the historical development of political thought is to examine if the political thoughts of a particular time influenced the actions of men and if so how. Some thinkers like Plato and Marx have argued that ideas and philosophical thoughts have little no effect on the conduct of men in power. But there are other thinkers who have argued that the history of political thought and the history of political action are quite related and the thoughts of thinkers do significantly influence actual political action.

The reverse - that is whether political thoughts are influenced by political events and historical circumstances is equally important and another reason for studying from the historical point of view. It has been argued for instance that the thoughts of Plato were influenced by a decline in the moral standards of the city-states and that of John Locke by the Glorious revolution and that of Marx by the economic inequality created by industrial capitalism. Thinkers are also men of their times and are influenced by the events and circumstances of their times. But the lasting value of their theories only is only there if it points out at some general truth which can transcend societies and classes and ethnic communities. For instance the political thoughts of Plato, Aristotle, J.S. Mill or Marx throw up principles, which often have universal value over time.

Social sciences like Political Sciences and Thought is meant to improve our understanding of the world and history is a part of social sciences. Historical view is essential to create theoretical constructions of human life and social phenomenon that transcends time. We need to ask though while studying a theory from the past (which inevitably drew on the historical circumstances present at the time the theory was proposed) what meaning has political thought in the contemporary world that we live in. In answering that question we are able to test the lasting validity of the theory. But it has to be realized ultimately the history of political thought is important because the central theme is timeless. Neal Wood while commenting on the importance of studying the classical texts of political thought has commented:

'...these texts reflect and comment upon that nature of the Western state with all its blemishes

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

and deficiencies as well as benefits. Some of the texts call for radical recognition of state, others for its reform and in so doing grapple with fundamental social and political problems which we share with past. Whether we like it or not, these works have indelibly stamped our modern culture and the world today'.

1.9 SELF-ASSESSMENT QUESTIONS

1. What is political theory?
2. Discuss the relevance of political theory.
3. Why do we need to study political theory? Rajamandala theory. Do you think it is relevant in the contemporary times? Comment.

1.10 References

- Bhargava, R. Acharya, A. (2008) *Political theory an Introduction*. Perison Long Man New Delhi.
- Gaba, O.P. (2019) *An Introduction to Political Theory*, Mayur Paperback, Delhi.
- Kumar Sanjiv (2019) *Understanding Political Theory,* Orient Blackswan, New Delhi
- Jain, M.P. (2019) Introduction to Political Theory, Book age publication, New Delhi.
- Hampster-Monk, A History of Modern Political Thought

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© *Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi*

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

Unit-2

CONCEPTS: LIBERTY, EQUALITY, JUSTICE, RIGHTS

Dr. Mangal Deo

School of Open Learning,
University of Delhi

STRUCTURE

2.1 Objectives
2.2 Introduction Liberty
  2.2.1 Scope of Liberty
  2.2.2 Liberty and Licence
  2.2.3 Liberty and Authority
  2.2.4 Various Notions of Liberty
  2.2.5 Various Dimensions of Liberty
  2.2.6 Safeguards to Liberty
2.3 Meaning of Equality
  2.3.1 Development of Equality
  2.3.2 Types of Equality
  2.3.3 Equality of Opportunity vs. Equality of outcome
2.4 Meaning and concept of Justice
  2.4.1 Development of the Concept of Justice
  2.4.2 Dimensions of Justice
  2.4.3 Procedural Justice and Substantive Justice
2.5 Rawls and his Critics on Justice
  2.5.1 Rawls Theory of Justice
2.6 Introduction of Right
  2.6.1 Nature of Rights
  2.6.2 Negative and Positive Rights
  2.6.3 Justification of Rights
2.7 Theories of Rights
  2.7.1 Rights and Duties

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

2.8 Debate: Human Rights - Universalism or Cultural Relativism
2.9 Questions
2.10 References

2.1 OBJECTIVES

- Liberty-The aim of this section is to introduce the student with the concept of liberty, different notions, and types of liberty; to make the students to exercise liberty without restricting the liberty of others.
- Rawls views on Justice
- To discuss about Equality of Opportunity vs. Equality of outcome
- To discuss about Positive and Negative rights

2.2 INTRODUCTION LIBERTY

The term liberty means freedom. Freedom can be understood in different ways i.e. freedom of speech, freedom to move, freedom to practice profession of one choice, freedom to practice and propagate religion of one's choice. In short freedom means absence of any kind of restrictions, where a person can do whatever he/she wishes to without any hindrance.

In order to understand freedom in a better way we can take some other examples like desire of bird in a cage to fly in the open air, desire of the prisoner to set himself free from the prison and lead a free life, desire of patient to go home who is admitted long time in a hospital for treatment. Freedom also implies non-interference in once life in any form word or action. So we can say liberty has different meanings to different people. The term liberty is derived from the Latin word liber, which means "absence of restraints". In other words, liberty implies freedom to act without being subject to any restraint. Liberty signifies "a power or capacity of doing or enjoying something worth doing or enjoying."

According to Hobbes, 'By liberty is understood…absence of external impediments, which impediments may oft take part of man's power to do what he would do'. According to Hegel liberty consists of obedience of law. Rousseau said that liberty consists in the obedience of General will. J.S. Mill describes, 'The only freedom which deserves he name is that of pursuing our own good in our own way so long as we do not deprive others of theirs or impede their efforts to obtain it.

Laski explains liberty as "Absence of restraints upon the existence of those social conditions which in modern civilization are a necessary guarantee of individual happiness".

2.2.1 Scope of Liberty

One of the major issue in liberty is adjustment of claims between individuals and society

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

(community). Here State is plays an important role because it is the instrument or agency for regulating their relations. If the claim of the individual is stretched to an extreme in utter disregard of the interest of society, liberty would be reduced to 'licence'. On the other, if liberty of the individual is increasingly restricted in the supposed interest of society, the result would be an unconditional submission to authority, hence the loss of liberty, it is therefore, essential to draw a distinction between liberty and licence on the one hand, and to fix the proper frontier between liberty and authority, on the other.

2.2.3 Liberty and Authority

Liberty of the individuals has to be restricted by a measure of equal liberty to be enjoyed by others. In other words, one man's liberty should not become an obstruction in the enjoyment of liberty of others. As liberty is demanded for a man as a 'rational being', it follows that liberty is meant to enable men to pursue 'rational objects' or 'ideal objects'. If they do so, each individual shall pursue his happiness in consonance with the happiness of society; and individual's good will become an integral part of the social good. In such a perfect state, no regulations would be necessary. But since, in the real world, individuals are not perfect-they are only capable of perfection-the regulation of liberty becomes necessary to safeguard liberty itself. Barker has further observed: Liberty within the State is thus a relative and regulated liberty: it is the common measure of liberty which is possible for all, as determined and defined (i) by the need of each to enjoy similar and equal liberty with others; (ii) by the need of all to enjoy the specific liberty of realizing specific capacities.

This view of relative and regulated liberty does not dismiss or dilute the essence of liberty. On the contrary it provides for a more substantive foundation thereof. As Barker has elucidated: A relative and regulated liberty, actually operative and enjoyed, is liberty greater in amount than absolute liberty could ever be – if indeed such liberty could ever exist, or ever amount to anything more than nothing at all.

Regulation of liberty implies the recognition of authority of the state over the individual. If the liberty of the individual cannot be permitted to be absolute, can we allow the authority of the state to become absolute? Thus, the conflict between liberty and authority is no less grave than the conflict between liberty and license. In other words, if we deny absolute liberty to the state because no state on earth is perfect. The conflict between liberty and authority has remained a burning issue in political theory. D.D. Raphel has illustrated: Most political theorists recognize that individual liberty and State authority conflict with each other, and that a balance has to be struck between them and the values the represent. Some, like Hobbes, are prepared to say that liberty must be severely limited to make way for the benefits of State authority. Other thinkers like J.S. Mill and Locke think that State authority should be markedly limited so as to leave as much room as possible for liberty.

Whatever be the situation, limitations on the authority of the State have to be laid down to

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

make authority more meaningful with reference to its social purpose. A State may possess unlimited legal powers. For instance, the British Parliament is regarded as legally omnipotent. But in the real world, no State can afford to exercise unlimited powers. Raphel clearly stated that: no state has unlimited practical power to make any law that it pleases, even though it may possess unlimited legal powers. A legislature that has any sense and that wants to remain in office will pay more regard to political than to legal possibilities, to what it can effectively do than to what it may legally do.

As State makes, law; it has the power to enforce that law by coercion. In other words, the law is backed by sanctions; the state is free to use the methods of compulsion. However, compulsion comprises a physical weapon, not a moral weapon which would not only more effective, but more conducive to the justified if it is backed by moral support and legitimacy instead of mere force. Legitimacy denotes the support extended by the people to the state and its law out of their moral beliefs and values.

Legitimacy comes from the people. A State is legitimate if people believe that it is necessary for them and that its action is lawful and valuable to society. As long as its legitimacy is unquestioned, the State will rarely need to use force. But if its legitimacy is widely questioned, the State is in dangerous situation. A regime is in serious trouble if the people believe that its military is illegitimate, its police brutal, and its courts unfair. It may have power- the ability to get its orders obeyed despite widespread opposition-but it does not have authority of State or law would prove most effective only when most people accepted it on moral grounds. When most people recognize a moral obligation to obey law, they would be acting from a moral motive, and not under compulsion.

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

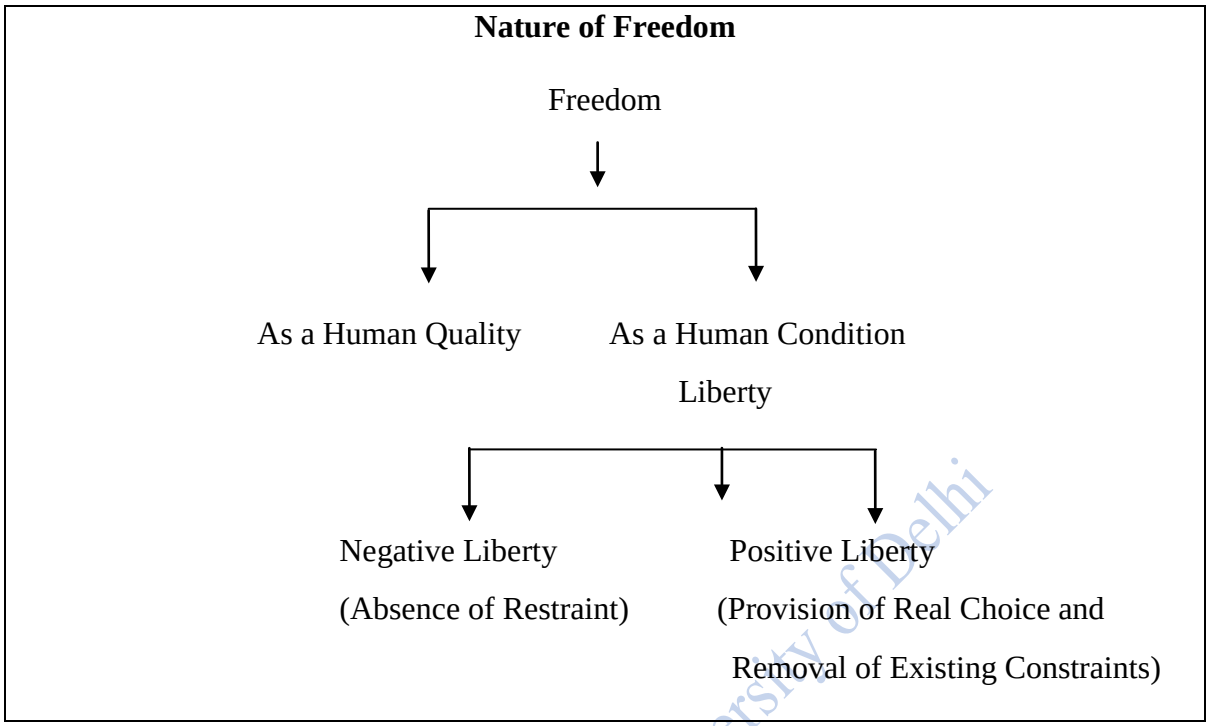

Source: O.P. Gauba, "Political Theory and Thought", p.5.4

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

Positive Liberty: During the latter half of the 19th century, a positive concept of liberty developed. We can find it in the writings of Rousseau, Kant, Hegel, T.H. Green, Bosanquet,

2.2.4 Various Notions of Liberty

Barker and Laski. Kant said that there are higher and lower selves in an individual. Freedom comes when an individual subjects him/herself to the dictates of universal reason. He refused to accept the free will concept and regarded man/woman as a rational and self-conscious creature. Laski, Hobhouse and MacIver were of the view that, "Liberty is good, but to be free to do undesirable things is to enjoy no liberty, but 'licence', and that is bad". John Locke and Adam Smith regarded every law as involving a decrease in liberty, whereas Green and Laski desired to reform society through the agency of laws. According to them, liberty does not mean "absence of restraints, it rather signifies "an opportunity" for you to do something which is worth doing. Laski explains, "by liberty I mean the eager maintenance of that atmosphere in which men have the opportunity to be their best selves"

Views of Laski

Laski says: "By liberty I mean the eager maintenance of that atmosphere in which men have the opportunity to be their best selves. Liberty, therefore, is a product of rights…Without rights there cannot be liberty because without rights people are subject to law unrelated to the needs of personality. Liberty therefore, is a positive thing. It does not merely mean absence

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

restraint". He criticized Mill's view of liberty, he maintained: "Liberty thus involves in its nature restraints, because the separate freedoms I use are not freedoms to destroy the freedoms of those with whom I live:" Laski give importance to the relationship of the individual's liberty with society. Personal liberty cannot be enjoyed in isolation from society. Laski states maintains that liberty should not be left at the mercy of the State because "…in this context can be called to account; and it should always be so called to account when it invades rights". Laski supports the positive concept of liberty, he is suspicious of governments and does not surrender liberty to the State. He says, "…governments may in fact invade liberty even while they claim to be acting in the common interest…Liberty, therefore, is not merely obedience to a rule" . Laski differs from the idealist view of liberty that liberty lays merely in obedience to the laws of the State.

Laski associates liberty with the availability of opportunities for the development of personality. He says, "…the freedoms I must possess to enjoy a liberty are those which, in their sum, will constitute the path through which my best self is capable of attainment…Freedoms are, therefore, opportunities which history has shown to be essential to the development of personality". Laski talks of three kinds of liberties- private, political, and economic-are essential to the development of the human personality. Private liberty is negative and it"…is thus that aspect of which the substance is mainly personal to a man's self. It is the opportunity to be fully himself in the private relations of life". Defining political liberty he says that it, "…means the power to be active in affairs of State. It means that I can let my mind play freely about the substance of public business". He mentions two conditions that are required for political liberty to be real. These are education and the provision of an honest and straightforward supply of news. "A people without news is, sooner or later, a people without the basis of freedom". Laski realized the importance of right to information which is being demanded by the fourth generation of rights. He defines Economic liberty as "…security and opportunity to find reasonable significance in the earning of one's daily bread…I must be safeguarded against the wants of tomorrow". In order to uphold economic liberty he pleads for democracy in industry. Laski describes about the nature of three kinds of liberties -Private liberty is mainly a negative thing, whereas political and economic liberties need some socio-economic conditions for their fulfilment, and are positive in nature. Positive and economic liberties are meaningless without the conditions required for their realization. The responsibility of creating these without the conditions required for their realization. The responsibility of creating these without the conditions lies with the government.

Laski mentions positive conditions required for the realization of liberty. They are as follows:-

1. The absence of Special Privileges: Freedom cannot exist in the presence of special privileges. The special privileges leads to frustration, the habit of creativeness is lost

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

due to this and people lose the ability to realize their own good. Laski says, that "…those who desire the good of all begin by abolition of special privileges…Special privilege is incompatible with freedom because the latter quality belongs to all alike in their character as human beings". Thus liberty is possible only when equality is there.

2. The Presence of Rights: Liberty can only be enjoyed in the presence of rights. There cannot "…be liberty where the right of some depends upon the pleasure of others". It is the duty of the state to maintain equal rights.
3. Responsible Government: The government must be responsible. Only a responsible government can create the socio-economic and political conditions required for the realization of rights and liberty.

Views of Macpherson

Macpherson call positive liberty as 'developmental liberty'. He says, "…the division will be better marked if we change the name of positive liberty to developmental liberty". Macpherson defines "positive liberty to act as a full human being. A man's positive liberty is virtually the same as what I have called a man's power in the developmental sense". According to Macpherson liberty means availability of life and labour to each member of society. For this he suggests that the capitalist mode of production, based on private property, should be replaced by some other system. Liberty is not negative liberty because in such a case the liberty because in such case the liberty of one individual can destroy the liberty of another individual. He says, "…since each individual's liberty must diminish or destroy another's the only sensible way to measure individual's liberty is to measure the aggregate net liberty of all the individuals in the society." So the measurement of liberty is the total liberty. However, Macpherson does not accept the division between negative and positive liberty and maintains that negative liberty is absence of any extractive power.

Important Points of Positive Liberty

1. Liberty is not the absence of restraints, rather it is the presence of those socio-economic and political conditions without which it cannot be realized.
2. The object of liberty is the development of man as a social being.
3. Without proper opportunities and social conditions liberty cannot be realized.
4. Rights are necessary for liberty and it is related to justice, morality and equality.
5. The liberties of an individual must correspond with social welfare.
6. The duty of the State is to create positive conditions for the realization of liberty and for this the State can limit the liberties of some individuals. However, the government must be a responsible government. The State is not viewed as an enemy of personal liberty.

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

7. Liberty is social requirement of social man and it is not given to an asocial or anti-social beings.
8. Only in a welfare State can positive liberty exist.

Views of J.S. Mill (1806-73)

Mill supported the concept negative liberty together with the support for the support for the positive view of the State. Mill was writing in the later half of the 19th century when negative liberties was vehemently opposed. He was writing in the age when the "…extending suffrage conferred a measure of power on classes who had something to gain from the legal interference in daily affairs, and…it was accepted that State had a legitimate and positive part to play in promoting welfare". In this circumstances Mill opined that there may be a possibility of 'tyranny of the majority' and the liberty of the minorities may vanish. He says that the advent of democracy does not mean that the liberty of individual will be protected. Majorities may take away the liberties of the minorities. Therefore, the liberty of the individual should be protected against the interference of democratic States. He says: " The notion, that the people have no need to limit their power over themselves, might seem axiomatic… such phrases as 'self-government' and 'the power of the people over themselves', do not express the true state of the case. The 'people' who exercise the power are not always the same people with those over whom it is exercised; and the 'self – government' spoken of is not the government of each by himself, but of each by all the rest. The will of the people, moreover, practically means the will of the most numerous or the most active part of the people… precautions are as much needed against this as against any other abuse of power. The limitation, therefore, of the power of government over individuals loses none of its importance when the holders of powers are regularly accountable to the community…and in political speculations the tyranny of the majority is now generally included among the evils against which society is required to itself be a tyranny of the be on its guard". He maintained that even social collectivity or society may itself be a tyrant and may tyrannise over the separate individuals who compose it. Here lies the value and worth of Mill's individualism, and he is afraid of the restraints of both the democratic State and society, so far as the individual's liberty is concerned.

Negative Liberty: Negative liberty means, "absence of external restraints". The supporters of Negative liberty include John Locke, Adam Smith and Herbert Spencer. They were of the opinion that the sphere of State activity should be restricted to the narrowest possible limits. According to John Locke, the rights to life, liberty and property are the natural rights of man. The Legislature or the Executive cannot be allowed to impose restrictions on these rights. Adam Smith propounded the theory of "laissez faire", i.e. government should not interfere with business, finance or people's economic conditions. Herbert Spencer also upholds the same view.

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

J.S. Mill describes that man's actions are of two kinds, i.e. "self-regarding" and "other-regarding". The self-regarding actions have an effect only on the doer, whereas other regarding actions have an effect other's existence. No individual can be granted absolute freedom regarding activities which have an effect other's existence. For example, these acts affect other's freedom: obscene behaviour, talking nonsense under the influence of liquor and committing theft etc. Society would be justified in stopping others from doing such deeds. But there are other activities for which complete freedom must be granted to the people. The food and drinks one takes, the religion one follows and one choice of profession are private affairs of an individuals. According to J.S. Mill, "over himself, over his own body and mind, the individual is sovereign".

Negative liberty indicates the "zone of non-intervention". According to F.A. Hayek, "the individuals has some assured private sphere… with which others cannot interfere". According to them, "that government is the best which governs the least".

The supporters of Negative Liberty believe that:-

(i) More the laws, less is the liberty available to the individuals;

(ii) Freedoms of thought, speech, religion and property should never be restricted;

(iii) 'Franchise' should be universal;

(iv) The sphere of State activity should be very limited.

Views of Isaiah Berlin

According to Berlin: "Political liberty in this sense (negative) is simply the area within which a man can act unobstructed by others". The absence of coercion is the basis of liberty. He says: "You lack political liberty or freedom only if you are prevented from attaining a goal by human beings. He put forth that if a man/woman is free but unable to enjoy his/her freedom, the fault lies not in the concept of liberty but with man/woman. If a man/woman is free to purchase bread or have or tour of the world and is unable to do so because lack of money, it is his/her fault-he/she incapable of enjoying it. He says: " If my poverty were a kind of disease, which prevented me from buying bread or paying for the journey, or getting my case heard, as lameness prevents me from running, this inability would not naturally be described as a lack of freedom, least of all political freedom". Berlin supported the view propagated by Helvitius "The free man is a man who is not in irons, nor imprisoned in a jail, nor terrorized like a slave by the fear of punishment: it is not lack of freedom not to fly like an eagle or swim like a whale". Berlin says: "by being free in this sense (negative) I mean not being interfered with by others. The wider the area of non interference, the wider is my freedom".

Berlin further explains that there is no logical relationship between liberty and democracy as a man/woman may be left by a dictator than by a democratic government. He says: "Freedom in this sense (negative) is not, at any rate logically, connected with democracy or self-

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

government may provide a better guarantee of the preservation of civil liberty…But there is no necessary connection between individual liberty and democratic rule".

Berlin is of the view that liberty is something different, and the socio-economic conditions necessary for the fulfilment of liberty are altogether different. He refuses to accept the relationship between liberty and the conditions required for the realization of liberty. He says: "Thus the distinction between freedom and conditions of freedom is not a mere pedantic distinction, for, if it is ignored the meaning and value of freedom of choice is apt to be downgraded. In their zeal to create social and economic conditions in which alone freedom is of genuine value, men tend to forget freedom itself". He does not accept the relationship between liberty and justice, and liberty and equality. If there is poverty in the society and no coercion at all, there may be injustice or inequality in the society, but liberty is very much present there. So the absence of the necessary socio-economic conditions for the realization of liberty does not mean the absence of liberty itself. In brief we can say Berlin maintains liberty is the absence of any restraints or interference in the personal affairs of an individual.

Views of Milton Friedman

Friedman, a neo-liberal (libertarian), supports negative liberty and finds connection between liberty and capitalism. He is of the opinion that without capitalism there cannot be freedom in a society. According to him, political freedom means, "…the absence of coercion of a man by his fellowmen". In the present century with competitive capitalism, which is based on free market has given way to regulated economy and State controlled capitalism. Friedman is pleading for a free capitalistic economy as a pre-condition for freedom. He favours negative State and the regulations of the economy by it are improper. In the earlier stage political freedom was demanded for the development of capitalism, but today Friedman is demanding free capitalism for the maintenance of the political freedom. He supports that competitive capitalism is necessary, though not sufficient, condition of political freedom and "…history suggests…that capitalism is a necessary condition for political freedom". He considered socialism as the main enemy of personal initiative and political freedom because in such system economic and political powers are concentrated in one hand. He attacks the positive State and the positive view of liberty because state interference in economic matters is harmful to the economic liberty of individuals and economic development of society. By economic liberty he means availability of free capitalist market economy. He does not associate liberty with human values like justice and equality.

Friedman's views are based on the assumption that free-market capitalism has got a capacity to survive, whereas the fact is that the great depression of 1929 and great financial meltdown of September 2008 in capitalist economies have proved beyond doubt that this assumption is baseless in the present century.

Important Points of Negative Liberty

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

i) Liberty is a negative thing- the absence of restraints.

ii) An individual is rational and only he/she knows what is his/her interest. For the development of his/her personality he/she needs certain liberties. They has a personal sphere of their own, distinct from that of the society.

iii) Each individual should be given personal liberty with regard to their personal affairs and the society or the State must not interfere with it. Among these personal liberties, the liberties of thought and discussion, of association and assembly are the most important.

iv) There is no conflict between the personal interest and social interest and by serving his own interests an individual also serves the social interest. Personal liberty is a precondition of social progress.

v) Leaving a man free in his personal affairs will lead to personal and social development. Personal development is in harmony with social development.

vi) Those actions of individual which influence the society can be controlled by the State through the laws. But this interference of the State should be minimal.

vii) The laws of the State cannot take away personal liberty, but can only regulate it for overall social welfare.

viii) Democratic government is not a sufficient guarantee of personal liberty as it may lead to tyranny of the majority or a collective mediocrity and may crush minorities.

ix) There is a difference between liberty and necessary socio-economic conditions for the realization of liberty. Liberty may be against justice and equality and in a dictatorship of man may have more liberty than in a democracy.

Comparison of Negative and Positive Liberty	
Negative Liberty	**Positive Liberty**
1. Liberty without any restrictions	Liberty with reasonable restrictions
2. It gives more weight to the personal aspect and regards liberty as inherent in the personality of an individual.	It looks at in the social context and maintains that it is based on the socio-economic and political conditions of society.
3. It assumes that the State in an enemy of personal liberty.	It assigns responsibility of creating the positive conditions for the realization of liberty to the State.
4. It emphasizes the personal and political aspects of liberty.	It emphasis the social and economic aspects of liberty.

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© *Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi*

5. It does not associate it with rights, equality, morality and justice.	It regards liberty, equality and justice as mutually related.
6. It supports the State with the minimum functions.	It supports State with welfare functions.
7. It is based on the market concept of society-that is composed of atomized individuals having natural liberty	It emphasizes the social aspects of liberty.
8. Liberalism supported negative liberty	Socialism supported positive liberty and stood for the abolition of private property.

Source: M.P. Jain, "Introduction to Political Theory, p.128

Marxist Concept of Liberty

Marxist concept of freedom is different from the liberal-individualistic view. According to the Marxist thinkers, welfare policies might lessen the misery of the masses, but they do not change the exploitative character of Capitalism. Freedom is not possible only when means of production and distribution-land, factories, mines, banks, railways etc.-are all owned by society as a whole, i.e. State. There should be distributed as best possible amongst people as a whole. The Liberal democrats believed in people having a lot of economic freedom, the Marxist held that abolition of private property was necessary to ensure freedom and equality of opportunity.

Marxism analyses socio-economic and political problems and concepts on the basis of dialectical materialism. Personal freedom is not something abstract and asocial. During 18th and 19th centuries the liberal supporters of liberty based their concept of liberty on the alienated individual, and personal, political and religious liberty were demanded liberal writers were supporting the capitalist system, and on the other way were giving the slogans of liberty, equality and fraternity. The development of capitalism resulted in a society where oppression, exploitation, unemployment and starvation were dominant and liberty was not available to a vast majority. Marx and Engels criticized the inhumanity of the capitalist system and gave a new materialist interpretation of human essence, purpose and value. They interpreted rights, freedom and morality on a scientific basis and emphasized all round and harmonious development of man. All these ideas are known as 'Marxian Humanism' and are associated with Marx's philosophical anthropology or the theory of man. The Marxist concept of freedom is associated with concepts like self-realization, self-development, self-development, self-fulfilment, and self-creativeness. Any fruitful discussion on Marxist

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

concept of freedom has to consider Marxian view of man in its multi-dimensional aspects and his relationship with self, nature and society. Marxist concept of freedom has been divided into the following parts:-

(i) Critique of man and his freedom in bourgeoise societies: Marx presented a sound and scientific criticism of the position of man and woman and his freedom in bourgeois societies. He explains that bourgeois revolution has politically emancipated people and their freedom can be achieved only by abolishing private property and establishing social ownership of the means of production. Marx borrowed the concept alienation from Hegel and Feuerbach gave an altogether humanity in the capitalist system. The system of private property separates man from their human essence. The inhuman power of private property separates man from his humanity and instead of real man what is found in such societies is a slave, a slave of his property (rich man) and a slave of his property and slave of his physical needs (poor man/woman). A worker such a society gets alienated from his/her labour, from nature and from their fellow beings and becomes an animal-like commodity in the capitalist market. Alienation is a rotten product of capitalist socio-economic and political system and it dehumanizes man/woman. Marx concludes that private property is the enemy of humanity, and freedom- a human quality- is not possible along with it.

(ii) Views on human essence, purpose and value: The understanding of philosophical concept of man/woman is the first requirement for understanding any problem of man/woman. Marx scientifically analysed the then prevailing different views of people anthropological, spiritual, idealist, individualist, mechanical and materialist pointed out the weaknesses of these and then gave his own view. "The-Marxist social thought relied theoretically on the concept of man in the abstract, man in general. Divorced from all socio-political, economic, legal and other relation, and hence from political activity". Marx gave a different interpretation to man/woman as a creating social-being. Marx said, human essence"…is the totality of the social relations". He further said that: "The essence of the individual person' lies not in his beard, not in his blood, not in his abstract physical nature but in his social quality". Human beings are social animal and cannot be studied under isolation. Mere existence is not their existence in social nature. The purpose and values of man are closely associated with human existence. Non- Marxist ideologies have insisted that the purpose of man is abstract truth and virtue (idealism), personal happiness (individualism), achievement of salvation or spiritualism (religion), etc.

(iii) The meaning of freedom: Freedom and necessity: Marxism does not regard absence of restraint as freedom, nor does not it accept that the personal and political freedoms are the highest ideals and other freedoms are based on these. It defines freedom by associating it with essence and purpose of man. Explaining the Marxian view of freedom, Huberman and Sweezy: "Freedom means living life to the fullest-the

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

economic ability to satisfy the needs of the body in regard to adequate food, clothing and shelter, plus effective opportunity to cultivate the mind, develop one's personality, and assert one's individuality. Similarly, Petrosyan says: "Marx's understanding of freedom implies activity aimed at creating real conditions for the free all-round development and flowering of man's individuality."

(iv) Freedom and praxis (purposive social activity): Praxis means social activity of man. Marxism regards knowledge of objective law as the necessary condition for freedom, but this alone is not sufficient. Freedom can be achieved by revolutionary social activity (Praxis), based on the knowledge of objective laws of nature and society. Knowledge makes possible the mastery of man over nature and society, but without man's revolutionary social activity this knowledge is useless. Engels stresses that " Freedom, in the sense of the laws of nature and society not only come as a result of practical revolutionary activity based on such knowledge of the laws of historical development".

(v) Freedom as a class concept: Marx describes that in a class divided society freedom will mean different things to different classes. For the owners of the property it will mean freedom of private property, of profits, of free contracts, of employing someone or removing them from their exploitation and bad working conditions. Freedom of one class becomes the bondage of another class. Thus, freedom does not have a universal character in a class divided society. Giving an example of Huberman and Sweezy "The shepherd drives the wolf from the sheep's throat, for which the sheep thanks the shepherd as his liberator , while the wolf denounces him for the same act, as the destroyer of the liberty…Plainly, the sheep and the wolf are not agreed upon the definition of the word liberty". Similarly Claudwell writes, "…bourgeoises social relations alike give rise to these two extremes, the freedom of the idle bourgeois and the unfreedom of the proletarian worker…The bourgeois could not enjoy his idleness without the labour of the worker…thus the liberty of the few is in bourgeois social relations built on the unfreedom of the many".

(vi) Freedom, where and How?: According to Marx freedom can be available in the free atmosphere of a free society. Free society will be a classless society in which everyone will be free from exploitation from his fellow beings. The wall of private property will not remain between man in the society and man can live in the society with his true essence, purpose and values. Freedom means multi-dimensional development of social man and a free socialist society provide ample opportunities for this. Here alienation between man and his nature, society and his labour will come to an end and man will not be dehumanized. There will not be a gap between his essence and existence. Marx says, "Communism" will lead to reintegration of his personality, to man to return to himself his own human essence or in other words, to the elimination of all form of all form of human alienation, to elimination of the

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© *Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi*

contradictions between essence and existence to the all round development of man as a person and individual".

Evaluation and Main Points of Marxian Freedom

- The issue personal liberty is associated with Marxian humanism.
- Man's essence is the totality of social relations. In a class-divided society based on private property, man is alienated and his existence contradicts his essence. In such situation the question of freedom does not arise.
- Human freedom should be considered in the totality of social relations and with due reference to man's essence, purpose and values.
- Freedom means availability of conditions for self realization and self-realization and self-fulfilment. It mean's multi-dimensional development as a social being.
- There is nothing like will of man as there are certain objective laws of nature and society (necessity) which exist independently of human will and the free will of an individual is restricted by these laws.
- Man can realize freedom having scientific understanding of these objective laws. Thus, scientific knowledge is the necessary requirement of freedom.
- On the basis of scientific understanding, there should be revolutionary social activity (praxis) because without changing society and nature, freedom is not possible.
- In a class divided society the freedom of owners of property is built upon the unfreedom of the property less. So freedom in such a society has a class future.
- Freedom to all can only be available in a free society man gets free socio-economic conditions for free development of his personality.
- Communist society can be established by a socialist revolution and the struggle for socialist revolution is a struggle for freedom.

2.2.5 Various Dimensions of Liberty

(i) **Civil Liberty:** It includes Protection of life, liberty and property; Domestic liberty (Right to privacy); Freedom of Speech and Assembly; Religious liberty; Freedom to form Union and Associations; Freedom of Movement etc.

(ii) **Political Liberty:** It includes right to participate in decision making and right to choose one's own representative. Right to vote; Right to get elected to the Legislature and other Public bodies; The Right to organize Political parties, Right to criticize the government.

(iii) **Economic Liberty:** It includes Right to Work and the Right to Rest and Leisure, Freedom to acquire, hold and dispose of property; Racial and National Liberty.

2.2.6 Safeguards to Liberty

Few measures to safeguard the rights and liberties of the people:-

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

i) ***Democratic Form of Government***: Dictatorship is characterized by 'Command' and 'Coercion'. Democracy, on the other hand bestows upon each citizen the right to participate in decision-making processes, through their elected representatives.

ii) ***Safeguards afforded by a written constitution****:* One of the objectives of the Constitution is to safeguard the rights of the citizens. Several rights have been guaranteed to citizens by the American and Indian Constitutions. Some Constitutions not only lay down the rights, but also provide the means to enforce them.

iii) ***Decentralization of powers***: The powers of the government have to be subjected to limitations. One method to preserve the liberty of people is to divide the legislative, executive and judicial powers among separate bodies or organs of the government. This is known as 'Separation of Powers'. The powers have further to be divided between the Central Government and the State Governments. Such an arrangement is found in a federal government. At the same time, local-self government institutions need to be strengthened.

iv) ***Free and Impartial Judiciary***: Free and impartial judiciary is essential if we want to protect rights and liberties of our people. Moreover, judicial procedures need to be speedy and inexpensive. Indian Constitution provides Free Legal Aid under Article 39-A, Article 14 provides Equality before Law.

v) ***Rule of Law***: Rule of Law denotes the absence of arbitrary powers. It means the rule of law and not of men". Law of the Land is Supreme and nobody is above the law, be it ruler or the subject both are under the law, nobody is above the law. According to Ivor Jennings, Rule of law implies a Constitutional Government as distinct from Dictatorship" or a Police State.

vi) ***Autonomy of Groups and Associations****:* There are various groups and associations operating in the fields of education, business, trade, art, religion and science. The associations keep the government in touch with the trend of public opinion, so that it may shape its policies accordingly.

vii) ***Role of the Opposition*****:** The opposition keeps the government on its toes. It is as much the duty of the Opposition to criticize as it is of a government to government to govern. No government can totally ignore the opposition's viewpoint. The parties provide a link between the people and the government.

viii) ***Independent Mass media*****:** The government should not have absolute control over the mass media, i.e. radio, television and the newspapers. Independence of the mass media strengthens freedoms of the masses.

ix) ***Egalitarianism***: It suggests that "all people are equal and deserve equal rights, opportunities and privileges". Thus regardless of one's race, religion, caste, or sex, all should have equal opportunities to develop their talents.

x) Enlightened Public Opinion: An enlightened public opinion is the best guarantee of freedom and growth. There are various agencies which formulate the public opinion.

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

Newspapers, literary works, parties associations, voluntary organizations and the educational institutions are the most prominent among such agencies. Curbs on the freedom of press or intentional distortion of facts and news by the mass media act as a hindrance in the way of sound public opinion. Therefore, the citizens have to keep their eyes open. **Eternal Vigilance is the Price of Liberty**.

2.3 MEANING OF EQUALITY

The belief of equality is a major assumption of a self-governing society. Equality does not entail complete equality. Equality originates from aequalis, aequus and aequalitas. These are all old French or Latin words. These French/Latin words mean even, level and equal. In general term, equality means full equality of treatment and reward for all. It is needed as natural equality. It is thought that all men are born natural and free. Men are neither equal in respect of their physical features nor in respect of their mental capabilities. Some are stronger others weaker and some are more intelligent and capable than others. In common word, the meaning of equality is taken equally. It is considered opposite of disparity. Equality has been demanded in society since ancient times. Many theoretical and intellectual grounds have also been presented for this. In other words, equality means that all people in the society should have equal status and everyone should get equal privileges. But this is not completely real because not all people are equal. Man has been made equal by nature. Depending on anatomy, form, color, strength, intelligence, the variation found in individuals is found. Due to the fundamental distinctions given by nature, complete equality cannot be brought in a person. For example, in the same way that all the fingers of the hand cannot be equal, in the same way not all the people of the society can be equal. Equality does not mean that all individuals get equal property. The basis of property sharing is also physical and intellectual inequality. In the end, not every person can get the same property.

The real meaning of equality is that all people should get equal opportunity for their development and should not be differentiated on the basis of caste, birth, religion, sex, class, property race. The state should provide proper opportunities for the development of their intellect and personality without any discrimination. One should not be bound in the development of a person by qualification. Here equality has three Basic elements:

a) Absence of special privileges in society.

b) Presence of adequate and equal opportunities for development of all.

c) Equal satisfaction of basic needs of all.

According to Laski, the most influential positive liberal thinker, set down the following conditions for equality:

1. End of special privileges in society

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

2. Adequate opportunities to all for developing the full potential of their personalities.
3. Access to social benefits for all with no restrictions on any ground like family position or wealth, heredity etc.
4. Absence of economic and social exploitation.

According to D.D Raphall, "The Right to Equality proper is a right of equal satisfaction of basic human needs, including the need to develop and use capacities which are specifically human."

Therefore, as a whole, equality does not mean absolute equality in all spheres and to every person. It does not aim at identity of treatment as intellectual and physical capacity varies. It opposes inequitable treatment. It means complete and absolute equality at the bottom most level and then equal opportunity to develop one's inner potentiality.

Characteristics of Equality:

- Equality does not stand for absolute equality. It accepts the presence of some natural dissimilarities.
- Equality stands for absence of all unnatural manmade inequalities and specially privileged classes in the society.
- Equality assumes the grant and guarantee of equal rights and freedoms to all the people.
- Equality infers the system of equal and adequate opportunities for all the people in society.
- Equality means equal satisfaction of basic needs of all the persons before the special needs', and luxuries of some persons may be met.
- Equality supports an equitable and fair distribution of wealth and resources i.e. Minimum possible gap between the rich and poor.

Equality accepts the principle of protective discrimination for helping the weaker sections of society. In the Indian political system, right to equality has been given to all and yet there stands incorporated provisions for granting special protection facilities and reservations to persons belonging to scheduled castes, scheduled tribes, other backward classes, minorities, women, and children.

2.3.1 Development of Equality

Greek Philosophy

The problem of equality and inequality has figured in political thought since earliest times. We have two different tradition (a)Inequality which was supported by Plato and

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

Aristotal, (b) Equality which was supported by Pericles, Sophists, Antiphon and Stoics. **Aristotle** discovered that 'inequality' was a cause of rebellion in many a state. He defined justice as treating equals equally and unequals unequally. This was a typical statement in that it insisted on recognition and maintenance of existing inequalities in society—between master and slave, between rich and poor, between morally superior and morally inferior, and so on.

Whereas **Plato** classified men into a man of Gold , man of Silver , man of Iron. The Stoic philosophy gave the idea of universal brotherhood and citizenship based on natural law and reason. They opposed slavery and pleaded for natural equality among men. Therefore equality is force which binds together friends, cities and allies.

The Medieval Period

During the medieval period Christianity raised the voice for equality but soon it got converted into equality before God. During this period feudalism emerged in Europe and unequal rules of aristocracy developed. In fact feudalism was emerged a combination of legal and military customs in medieval Europe that flourished between 9th and 15th century broadly defined it was way of structuring society around relationship derived from the holding of land in exchange for service and labour. In fact during the medieval period social in equalities got legal recognition and legal privileges to the clergy and the nobility where accepted in society. The social inequality of caused where resources in given society are distributed only typically through norms of allocation that gender specific pattern non alliance of socially defined category.

The Renaissance

The Renaissance and the reformation played an important part in weakening and shaking the existing social and political system. Beside this the Renaissance influenced Gender inequalities in term of marriage, wealth, ownership and freedom of expression. The emerging middle class challenged the legal, social, and political privileged of the feudal order. In European history the middle class played the important role as an agent of change to transform society. It was patronised by rulers to encounter feudal lords who challenged their authority and rebels against them to empower the middle class ruler granted them charter or official rights to trade a broad and to take responsibility of the administration of cities with stabilities Municipalities.

Thus the Glorious Revolution of 1688 in England, the American declaration of Independence of 1776 and the French revolution of 1789 helped the cause of equality.

Nineteenth Century and twentieth Century

A demand for socio-economic equality from newly working class. As result of the industrial revolution economic disparities has increased and the demand for economic equality and

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

justice came from quarters. In fact the industrial and economic development of the industrial revolution bought significant social changes. Industrialisation resulted in an increase population phenomenon urban growing number of people move to urban centre in search of employment. Thus the movement of political equality also became stronger and adult franchise became the battle – cry of the democrats. It is noteworthy that until the 18th century, the notion of equality remained largely confined to the legal side. But the succession of capitalism has increased the scope of inequality even further. Initially Utopian socialists and later Angels and Marx raised the demand for economic equality. Subsequently, political equality was also demanded along with the demand for economic equality.

2.3.2 Types of Equality

1. Natural Equality

Though human differ in respect of their physical features, psychological traits, mental abilities and capacities, all humans are to be treated as equal humans. All are to be considered to avail all human rights and freedoms.

2. Social Equality

Social equality is referred as equal rights and opportunities for development for all classes of people without any discrimination such as civil rights, freedom of speech, property rights, and equal access to social goods and services. However, it also includes concepts of health equity, economic equality and other social securities. It also includes equal opportunities and obligations, and so involves the whole of society. Social equality requires the absence of legally enforced social class or caste boundaries and the absence of discrimination motivated by an inalienable part of a person's identity. For instance, sex, gender, race, age, sexual orientation, origin, caste or class, income or property, language, religion, convictions, opinions, health or disability must not result in unsatisfactory treatment under the law and should not reduce opportunities unreasonably.

Specifically, Social equality stands for:

a) Absence of special privileges for any class or caste or religions group or an ethnic group.
b) Prohibition of discrimination against any one on the basis of caste, colour, creed, religion, sex and place of birth.
c) Free access to public places for all the people, i.e. no social segregation.
d) Equality of opportunity for all people. It however accepts the concept of protective discrimination in favour of all weaker sections of society.

Contemporary theme of social equality is to eliminate gender inequality, to ensure equal status and opportunities to the women and to ensure equal rights of male and female children to live and develop.

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

3. Political Equality

It is referred as equal opportunities for participation of all in the political process. This involves the concept of grant of equal political rights for all the citizens with some uniform qualifications for everyone. All citizens must possess similar political rights, they should have similar voice in the working of the government and they should have equal opportunities to actively participate in the political life and affairs of the country. Political equality guarantees the enjoyment of similar political rights to all citizens. Universal adult franchise is a means to this end. Universal adult suffrage has been introduced in India. The same provision has been made in England, U.S.S.R., U.S.A., France and many other countries.

4. Economic Equality

Economic equality does not indicate that equal treatment or equal reward or equal wages for all. It denotes to fair and adequate opportunities to all for work and for earning of their livelihoods. It also means that primary needs of all should be fulfilled before the special needs of few are gratified. The gap between rich and poor should be lowest. There should be equitable distribution of wealth and resources in the society.

5. Legal Equality

Legal Equality is defined as equality before law, equal subjection of all to the same legal code and equal opportunity for all to secure legal protection of their rights and freedom. Equality before the law is the principle that each independent being must be treated equally by the law and that all are subject to the same laws of justice. Therefore, the law must guarantee that no individual or group of individuals be privileged or discriminated against by the government. Equal protection of law means that law provides equal opportunities to all those who are in similar circumstances or situations. This concept is slightly positive in connotation.

Formal Equality

Nowadays a term is frequently used and it is formal equality. The political scientists do not especially use this term but it is manifest from their analysis that the idea of formal equality is quite fresh in their minds. It is believed that formal equality is legal equality. The inner idea is that every citizen is a legal member of the state which is a legal association.

As a legal member of the legal association every person has certain claims to equality. There are two very important forms of legal or formal equality. One is equality before law and equal protection of law. We have already mentioned these two. What is to be noted here is that the legal member of the legal association (Barker calls a state a legal association) can legitimately claim that all the citizens (including him) must be treated equally by law and no discrimination is to be allowed.

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

There is another type of formal equality and it is equal protection of law. It is the primary function of law to give protection to all citizens and while doing this it makes no distinction between rank, position and wealth. Legal or formal equality, to speak the truth, constitutes the very core of rule of law. In this sense the formal equality comes to be associated with equality.

It has been pointed out by **Heywood** that the formal equality is basically negative because the state authority takes special care in regard to the distribution of opportunities. The objective shall always be not to allow awarding special privileges to few persons.

Naturally to attain this goal the state must impose restriction in one form or other upon the distributing machinery or the state must take policy to that extent. We have already noted that Laski has observed that equality means the absence of 'special privileges.

Formal or legal equality has received almost universal approval from conservatives, liberals and even socialists. It is absolutely irrational, unjustified and even bigotry to deprive some persons of their legitimate share in wealth, income and manifold privileges on the ground of accidental birth in poor families or in so called neglected religious groups.

Equality of opportunity

The rational behind this political ideal is that society is uneven, with privileges, standing and potential for success being heavily influenced by many different factors predetermined by birth. The political ideal places an individual in any given rung of social hierarchy as a result of their background. Equality of opportunity calls on a 'fairness of outcome' in society. The notion of equality of opportunity follows from the idea of formal equality and can be traced even in the writings of Plato who propose educational system that offers all children equal chance to realize their talents and social positions based upon merit and efforts. The concept of formal equality does not address the opportunities and chances available to the individual. Equality of opportunity is concerned with initial conditions available meaning it is not required that all runners must finish the race in line together because they left the starting point together rather it is the equal start to the race which legitimizes its unequal outcome. Thus the concept of equality of opportunity recognizes equal opportunities to become unequal. The concept advocates removal of obstacles that stand in the way of individual development aright that should surely be enjoyed by all citizens. The issue of debate is how to ensure equality of opportunity. Does this means providing equal welfare or ensuring equality of opportunity by removing effects of inequality in social and economic circumstances or talent of the individuals? Does rigorous application of equality of opportunity lead to State intervention in social and personal life? Let's discuss different views to ensure substantive equality of opportunity. (In a factory setting, equality of opportunity is often seen as a procedural fairness along the lines of "if you assemble twice as many lamps, you'll be paid double". In this sense, the concept is in contrast to the concept of equality of outcome which might

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

require that all workers be paid similarly regardless of how many lamps they made).

According to **Rawls** formal equality of opportunity is not enough. It is important to incorporate intelligence and social position as part of the distributive criteria. The notion of Equality of opportunity does not compensate inequalities that arise due to factors that are arbitrary from moral point of view. Social economic circumstances and special talents of individuals are arbitrary from the moral point of view because they are the result of brute luck. John Rawls' second principle allows social and economic inequalities if they provide greatest benefits to the least advantaged member of the society and offices and position remain open to all under fair equality of opportunity. In the original position the device of the veil of ignorance is used to conceive people as equal. However even in the original position people behind veil of ignorance have a capacity for having a conception of good and sense of justice. In the original position equal participation takes place as they are equal part of the process designed to choose the principle of justice. Fair equality of opportunity is ensured and so is the principle that no one deserves his talents – the product of natural lottery.

Equality of Resources Luck Egalitarians

Luck egalitarian theory is based around the notion that individual is responsible for his choice but not for his unchosen circumstances. "People's fates are determined by their choices and their circumstances and this must remain argue luck egalitarians a fundamental insight when considering what constitute a just distribution. Ronald Dworkin, Richard Arneson, G.A. Cohen, Philippe V. Parjisare the thinkers who endorse the position termed as Luck Egalitarians by Elizabeth Anderson. Though there is disagreement among luck egalitarians as what should be equalized resources or opportunity for welfare. However the point on which Luck egalitarians are in agreement are inequalities are just if they are the result of voluntary made choices. People are responsible for their voluntarily made choices and not for their unchosen circumstances.

Ronald Dworkin's influential account of luck egalitarianism is based on equality of resources. In Sovereign Virtue Dworkin writes, "Equal concern is the sovereign virtue of political community—without it government is only tyranny –and when a nation's wealth is very unequally distributed, as the wealth of even very prosperous nation now is, then its equal concern is suspect. For the distribution of wealth is the product of a legal order :a citizen's wealth massively depends on which laws his community- has enacted – not only its laws governing ownership, theft, contract but its welfare laws, tax law, labour law, civil rights law, environment regulation law and laws of practically everything else.

Dworkin believe that the basic structure of society should be publicly justified to all citizens with special emphasis on two fundamental principles of ethical individualism…

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

The principle of Equal importance-------It is important from an objective point of view that human lives are successful rather than wasted, and this is equally important from an objective point of view, for each human life.

Principle of special responsibility---Though we must recognize the equal objective importance of the success of a human life, one person has a special and final responsibility for that success –the person whose life it is.

The principle of equal importance requires government to formulate laws and policies that are insensitive to the special particulars of individual. This means being insensitive to their economic background, gender, race and particular set of skill. The second principle of special responsibility requires government to make laws and policies as far as possible sensitive to the choices that people willingly make. Dworkin's theory of equality of resources is ambition sensitive and endowment insensitive. Unequal share of social goods is fair if it is result of intentional action of those concerned. This means an autonomous individual bear responsibility for the consequences of his actions. However inequality that are due to arbitrary social circumstances or natural endowments are unfair.

Moreover the benefits of equal resources may differ for different individuals. **Amartya Sen** imagines two persons A and B. Person A as a cripple gets half the utility that the pleasure In the real world income tax is a devise that is used to neutralize the effects of differential talents and handicaps. Wizard B does from a given level of income. Neither Rawls Difference Principle nor Dworkin's Equality of Resources takes this "utility disadvantage' for which it would be absurd to hold A responsible into account.

Luck egalitarians are also targeted for radical rejection of merit and personal identity. According to this approach we cannot recognize ourselves with our own achievements. Moreover the criterion of individual responsibility could turn out to be inhuman in its consequences because applying the principle of choice if a person is responsible for his misery then that person would be supposedly left alone with his misery. But in another situation when people are in terrible situation due to factors beyond control or brute luck the reasons proposed to help them are supposedly stigmatizing if based on pity. Moreover to decide such cases involvement of political institutions is required that means taking certain decisions for which some important relevant information need to be gathered about citizens which according to some may harm their private sphere.

Equality of Welfare

To assess the merit of laws or policies Utilitarian's adopt a welfarist metric and the right policy is that which promotes the greatest happiness of the greatest number. Equality of welfare requires that those whose welfare is restricted may receive extra resources so that the amount of welfare can be equalized but fails to accommodate the principle of special responsibility towards oneself for example if a person is born with a disease or handicap

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

©DDCE/COL/SOL/University of Delhi

he/she may have less welfare due to factors which are not in his control but what about those who need extra resources due to expensive way of life and taste and need extra Focus on resources to achieve the same level of welfare. Equality of welfare fails to distinguish between deserving and undeserving beneficiaries.

Equality is complex

Walzer argues for complex equality, the idea is different goods belong to different distributive spheres and each has its own distributive principles. For example unequal distribution of money is permissible if that inequality is the result of some fair mechanism, which is people's ability to make money and as long as money inequality does not influence the distribution of goods belonging to other spheres for example education or health. According to this view inequality justified by relevant reasons is not objectionable if it is not disturbing equality in other spheres.

According to the above mentioned discussion of various positions equality of opportunity seeks to correct for all unchosen disadvantages natural as well as social and difference of Achievement--- Equality of Welfare emphasizes on achievement, meaning the final satisfaction that people derive from different state of affairs.

Means of achievement-- Rawls and Dworkin's principle of primary goods and equality of resources represents shift towards means to achieve various state of affairs. Freedom to achieve---Amartya Sen's capability approach emphasize freedom to achieve desired state of affairs. Egalitarian Liberals emphasizes that liberty and equality are compatible political values. In society for just division of benefits and burdens of social cooperation both these values should be given due consideration. However there is no consensus about distributive outcome that best complement liberty and equality. Outcome reflect difference of choice. This means as long as people make informed choice and are aware of its consequences equality of opportunity amounts to equality of outcome. Difference of outcome is not inequality. For example A works longer hours than B thus earning more money while B works less and enjoy more leisure and earns enough to stay alive, in this example with respect to money outcome there is inequality but they will have equal outcome in terms of overall bundle of income plus leisure.

2.3.3 Equality of Opportunity vs. Equality of outcome

Equality of Opportunity vs. Equality of outcome

- Equality of opportunity is concerned principally with initial conditions and the removal of obstacles that stay in the way of personal development; equality of outcome is concerned with end results. Equality of outcome may refer to resources, level of welfare, social circumstances, material equality and also involves transfer of income or wealth or some other measure to promote equality of outcome.

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

- The equality of outcome whether in its moderate or radical sense usually argue that it is the most vital form of equality because equal legal and civil rights are of little benefit to citizen who do not possess secure jobs. Moreover the doctrine of equal opportunity is used to defend material inequalities by creating the myth that that they are the result of informed choice of the people.
- Equality of outcome is also a prerequisite for securing individual liberty. As far as individualism concerned a certain level of material prosperity is essential if people are to lead worthwhile and fulfilled lives.
- Rousseau recognized the danger of social inequality and argued "no citizen shall be rich enough to buy another and none so poor as to be forced to sell him" Material inequality may lead to enslavement of the poor and deprive them of both moral and intellectual autonomy.
- Criticizing equality of opportunity **R T Tawney** named it as the "Tadpole philosophy" where all start from the same position but are then left to the vagaries of the market, some succeed and many fail. Opportunity to rise could not be equalized in a society where the circumstances surrounding it from birth are themselves unequal. Social well being also depends upon cohesion and solidarity in society.
- Equality of outcome is criticized because it may lead to stagnation and injustice. Stagnation results from the fact that social levelling serves to cap aspirations and remove the incentive for enterprise and hard work. It may become the reason for injustice because injustice arise not only when equals are treated unequally but also when unequals are treated equally.
- Equality of outcome can be achieved by massive interference because people are different in their abilities and aspirations. Talent is penalized and equal result is achieved by process of leveling downwards.
- In a society mechanism to achieve equal outcome are filled with moral as well as practical problems. To achieve equality of Outcome State has to employ different ways to compel the transfer of resources.

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

Marxist Theory of Equality

Like his other political concepts, equality is also a part of his entire political philosophy which is primarily linked with the unmasking the real nature of capitalist system, its abolition and emancipation of working class. From the study of various aspects of society Marx concluded that there were number of inequalities in capitalist system.

For example, social, political, economic etc.; and these were due to the bourgeois structure. In any capitalist state there were inequalities between men and women, rich and poor, there were discriminations among various religious groups.

Even the inequalities were institutionalised by the capitalists. Theoretically the bourgeois

© *Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi*

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

scholars and political scientists propagate for equality and strongly argue for formal or legal equality. Even the bourgeois constitutions (constitutions framed by the bourgeois scholars to meet the needs of a particular class) pontifically announce the inclusions of rights, liberties and equalities as parts of the constitution and also make provision for their protection.

How to Achieve Equality?

On the Jewish Question Marx dealt with several issues and one of these is equality. He had said that it was mere farce to think of emancipation of all exploited people through the declaration of equal civil rights and liberties. To Marx such declaration amounted to political emancipation.

But people's equal rights and privileges could never be obtained through the announcement of political emancipation. According to Marx it was merely partial emancipation. For achievement of all forms of equality (also of rights and liberties) human emancipation was necessary. By human emancipation he meant emancipation of all men and women from every type of bondage created and imposed by the capitalists. Emancipation only of the Jews could not achieve that ambitious objective.

So Marx on the Jewish Question ridiculed the emancipation only of the Jews. Marx believed that the institution of private property was the chief evil and it always acted for the creation of inequalities and differences among people. For this reason he recommended the abolition of private property through the seizure of political power. Prevalence of market economy was another factor for the growing menace of inequality and exploitation.

The weaker sections of the body politic were gradually being eliminated from the market because of money power exercised by the capitalists. Therefore, the abolition of capitalism was the first precondition for the attainment of universal political values such as equality, right and liberty, also justice.

Two Principles of Equality

A serious analysis of Marxist thought reveals that Marx had two types of equality in his mind. The two principles of equality are—"From each according to his abilities, to each according to the amount of work performed".

There is another principle: "Each according to his abilities, to each according to his needs". This principle indicates that each person in the society will perform his duties as far as his abilities permit him to do. That is, none will be asked to do any work beyond his capacity.

In the first stage of the post-revolutionary society, Marx claimed, this objective or principle could be achieved. Marxists did not treat this stage as the stage of just equality. It was apprehended that due to differences in ability and talent there might appear differences among men in many respects. Nevertheless, this principle might be regarded as the stepping stone to equality.

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

There is another principle delineated by Marxists: "From each according to his abilities, to each according to his needs". Marxists (including Lenin) stressed this principle and held that only in a communist society this principle could be achieved. Under communism will there be equal treatment of unequal human beings with all their necessarily unequal needs".

Affirmative actions

Affirmative action is the strategy to errand members of a disadvantaged group who currently suffer or historically have suffered from discrimination within a culture. Often, these people are deprived for historical reasons, such as oppression or bondage. The notion of "affirmative action" was first used in the United States in 1961, which included a provision that government contractors "take affirmative action to ensure that applicants are employed, and employees are treated during employment, without regard to their race, creed, colour, or national origin."

In simple term, Affirmative action is anticipated to promote the opportunities of defined minority groups within a society to give them equal access to that of the majority population. Affirmative action denotes to the policies and laws that attempt to redress a situation of discrimination and promote equal opportunity. Affirmative action is also related to positive discrimination, which entails means to compensate or counter the effects of prejudices in terms of race, gender and / or disabilities.

Affirmative action in India

Reverse Discrimination: In the system of Affirmative action, the Majority of populace feel omitted and discriminated against as the allocation of jobs and positions in various fields is based on a quota system or reservations. In India, the government continues to reinforce reservations, and increases the quotas to gain vote bank, and the majority feel acutely side-lined. The system of reservation was meant to last for a decade or so, but it has become so established in the contemporary times, that the majority are naturally in disdain of it. The heated issue of Patidar Reservation Agitation in India is best example of reverse discrimination in India. Patels, as a prosperous caste in India are also highlighting themselves as 'backward classes'. In doing so, they demand reservations in jobs and educational institutions the same way the disadvantaged OBCs are entitled to. With considerable quotas put aside for the marginalised, the majority has to bear the brunt of tightened and hence highly competitive vacancies and posts resulting in many meritorious candidates losing at academic and career opportunities. If Patels who belong to a commercial community fear the loss of their jobs or unavailability of jobs altogether, it speaks volumes on Reverse discrimination in India.

Brain Drain: It is major outcome of identity-based politics in India. Due to reservations, and quota based systems, the public feels challenged, destabilised and even rejected as selections in jobs and education are made on the criterion of Caste than Merit. Hence, the intellectuals

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

are forced to work abroad and the phenomenon of Brain Drain keeps draining India of its think tanks, learned scholars and intellectuals.

Against Constitution: If the constitution struggles for an democratic society with equal rights for everyone irrespective of caste, colour and creed, then the case of preferential treatment as evidenced in the policies of Affirmative Action may/will attack as a double standard. Because of this fact, in many countries Affirmative Action on the basis of race is deemed prohibited but in India such is not the case.

Creamy layer: It has been observed that there are economic divisions even in the impoverished classes such as OBCs. Mostly the well-off sections of the same community tend to seize the reservations while the poor remain poor and incapable to access the welfare schemes meant to rehabilitate them. In order to arrest such a practice, the concept of creamy layer was introduced in India according to which the upper and middle sections of OBCs are not eligible for reservations allowing the poor OBCs access to government's welfare programs. In this system, the sections belonging to low castes that have progressed in educational and job circles will not be entertained as marginalised and can compete with the majority without the helping hand of the reservations. Simultaneously, the poor castes can benefit from the quota system, and advance themselves to the level of not needing reservations in the long run.

There are critics who stated that affirmative actions are not good practices. Challengers of affirmative action such as George Sher consider that affirmative action diminishes the accomplishments of people who are chosen based on the social group to which they belong rather than their qualifications, thus rendering affirmative action counterproductive.

But affirmative action is intended to enhance the life of deprived people. Affirmative action is a set of measures approved by governments and public and private institutions such as political parties, educational establishments, corporations and companies to address a history of systemic discrimination and exclusion of particular social groups or to encourage the efforts of particular social groups in the interests of certain development goals. Affirmative action is expected to improve development indicators by reducing inequalities and facilitating the contribution of particular social groups to development.

2.4 MEANING AND CONCEPT OF JUSTICE

Defining justice is not easy like other concepts of politics theory because different philosophies of justice have been presented by different philosophers in different periods and social situations. Apart from this, the concept of justice has also changed with the change of time and circumstances. The word 'justice' is derived from the Latin words 'justitia' (to bind, to tie together) and jus (a bond or tie). Thus, in the concept of justice, various ideals and values are adjusted or coordinated. Since the time of the French Revolution, modern liberal

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

society recognizes freedom, equality and fraternity as the three highest values. These three ideals are essential to a just system of human relations. In the behavioural context, the relation of justice is the notion of the law of the state, which results in twin assumptions of law or justice. In other words, justice is also related to the interpretation of law and order and the rules of sentencing.

Justice is a flexible concept that can be adapted to any notion of public welfare. In a general sense, justice means duty-devotion or virtue. Justice is an essential part of any progressive civilization. As a dynamic civilization, the rights of the members of society have to be respected, the virtues have to be rewarded and the needs of the members have to be fulfilled. When society fails in the context of such actions, then critical situations arise. Through any organization, society or civilization, rights are respected, virtues are rewarded and needs are fulfilled.

Justice is an essential component for any civilized society, because if there is no justice system, then there will be a lot of chaos, insecurity in the state and the conditions of its 'Might is Right'. If we do not count justice as a virtue, then only two principles of justice remain, both of which are inherently distributional. These principles in justice are based on the distribution of the best elements of life. These principles allot rights, equal privileges and responsibilities in a particular society or all-world. The elements that are given priority by humans in the modern world are: Equality of income, security, respect and opportunity. According to the concept of justice, all the above elements focus on a single point, i.e. justice.

The principle of justice is concerned with the allocation of property, honor and opportunity in this world, not from the other worldly. This theory discusses the rules of this allocation, the rationality of various approaches related to it and its relative merits and demerits. Therefore, different ideologies are included in it. Principles of justice relate more to human interests, less to human reasoning.

The concept of justice is a difficult task to understand, as it is a complex concept. The meaning of justice is not limited only to law and legal processes, but in the modern era, the notion of justice has become very widespread and its representation has started to be expressed in various forms. Where the traditional approach to justice was concerned with the character of the person, the modern approach is concerned with social justice. Social justice mainly seeks to improve the social, economic and political condition of the deprived /weaker sections of the society, who have been deprived of basic amenities and opportunities of life for generations so that those classes join the mainstream of the nation and make their valuable contribution in nation building. Therefore, in today's era, the main problem of justice is that what should be the proper basis for sharing of goods, services, opportunities, benefits, power and honour among different classes or individuals within social life? In fact, in the modern era, the development of democratic institutions and values of life has increased the people's aspirations, the direct and indirect reflection of which is expressed in our modern

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

view of justice.

2.4.1 Development of the Concept of Justice

We have discussed above that defining justice is a difficult task. Despite this, prominent political thinkers and philosophers in various periods have continuously tried to give a definite definition to the word justice. Greek philosophers have considered the concept of justice to be related to social order. Although the concept of justice and the meaning of justice were different for nations with democratic and non-democratic governance, it was related to social order for both. Following are the views of various scholars regarding justice:–

Plato's Theory of Justice

The principle of justice has an important place in Plato's philosophy. The main focus of Plato's book 'The Republic' is the search for justice and to determine its location. The subtitle of Plato's work is 'Concerning Justice'. This shows how much importance Plato places on the principle of justice in his philosophy.

According to Plato, justice is a part of the proper state of the human soul and the nature of human nature. In the context of Plato's personal justice, it is believed that there are three main elements of the human soul - wisdom, courage and temperance. The harmony between the three qualities of a person's soul is justice. According to the primacy of these three elements, there should be three classes in the society - philosopher / ruling class (knowledge), soldiers/military class (emotion) and traders/productive class (appetite). According to Plato here, it is social justice by these three sections of society to perform their duties and not to interfere in the actions of others.

Thus, we can say that Plato's theory of justice is related to morality rather than legal principles. According to Plato, justice means that human beings should follow all their duties with honesty, which is necessary for the purposes of society. According to the merit of individuals, the duties and religions that society and the state prescribe for them, it is justice to follow them, justice is self-righteousness.

Aristotle's Principle of Justice

Aristotle is one of the main proponents of substantive justice. According to Aristotle, the basis of justice is the sense of equilibrium. Aristotle, the father of political science, in his work 'Ethics' has considered the principle of justice as important for the state. Aristotle believes that justice is concerned with the regulation of human relations. Aristotle divides justice into two parts: first is general justice and second is particular justice.

A. **General Justice:** According to Aristotle, general justice refers to social morality. Aristotle has used the term Righteousness for general justice. By general justice, he refers to all acts of goodness done to the neighbor. Aristotle considers all acts of

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

goodness, all virtues as general justice.

B. **Particular Justice:** Particular justice motivates man to behave fairly and equitably with other human beings. He takes this justice in the sense of proportional equality. This means that the person who should get what they want comes in this category. He has again divided the Particular justice into two parts.

1. **Rectificatory Justice-** The main objective of Rectificatory justice is to regulate and regulate the reciprocal relations of citizens. It corrects the defects arising in the interpersonal relations of various members of the state. Rectificatory justice is also of two types:

- **Voluntary** - It does one person to another by various treaties and agreements. The court corrects these violations.
- **Involuntary-** When a citizen tries to harm or cause harm to another, the state hears the victim and punishes the guilty. Aristotle's Rectificatory justice re-establishes the harmony of the state, which deteriorates due to the wrong conduct of citizens.

2. **Distributive justice-** The distribution of the honor and wealth that gives every citizen his due place in the political community. This distribution is related to the distribution of posts, honors and awards to the citizens of the state.

Apart from this, Aristotle also indicated the existence of a universal law or natural law, which is beyond the law of any country or any era and its relation to the entire human race. This concept developed under the jurisprudence of Rome through the Stoic philosophy of ancient Greece. Subsequently in the medieval period, the Catholic Church accepted God as the source of natural law. To find out this man must use his rationality in which his divine power lies. In the early modern era, social contractualists linked the state of nature to natural law. In short, natural law was associated with the belief that common law can be considered an expression of justice only if it conforms to natural law.

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

Justice in the Modern Era

In the modern era, David Hume (1711–1776) strongly criticized the principle of natural rights and tried to replace them with the theory of utilitarianism. Then Jeremy Bentham (1748–1832), the pioneer of utilitarianism, expanded David Hume's ideological tradition by declaring that the principle of 'greatest happiness of the greatest number' is the principle of justice and injustice, fair and unfair is the criterion. John Stuart Mill (1806–1873), considering justice to be a major component of social utility, argued that, since human beings aspire to protect themselves, they accept moral rules that others may experience the same protection. Therefore, utility is the core of the concept of justice. In contemporary times, such a principle is being accepted in relation to justice, which has been determined around the

© *Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi*

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

social, economic, political reality of life.

2.4.2 Dimensions of Justice

Legal Justice

Legal justice is concerned with the principles and procedures laid down by the law of a state. Such a system is called justice. In other words, legal justice relates to earlier decisions made or passed by laws, customs and human frameworks. Two facts are important in the legal context of justice: First, the creation of fair law and second, the availability of justice, according to law. Fair lawmaking means that laws made by the Legislature should be fair and logical. Let the law be equal and fair for all individuals. Equitable law making does not mean that the same law for every person (child and old). Law can also be unequal on justifiable grounds. For example, it is free for children under three years of age to travel by train. There is a provision for half fare from the age of three to twelve years, full fare from twelve to sixty years and special exemption in fare for senior citizens above sixty years of age.

This difference of fares is justifiable. Therefore, which law is fair or which law is not justified, it depends on the beliefs and moral outlook of a particular community. In other words, if a law is acceptable in one society, the law can also be rejected in the context of the social background of another society.

Another important aspect of legal justice is the availability of justice according to law. This idea is based on the principle of 'rule of law'. In society, it is only justice to treat individuals as equal before law and to use them lawfully.

Political Justice

Political justice means every person getting a stake in the state without any discrimination. In this context, the presence of adult suffrage, elected government, and civil rights are among the prerequisites for the establishment of political justice. The political dimension of justice relates to the actual policies through which political processes provide the ideals of justice. The constitution, parliament and courts are primarily concerned with the legal aspects of justice, but bureaucracy, political parties, interest groups and voluntary organizations give legal values of justice the form of functional political programs.

Social Justice

Social justice refers to a concept that seeks to prevent discrimination on the basis of birth, caste, religion, gender so that the national resources and wealth can be distributed equally. All courts are inclined to change their judicial approach from time to time to suit public needs. Our Supreme Court has taken a very conservative view in property disputes. On the other hand, his approach has been very correct in terms of protecting civil rights. At present, social justice is being interpreted in a broader sense, which includes all three social, economic and political justices.

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

Economic Justice

Economic justice means the end of economic exploitation, the proper distribution of material resources of the country and the use of it in the interests of more and more people. Liberal ideology emphasizes on the political and social aspects of justice, the same Marxists and socialists believe that economic justice cannot be imagined without abolishing the basis of rich and poor in society and class division of society. According to him, the basic objective of justice is to provide basic economic resources to all the people in the society, which can only be available in future in a classless communist social system.

2.4.3 Procedural Justice and Substantive Justice

What should be the nature of justice in social life? In this context, differences are found in the proponents of procedural justice and substantive justice under contemporary thinking. Procedural justice is basically formal or legal justice. Contemporary liberal thinkers believe in this method of justice. Proponents of this judicial system believe that the process or method of distribution of services, posts and goods etc. should be fair. Who gets what is not a matter of dispute. In other words, in this concept the process is emphasized, not the result. On the contrary, the supporters of substantial justice believe that the distribution of the above services, posts and goods etc. should be fair. Necessary adjustments should be made in its process to achieve this goal. Thus, procedural justice means formal or legal justice, and substantial justice means socio-economic justice. In procedural justice, where the emphasis is on competence, not on requirement, the same substantive justice emphasizes equality of opportunity while trying to meet the basic economic needs of the individual. A market economy or a capitalist economy is considered important in procedural justice. According to this, the market system automatically attracts the elements of production and creates conditions for their best use. Among the thinkers of procedural justice are Herbert Spencer (1820–1903), F.A. Hayek (1899–1992), Milton Friedman (1912–2006), and Robert Nozick (1938–2002). Besides, John Rawls (1921–2002) presented a detailed theory in the context of justice by combining procedural justice with the theory of social justice.

Procedural justice theory opposes any form of discrimination between human beings in society on the basis of caste, religion, colour, gender, region, language and culture etc. This principle accepts the equal dignity and equal importance of all human beings in society. From this point of view, it seems to be a progressive idea, but considering this important market economy and capitalist economy, it believes that in by making equal rules for all, all members of society can adjust their mutual relations in a lawful manner. And the government need not interfere in this process. In the context of this view, Herbert Spencer argues that the government should not help the differently-abled as well, but whoever is proven incapable of life struggle should be allowed to die. F.A. Hayek argues that the government should abandon the idea of controlling the market economy for the purpose of public welfare. Milton

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

Friedman believes that competitive capitalism supports the 'Free exchange economy'. Therefore, the government should take responsibility only for those functions which the market economy does not handle. The government's job is not to control the market economy, but it should not have anything to do with public welfare, social security and market regulation.

Robert Nozick in his book 'Anarchy, State and Utopia' (1974) explains his theory of justice. Nozick considers property rights to be the foremost human rights, arguing that the main function of the state is to protect property. According to him, the state does not have the right to acquire and redistribute the property of its citizens because they were originally its servants. Any property in society can be acquired only by 'production' and 'voluntary transfer'. Asymmetries that arise as a result of this process, attempts to convert them to the level of distribution would be unjust. Nozick holds that taxation can also be considered justifiable to the extent it is necessary to bear the expenses of a 'Minimal state'. In this context, they strongly oppose the welfare state.

Critics of procedural justice are of the view that the biggest mistake of this judicial system is that they have presented the concept of justice in the context of individualism, not in terms of human social beings. The position of different individuals in society is abnormal. Therefore, in an asymmetric society, the procedural form of justice proves inconsistent.

Unlike procedural justice, the idea of substantial justice or social justice is closely associated with Marxism and Socialism. He imagines a communist society in which the entire society has control over the means of production. Therefore, they support equal conditions for all, rather than equality of opportunity. They believe that open competition in economic life leads to such inequalities that the poor class is forced to act on the conditions set by the rich class. Even in political, social and cultural life, the poor have to face inferiority status. In short, it can be said that the goal of substantial justice is that the benefits of social development should not be confined in the hands of a select few, but it should be arranged to bring them to the weak, deprived and disadvantaged level in the society.

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

Global Justice

From the beginning of the modern era to the entire period of the 21st century, political thinkers who were interested in the concept of justice mainly considered only national issues and problems within the nation. That is, how the state should treat its citizens and what and how the citizens should interact. Justice among individuals between mutual sovereign states or across borders was a secondary subject, which he had left to theorists of international relations. After 1980, global justice became an important issue of contemporary political philosophy. The notion of global justice revolves primarily around three related issues of distributive justice, moral universality and major financial institutions. The issue of distributive justice relates to the equitable process on the current distribution of wealth,

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

prosperity and resources. If there is poverty in our country, is it the duty of the capitalists to help the poor or does the spirit of help stop coming to charity and charity or is it so important from moral point of view.

Also, will global politics and economic institutions like the United Nations, World Bank, International Monetary Fund, World Trade Organization, International Non-Governmental Organization, Multinational Corporations and International Courts be the best in achieving the ideal of global justice. Till now issues like freedom, equality, justice and rights were within the jurisdiction of nation-states within a certain land boundary. But the notion of globalization presents an open challenge to these traditional assumptions. The biggest question that arises today is whether the rich countries of the west should concentrate on the neglected sections, cultures, illusions of developing and underdeveloped countries or should restrict themselves only to the exploitation of natural and human resources.

How possible is the project of global justice internationally? This approach mainly consists of five approaches: Such as Nationalism, Realism, Particularism, Cosmopolitanism and the Social of States Tradition.

First: In nationalism, this feeling has been contained since the beginning, what would be the difference in moral duties inside and outside the nation, for example, only the residents of a particular state get the welfare benefits of that state, similarly helping the unhappy citizens of the state is the moral duty of the state. But the issue of distributive justice is only in the context of the residents within the country.

Second: Realists like Morgenthau, Kenneth waltz are of the opinion that there is no such notion as global justice. The states are the main actor in the present age, who always protects his interests. There is no obligation to help the poor, unless doing so helps to further a state's strategic aims.

Third: According to the Particularism, any kind of moral standards arise from mixed traditions. Because we all know that every society has its own norms and the residents living inside it are obliged to it. Communitarians believe that the slackening of state boundaries increases the pressure on unemployment, education, health, transport, housing. As a result, reactions such as separatism, fundamentalism and blocking of public welfare are becoming serious problems. At the same time, the sovereignty of the state also pose a threat. As a result, there may be a decrease in security and self-determination capability.

Forth: According to the Cosmopolitanism, morality is a universal truth. All people come under the concept of comprehensive justice on the basis of being a human being, not only because they are mutually related.

Fifth: In the Social of States Tradition, states go as a distinct individual entity who mutually agrees on their common interests and moral rules. Rawls, in his work 'The Law of Peoples'

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

(1999) extended the notion of global justice to his first book, A Theory of Justice. Under this, he said that such an arrangement will be chosen by the representatives of different countries, in which no one will know who they are representing. In other words, decisions will be made on the basis of ignorance. They support Kant's notion of international morality. In which the main duty of the states is to follow the treaties and stop the war. But this does not exactly mean redistribution of assets globally. We can also say that the notion of global justice is limited to the system of independent states (mutual allies). Which Rawls calls a 'realistic utopia'. Rawls believes that all individuals of world fraternity join the notion of justice by being human beings with each other, not by having the same race, religion or class. The main goal of Rawls's justice was to formulate a principle that could equally apply to the decent and non-decent (non-liberal and non-western). According to Rawls, liberals should respect people who may not give full political equality to their citizens, but must take their advice on certain policies and guarantee them rights like freedom, property and life. It is necessary to protect human rights by decent societies. Rawls then stresses on how to treat the non-decent. In such a situation, the main goal of foreign policy will be to bring the people of the burdened society into the mainstream of the society. Rawls does not consider inequality a problem internationally. Rawls considers global poverty eradication a collective duty of all countries. Therefore, Rawls confines himself to responsibilities under international law, human rights and international treaties in the context of global justice.

There are considerable misconceptions among people in this context whether global justice is a boon or a bane. Amartya Sen is of the opinion that one must think about its need while paying attention to its good and evils. In place of fair justice and more fair distribution of opportunities under global justice, a revised global system should be attempted. Amartya Sen discusses global redistribution justice by changing the contemporary ideology of globalization. Considering the relationship between poverty alleviation and human rights, Sen is of the view that economic progress cannot take place as long as it is not linked to civil liberties i.e. freedom of thought, expression and assembly.

The Human Development Report (1999) of the UNDP presents ideas in the context of achieving global justice. For example, there should be a global code of conduct for international corporations so that the laws related to environment and labour can be followed. New laws should be introduced for the World Trade Organization, including antimonopoly power so that they prevent multinational corporations from exercising their control over industries. Global central banks help poor countries in lending and regulate the financial market. Many NGOs are trying to improve the global economy, but this can only be possible if these institutions leave the dictatorial attitude and work at the democratic level. Similarly, those states that want to join the principles of distributive justice should be ready to sacrifice their sovereignty.

Thus, it can be said that in the process of globalization, justice has been pushed out of the

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

boundaries of nation-states to the boundaries of the international arena. The way in which the nation-states provide justice to their citizens, they should be encouraged, it is easy to be happy but the question of how to achieve global justice is very difficult. The main reason for this may also be that global justice requires social, economic and political reforms. Under which it is necessary to increase the share in developing international economic policy formulation of developing countries. Apart from the exchange of objects, there is a need for the exchange of intellectual thoughts. Like civil rights, their major issues are also global, such as human rights abuse, environmental degradation and AIDS etc. In fact, global justice is our common responsibility. In such a situation, if the nation-state renounces its sovereignty, there will surely be a possibility of allocation of goods.

2.5 RAWLS AND HIS CRITICS ON JUSTICE

Justice is one of the most important moral and political concepts. The word comes from the Latin jus, meaning right or law. The Oxford English Dictionary defines the "just" person as one who typically "does what is morally right" and is disposed to "giving everyone his or her due," offering the word "fair" as a synonym. Quest for justice has been an important concern of political theory since ancient time. However, the meaning of justice has been understood differently during different times. In the ancient Greece for the sophist justice meant the interest of the stronger. Plato emphasized on the moral element in justice by saying that the justice meant performance of owns duty with all abilities and capacity toward the social whole. For Plato, justice is a virtue establishing rational order, with each part performing its appropriate role and not interfering with the proper functioning of other parts. Aristotle, on the other hand, held the view that justice meant equal share to the equal and unequal share to the unequal, it is distributing power and position proportional to the world or contribution of the individual. The modern idea of justice implies its legal, political and socio-economy dimensions. The legal dimension of justice assumes that law is the declare will of the state Constitution regulating activities of government. The political dimension of the justice implies political equality, universal franchise, full guarantee of the liberty, equality, and fraternity in that substantive expect. It argues for the reallocation of both materials and moral advantages of social life.

The contemporary debate on the natural of justice focuses on the distinctive between procedural justice and substantive justice. The notion of procedural justice is closely related to the tradition of liberalism. According to this view point, the function of justice is to regulate the mutual of relation between individual and groups. Hence the quest for justice should aim at evolving reasonable rules which should be (upheld, impartation) to all categories. In contrast, the idea of substantive justice demand failure of essential conditions or space within which the individual can develop their own self. In other word, the resources

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

or opportunities should be provided to the unprivileged and this advantage section of society.

In modern time, significant part of political theory is directly or indirectly related to the problems of justice. This has given rise to diverse perspective in justice. Of these the following are particularly important:

1) Liberal perspective
2) Libertarian perspective
3) Marxist perspective
4) Democratic-socialist perspective
5) Feminist perspective
6) Subaltern perspective

1) Liberal Perspective

John Rawls is the prominent liberal thinker .He considered justice as the first virtue of social institution. The problem of justice, according to Rawls is in ensuring a just distribution of primary goods. Rawls revived the social contract tradition in his Kantian version the principle of justice is a product of end original agreement in the original position. The person in the original position is rational, capable of a conception of good and have a sense of justice the two principles that the parties choose in the original position can be stated as follows;

(1) Liberal principle

Each person is to have an equal right to the most extensive basic liberty, compatible with a similar liberty for theirs.

(2) Equality principle

Social and economic inequalities are to be arranged so that they are both:

a) attached to the offices and position, open to all under conditions of fare equality of opportunity,

b) beneficial to the least advantaged section of the society

2) Libertarian Theory of Justice

Libertarian perspective on justice is based on the ideal of liberty. It regards the right to properly as an important ingredient of individual liberty. It is largely opposed to the idea of welfare state. Robert Nozick provides a powerful philosophical defence of the libertarian position of the minimal state. Nozick identifies three principles on which this entitlement would conform to justice.

(1) Initial acquisition

The method whereby an individual comes to appropriate some previously unowned

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

bits of the natural world. Those who come to settle in an uninhabited continent may legitimately acquire its land and natural resources on first come first served basis, as long as nobody is made worse off by their doing so.

(2) Voluntary transfer

It applies to all property whether acquired through initial acquisition or by mixing one's labour with the natural world, i.e. by means of one's talents, efforts, enterprise, etc. in a market situation.

(3) Rectification

This is precisely the area where the state of the international community will be justified to intervene in order to restore justice. Nozick concedes that the history of the world abounds with involuntary transfers as well as unjust acquisitions of natural sources.

3) Marxist Perspective

The Marxist perspective, Marxist claimed that liberal and libertarian failed to recognize the ultimate moral significant of the ideal of social equality, and its intimate linked with justice. The Marxist's are (vocal) about uneven distribution of income as an example of injustice. They believe it is only with the destruction of capitalism, private property, and bourgeois class that it is possible to construct a society based on social equality and realize justice. Capitalism generates inequalities of wealth and welfare because the markets and enterprise work to the advantage of the capitalists and property-owners and Marx explains this with reference to the labour theory of value. Capitalism dehumanizes the human being destroying his essence. With the abolition of private property and inauguration of common ownership, workers' exploitation ceases and society will be reconstructed to bring forth cooperation and fellow feeling.

In a communist society, because of the social ownership of the means of production, justice would mean equality of all and equality for all. It would mean absence of all discrimination, all exploitation and all oppression. It would mean work for all In accordance with their abilities as also fulfilment of all the needs of the entire person in return to what each are of them does.

4) Democratic Socialist Theory

While Marxism seeks to bring about socialism thought revolutionary method, democratic socialism prefers evolutionary or democratic method. Unlike the Marxist the democratic socialist find justice in a regulated, restricted, and controlled system of capitalism. They believed that the goals of democracy and socialism are inseparable each other. It seeks to modify Marxian socialism in some important details. Democratic socialists hold that socialism does not require wholesale socialization of the means of production and

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

distribution. Instead, if some essential means of production and distribution are placed under state ownership so as to ensure the supply of essential goods and services for the bulk of the population, this would be a substantial achievement in the direction of socialism. Democratic socialists insist that socialism should satisfy not only the material needs of the human being, but also should take care of the moral, intellectual and emotional need for proper development of each individual. They also advocate enquiring the individuals ensuring the freedom of thought and expression, freedom of religion and worship, freedom of movement, and other similar democratic freedoms.

Democratic socialism is opposed to all forms of dictatorship, even if it is a 'dictatorship of the proletariat' as expounded by the Marxian theory of socialism. Democratic socialism treats democratic structures – free competition for power among political parties, freedom of pressure groups, parliamentary institutions with an effective role for the opposition, etc. – as essential for achieving the ends of socialism. Among modern thinkers, Harold J. Laski (1893-1950) has made important contribution to the theory and practice of democratic socialism. Laski has, in fact, sought to combine the ends of socialism with the democratic method of liberalism. Democratic socialism seeks to provide for democratic rights and civil liberties as well as socio-economic rights of citizens.

5) Anarchist Perspective

Anarchist perspective on justice is based on the theory of anarchism. Anarchism holds that society should be organized without coercive power of the state. In its view government is intrinsically evil.

William Godwin (1756-1836), a British political theorist, is regarded to be the first modern defender of anarchism. He believed that a society of small producers united by cooperation, but without a state, would be conducive to political justice. Proudhon advanced a number of schemes for the organization of independent associations, decentralization of authority and circumspection of state authority. Mikhail Bakunin (1814-76) asserted that all political, social and religious institutions should be eliminated immediately, and in their place a free federation of independent associations should be created where all would have equal rights and equal privileges, including the right to secession. Mahatma Gandhi (1869-1948), an Indian philosopher and a champion of non-violence, observed that the state, as a coercive institution, is based on violence. Gandhi stood for a stateless society and contributed to the theory of anarchism in his own way.

2.5.1 Rawls Theory of Justice

In Theory of Justice (1971) is Rawls' attempt to formulate a philosophy of justice and a theoretical program for establishing political structures designed to preserve social justice and individual liberty. Rawls writes in reaction to the then predominant theory of utilitarianism, which posits that justice is defined by that which provides the greatest good for the greatest

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

number of people. In A Theory of Justice, Rawls begins with the statement that, "Justice is the first virtue of social institution," meaning that a good society is one structured according to principals of justice. Rawls asserts that existing theories of justice, developed in the field of philosophy, are not adequate: "My guiding aim is to work out a theory of Justice that is a viable alternative to these doctrines which have long dominated our philosophical tradition." He calls his theory -- aimed at formulating a conception of the basic structure of society in accordance with social justice -- justice as fairness.

Rawls' theory of justice aims to constitute a system to ensure the fair distribution of primary social goods. "All social values-liberty and opportunity, income and wealth, and the bases of self-respect- are to be distributed equally unless an unequal distribution of any, or all, of these values is to everyone's advantage". The institutions established for the fair distribution of primary social goods are the subjects of justice.

Rawls proposes to develop a theory of justice by revising the social contract tradition of theorizing about justice associated with the 17th and 18th century writers John Locke, Jean-Jacques Rousseau, and Immanuel Kant. Rawls imagines a hypothetical situation to determine the principles of justice. Individuals are considered to be rational and capable of making rationalistic decisions as a priory. Rawls set forth to determine the essential principles of justice on which a good society may be based. To identify fairness, Rawls develops two important concepts: the *original position* and the *veil of ignorance*:

The *original position* is a hypothetical situation. Among the essential features of this situation is that no one knows his place in society, his class position or social status, nor does anyone know his fortune in the distribution of natural assets and abilities, his intelligence, strength, and the like. The parties do not know their conceptions of the good or their special psychological propensities.

Fairness is achieved through the *veil of ignorance*, an imagined device where the people choosing the basic structure of society ('deliberators') have morally arbitrary features hidden from them: since they have no knowledge of these features, any decision they make can't be biased in their own favour.

The principles of justice are chosen behind a veil of ignorance. This ensures that no one is advantaged or disadvantaged in the choice of principles by the outcome of natural chance or the contingency of social circumstances. Since all are similarly situated and no one is able to design principles to favour his particular condition, the principles of justice are the result of a fair agreement or bargain. Since all are similarly situated and no one is able to design principles to favour his particular condition, the principles of justice are the result of a fair agreement or bargain.

Principles of Justice

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

Rawls elaborates his ideas of justice as fairness in his two principles:

1. Each person is to have an equal right to the most extensive basic liberty compatible with a similar liberty for others.
2. Social and economic inequalities are to be arranged so that they are
   (a) attached to positions and offices open to all under conditions of fair equality of opportunity (*Equal Opportunity*);
   (b) to the greatest expected benefit of the least advantaged *(The Difference Principle).*

The "basic liberty" mentioned in principle 1 comprises most of the rights and liberties traditionally associated with liberalism and democracy: freedom of thought and conscience, freedom of association, the right to representative government, the right to form and join political parties, the right to personal property, and the rights and liberties necessary to secure the rule of law. Economic rights and liberties, such as freedom of contract or the right to own means of production, are not among the basic liberties as Rawls construes them. Basic liberties cannot be infringed under any circumstances, even if doing so would increase the aggregate welfare, improve economic efficiency, or augment the income of the poor.

Clause b of principle 2 provides that everyone has a fair and equal opportunity to compete for desirable public or private offices and positions. This entails that society must provide all citizens with the basic means necessary to participate in such competition, including appropriate education and health care.

Rawls do not overrule the possibility that these two primary principles will be in conflict with each other. To meet this difficulty Rawls proposes certain 'Principles of Priority'. Such priority is '*lexical'*, i.e., the first has to be fully satisfied before the second is to be considered.

These principles have been arranged lexicographically which means that the first principle of justice takes priority over the second and the principle of fair equality of opportunity takes priority over the difference principle. This implies that the equality of basic liberties and rights, including the fair value of the political liberties, is not to be overridden by other considerations.

Clause a of principle 2 is known as the "difference principle": it requires that any unequal distribution of wealth and income be such that those who are worst off are better off than they would be under any other distribution consistent with principle 1, including an equal distribution. (Rawls holds that some inequality of wealth and income is probably necessary in order to maintain high levels of productivity.)

The most important part of Rawls's second principle of justice is the difference Principle. It mandates that beyond achieving fair equality of opportunity, a just society must be organised

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

so that any social and economical inequalities are to the greatest benefit of the least advantaged. Inequality is only permissible if it will benefit the least advantaged. The difference principle addresses the problem of inequalities due to talents, not by trying to equalise expectation across talent level directly, but by requiring that whatever benefit accrue to the more talented do so in a manner that maximally benefits the least advantaged.

Critical Assessment

Rawls' theory of justice has given rise to numerous debates in contemporary political philosophy. Some of the major criticisms are stated below:

Communitarian Critique

Communitarian critique is one of the most prominent critiques of Rawls' theory of justice. It is basically an attack on the universal aspect of Rawlsian idea of justice. Communitarians argue that in the original position, Rawls assumptions are based upon completely abstracted individuals. Abstracted individuals are those who are put outside their social, political and cultural context. Communitarians argue that any abstract individual can't make choices, and people in Rawls' theory are signing a contract.

Michael Walzer in his book 'Spheres of Justice' and Michael and J. Sandel in his book 'Liberalism and the Limits of Justice' give the counterargument to Rawls' hypothetical individualistic aspects. Walzer asks that since the Rawlsian veil of ignorance assumes individual out of their social context then how can those decisions be applied to real life situations in actual social contexts? People in real life take decisions on the basis of what they understand to be good. The idea of good, according to Walzer, could not be shaped on the basis of individual account. It is always shaped by the community and their beliefs and cultural and social practices. Thus any idea of good would be communal in character. Individuals are basically embedded in community. For example, a caste-based society defines justice on the basis of discrimination. In a caste based society, purity and pollution are decided by birth. Birth becomes the decisive factor in determination of access to water, land and resources. Thus Walzer argues that distribution of goods in a society is dependent upon the specific meaning those goods have, which are socially constructed and embedded in the community, its practices and its institutions.

Feminist Critique

Carole Pateman, Susan Moller Okin and Martha Nussbaum are feminist scholars who gave the feminist critique of the Rawlsian understanding of justice. Carole Pateman, in her book 'The Sexual Contract'' starts with the criticism of all kinds of social contract theories, and argues that all social contract theories work on the repression of the sexual contract, though it is an integral aspect of contract theories. Turning specifically towards John Rawls, she points

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

directly at his "original position". Rawls' task is to find a picture of an original position that will confirm our intuition about the existing situation, which includes patriarchal relation of subordination. Pateman blames that Rawls did so successfully by remaining silent on the matter of sexual identities of the participants to the contract. Pateman blames that parties in the original position would have choices and reason but they are sexless people – they cannot know their sexes. This silence about the sexual contract in Rawls' theory actually denies the conjugal relationship between man and woman, and denies the existence of rights to women against patriarchal domination. It gives priority only to political rights. Pateman argues that since all men and fathers who are the part of social contract come from the womb of women, the rights of women and the social rights should come prior to political rights.

Susan Moller Okin in her book 'Justice, Gender and Family,' gives a deeper analysis of the whole political philosophy of John Rawls than just his idea of original position. Okin argues that in the book "Political Liberalism" Rawls basically creates a divide between the public and the personal spheres. He limits any discussion about an idea of justice in the domain of public sphere. In 'Political Liberalism,' Rawls basically argues for a political conception of justice. It implies that Justice is only about the achievement of political rights in the public sphere. Okin criticises this aspects of Rawls' overall political philosophy arguing that this actually denies justice in matter of inequalities within the family and the household. The denial of justice within the personal domain actually denies the political aspects of what is considered to be private and personal. It also subordinates the personal domain. Feminism, on the other hand, has shown to philosophy that the personal is political. Thus Rawlsian divide between personal and public goes against the basic philosophy of feminism, and by extension, equality and justice itself.

Martha Nussbaum, in her book 'Women and Human Development: A Capability Approach,' argues that the Rawlsian conception of justice could be made just if he would add the development of capabilities of women and children in his list of primary goods. Nussbaum criticises Rawls on three simple grounds:

First, Rawls includes family as a part of basic structure, but he also established the family as a voluntary institution analogous to the church and the university. Nussbaum argues that the family as an institution could not be compared with church and university. It's a most basic institution of society and it has its pervasive influence on every other institution. It should therefore come prior to the church and university.

Secondly, Nussbaum critiques Rawls' faith in the nuclear family. Rawls fails to acknowledge the parochial character of this. Nussbaum emphasises that in very large parts of world, like South Asia, the idea of extended family exists, with village groups, and different women collectives. Rawls gives no reasons why we should choose the nuclear family over any other form of family?

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

Libertarian Critique

A large portion of Robert Nozick's Anarchy, The State and Utopia (1974) is dedicated to refuting the theories of John Rawls. Specifically, Nozick takes issue with Rawls' conception of distributive justice with the former's entitlement theory. Nozick calls Rawls' distribution theory a patterned theory. To Nozick, no distribution is just and there should not be redistribution at all. Redistribution infringes individual's rights which, according to Nozick, trump all other considerations and subject matters.

Nozick, in general, contends that people are born with fundamental individual rights. These individual rights are paramount and that there is no need for a system to achieve moral equilibrium. He rejects all end-result theories, i.e. distributive theories such as Rawls theory of justice. Nozick rather adopts the 18th century philosopher Immanuel Kant's principle of "individual inviolability" that cannot be violated as a means to achieve particular ends, meaning the significance of each person's possessions of self-ownership is that people should not be used as resources or a means of achieving some end and this is exactly what Rawls proposes to do, Nozick criticizes. It is wrong to treat people as if they are merely of instrumental worth or to sacrifice one person for another. He claims that the rights of others determine constrains on our actions.

According to Nozick, the "classical liberal" view is that the right of people to control their bodies and actions is a property right, the right of self-ownership. He further argues for his entitlement theory where it is permissible for people to have and hold property on however an unequal basis provided it was acquired legitimately in the first place. Thus, if someone acquired a holding justly, any interference with his holdings i.e. via imposition of tax, would violate his rights. Nozick claims, a redistributive system invades that right making others "a part owner of you giving them a property right in you". Thus, a redistributive system institutes partial 'ownership by others of people and their actions and labour'. Consequently, he argues that taxation of labour income is "on a par with forced labour ".

Robert Nozick is primarily concerned with the distribution of property, and argues that justice of any given distribution of income and wealth can be exhaustively covered by the repeated application of the three basic principles of justice in: acquisition, justice in transfer, and rectification when the first two principles have been transgressed: "the holdings of a person are just if he is entitled to them by the principles of justice in acquisition and transfer, or by the principle of rectification of injustice (as specified by the first two principles). If each person's holdings are just, then the total set (distribution) of holdings is just" .These principles set out the entitlement theory of justice: people are entitled to holdings that are acquired via (repeated applications of) the principles of justice in acquisition and justice in transfer, or via rectification of transgression of those first two principles. Any inequalities of income and wealth that happen to arise as a result of legitimate acquisition and legitimate

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

transfer are a matter of complete irrelevance when it comes to determining the justice or otherwise of a given distribution – the only relevant question concerns whether the holdings were legitimately acquired and/or legitimately transferred (see pp. 150–153).

Marxist Critique

Marxists generally argue that any argument put forwarded about justice in capitalist system just aims to serve for the interest of dominant class. In other words, it is argued that since Marxism regard the notion of Justice as a product belonging to superstructure, any conceptualization and theorizing justice is entirely ideological and seeks nothing but legitimating social inequalities.

Rawls argues that a fair society can be constructed by means of two principles of Justice as Fairness, since these principles suggests a progressive tendency to equality transcending dichotomy of freedom and economic equality. Even though it can be argued that Rawls tries to alleviate economic inequalities in a society, his two principles do nothing but providing a permanent inequality among different groups where bourgeoisie class benefits. More importantly, what makes Rawls' Theory of Justice unjust is based on his argument that social and economic inequalities are a-priori and inevitable. That is, Rawls claims that economic and social inequalities are natural and a theory of justice should deal with to ease these inherent inequalities without swerving liberty.

The second or difference principle is another complicated proposition. Even though it is called by Rawls as an egalitarian principle, it also functions to justify inequality. After all, it is the standard justification for inequalities everywhere that they benefit for the least advantaged. Such a Rawlsian paradox stems from his exclusive emphasis on distribution rather than production, as well. As he regards the notion of free market as a crucial element of the basic structure of a just society (at least he does not strictly object it), his theory of Justice as Fairness implicitly or explicitly accepts class divisions.

DDCE/COL/SOL/University of Delhi

2.6 INTRODUCTION OF RIGHT

Rights are commonly known as social claims that help a person prove their best development, etc. and help them to develop their personal identities. The state never confers rights, it only recognizes them, governments never confer rights, it only gives them protection. Rights arise from society, from specific social conditions, and that is why rights are always social. Rights means the rights of individuals, they only belong to individuals, they exist only for individuals, they are treated by them so that they can fully develop their personal identities. When we talk of the interrelation of the individual and the state, then two things emerge: **first**, what should the person get from the state - it is his right - **second**, what should the person do for the state – these are duties. In short, rights are the favourable conditions and opportunities a person receives under the state which helps him in self-development.

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

According to **Harald J. Laski,** "rights are the conditions of social life without which one cannot normally hope for complete self-development."

According to Ernest Barker, "Rights are the result of the social system of justice upon which the state and its laws are based." In fact, the right is the proof that the person's dignity is not accepted in the state, in which any rights of the individual Are not exist. Nevertheless, certain classes in a state could be denied rights. For example, in the ancient Greek city states, only freemen had civil rights, and there were no rights for slaves, women, and foreigners. Clearly, such a system of rights is not based on a sense of justice. Apart from providing opportunities for full development of personality to the people, the authority also sets some important limits on the activities of the state. The Declaration of Independence made by the founders of the United States, stating that certain rights are non-transferable and the French Declaration of the Rights of Citizens and Men, are two effective political documents of the modern era. These documents accept the concept of rights as one such central concept. On the basis of which political organizations are built. It has been generally accepted that matters related to rights play a central role in the political life of a society. Historically, it is clear that the increasing interest in rights is not limited only to the 17th and 18th centuries but also to the human rights in the 19th century there is a revival of growing interest in the concept. Since 1960, the Civil Rights Movement adopted rights as a major pillar for the reconstruction of society. In recent contemporary debate issues related to women and disadvantaged minorities have come to the central stage. Even in our time, the question of the right to death by will of our own is hotly discussed. Similarly, in at present sexual minority - L.G.B.T. The issue of community rights has added a new dimension to the rights of minorities. Today on the central stage of the discussion of rights, there are discussions related to human rights. The discussion concerning rights has become so fascinating in the present society that the language of rights has become the most powerful language for moral change, not only in the present but also in the near future. In this unit, we will try to understand the various concepts of rights, under which special importance will be given to natural, moral and legal rights, as well as to highlight the relationship of rights and obligations in this unit. This unit also incorporates the concept of human rights, which remains a subject of debate in the contemporary world. The Comprehensive Declaration of Human Rights of the United Nations in 1948 'propounded a new notion of human rights which was virtually a product of Western countries but which has gradually spread to the countries of Asia and Africa and contemporary political discussion it remains a controversial subject.

2.6.1 Nature of Rights

The relationship between the individuals and the states has been an important question of political theory, one that has baffled, if not confused, political philosophers since ages. Political philosophers have debated as to who, whether the state or the individual, is more important and who owes what to whom. Rights are the sum total of those opportunities which

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

ensure enrichment of human personality. They are the basic condition of good life which are recognized by the state. According to **Laski, ‘**Rights, in fact, are those conditions of social life without which no man can seek, in general, to be his best’. According to **Salmond**, ‘a legal right ins an interest recognized and protected by the rule of law an interest to violation of which would be a legal wrong and respect for which is a legal duty.’ **Bosanquet** defines it as ‘a claim recognized by the society and enforced by the state.’(Homosexuality). According to **Barker,** the development of the capacities of the personality of the individual is the ultimate purpose of the state and the final political value. The law of the state is right and possesses the quality of rightness or justice by virtue of securing and guaranteeing to the greatest possible number of persons, the external conditions necessary for the greatest possible development of the capacities of the individual personality. These secured and guaranteed conditions are called by the name rights ‘.

On the basis of above definitions, we can draw certain general conclusions regarding the nature of rights.

Firstly, rights in their nature are the result and embodiment of the general system of right on which the state and its laws are based. Rights are a portion of right. Hence one cannot have the rights apart from the notion of right. One cannot have secured and guaranteed rights in the legal sense of the term apart from the law which is based upon the notion of rights. In short, the rights are the demands of the individual from the society which are secured by law and they are the conditions of the development of personality.

Secondly, regarding the sources of rights, the origin of rights is something in the individual himself. Rights flow from the inherent fact of individual’s own moral personality and his social nature. In this sense, we can say that rights are natural or human. One cannot possess the rights unless they are secured and enforced by the state. In this sense rights have a source outside man, and the rights now flow from something more than one’s personal nature. That is to say, the state is the immediate source of rights. Thus, rights are derived from two sources (I) from the individual personality and the quality of being a condition of its development, and (II) the state and its laws, and the quality of being secured and guaranteed by the action of law.

Thirdly, the concept of rights is essentially about human relationship in the society. Hence enjoyment of rights involves respectful observation of certain fundamental cannons of social welfare. The rights are never absolute and unlimited and are governed by the society’s interest. They impose co moral responsibilities on every individual. While enjoying rights, man must be aware of the similar rights of others. Rights are given equally to all individuals in the society. Whereas privileges and prerogatives are limited to a particular group, class or section of the society, rights are given to all irrespective of birth, caste, creed, economic status, religion etc.

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

Fourthly, with the socio-economic development, new demands of individuals continue to come into existence which struggle for social recognition. Such demands when recognized by the state through its laws become rights.

And lastly while the rights are claimed universally, a great majority of rights are limited in time and space because they have a reality only in the context of a particular human society. For example, the rights possessed by the Indian people after independence did not exist before and may not be the same in the 21st century. Also the content of a particular right-say right to property-may differ from country to country.

2.6.2 Negative and Positive Rights

The concept of rights is a dynamic concept. With the development of social consciousness, rights are subjected to continual review and redefinition. It is interesting to note that rights are always demanded and even granted as the 'rights of man.' But their beneficiaries are usually those classes which articulate this demand because they formulate the demands of rights in a manner best suited and calculated to serve their own interests. However, with the spread of modern consciousness, the concept of rights has been modified in two important directions. It is now admitted that: (a) the advantages of rights should not be confined to a tiny class which is placed in a privileged position by virtue of its money and manipulative power; and that (b) rights should not be confined to delimiting the sphere of state activity and authority, but should also prescribe the functions and responsibility of the state so as to make them beneficial to the bulk of society. This trend indicates a shift of focus from negative to positive rights. Negative rights suggest the sphere where the state is not allowed to enter. They suggest the sphere of freedom of individual which shall not be encroached by the state. Positive rights, on the other hand, prescribe the responsibility of the state in securing rights of individuals. They require the state to take positive measures for the protection of the weaker and vulnerable sections or those placed in a vulnerable position. In fact, the negative and positive rights should be treated as parts of a continuum, not as distinct entities.

Broadly speaking, negative rights indicate as to which acts of the individual shall not be restricted by the state. Thus, 'freedom of thought and expression ' implies that the state shall not impose any restriction on individual's thought and expression. So, it comes in the category of negative rights. But if we say that the state shall provide universal education to promote its citizen' faculty of thought and expression, it will be described as their positive right. In short, positive rights indicate the responsibility of the state to improve the life of its citizens and to help them in their self-development. For example, right to medical care, right to work, right to legal aid, etc. also qualify as positive rights. A capitalist state gives precedence to negative rights while a socialist gives precedence to positive rights. A welfare state aims at combining negative rights with positive rights as far as feasible.

2.6.3 Justification of Rights

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

There are two major contemporary philosophical approaches to explain why the rights should be respected. These two approaches are broadly known as Deontological or the status-based rights and Consequentiality or the instrumental rights.

Status - theories hold that human beings have attributes that make respect for these rights appropriate. On the other hand, Instrumental theories hold that respect for particular rights is a means for bringing about some optimal distribution of interests. Status - theories belong to the tradition of natural rights theories. All natural rights theories agree that there are certain features that humans have by their nature, and which make respect for certain rights justified. The theories, however, differ over precisely which attributes of humans give rise to rights, i.e. whether it is rationality, free will, autonomy, or the ability to regulate one's life in accordance with one's chosen conception of the good life. Natural rights theorists agree that human reason can grasp the fact that it is appropriate to treat human beings with such attributes in certain ways, although they disagree on whether such facts are "self-evident." Natural rights theory reached its high point in the early modern era, in the works of Grotius, Hobbes and especially Locke. On the other hand, the Instrumental theories depict rights as instruments for achieving an optimal distribution of interests. For example, Rawls theory may define the optimal distribution as a fair one: i.e., the distribution that would be chosen from the perspective of an original position. Other contemporary normative theorists such as Ronald Dworkin, and Amartya Sen. have set out systems that give a central role to instrumental rights. On the whole, the two approaches differ sharply over the role of consequences in the justification of rights. Status theorists hold that rights should be respected because it is fitting to do so, and not because of the good consequences that will flow from doing so. For them right are not means for the promotion of good consequences. They are rather, in Nozick's phrase, side constraints on the pursuit of good consequences. The status theory does not allow any rights violation even for the sake of maximizing the non-violation of rights overall. By contrast, within an instrumental theory, good consequences are the justification for promulgating and enforcing rights.

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

2.7 THEORIES OF RIGHTS

There are numerous theories of rights which explain the nature, origin and meaning of rights. The theory of natural rights describes rights as nature; the idealistic theory, like the theory of legal rights, relates rights only with the state; the theory of legal rights recognises rights as legal; the historical theory of rights pronounces rights as products of traditions and customs; the social welfare theory of rights regards rights as social to be exercised in the interest of both the individual and the society.

The concept of rights emerged with the rise of modern state and out of the criticism of the old social and political order. Its tone was radical and in its ultimate employment was revolutionizing. Historically, the demand for the individual rights was made by the rising

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

commercial/middle class which was the product of industrial revolution. It became an accepted ideology of the American and French revolutions and was expressed in the Declaration of independence and the constitutional **Bill of Rights** in America and **Declaration of the Rights of Man** in France. Prominent liberal writers such as Locke, Rousseau, Bentham, J.S. Mill, T. H. Green and Harold Laski, Earnest Barker and a host of others have advocated the rights of the individuals on one ground or the other. In the post - war period, the concept of rights has been further expanded by John Rawls, Robert Nozick, Ronald Dwrokin and many others.

Theory of Natural Rights

The principle of natural rights is first and foremost among the various theories related to the rights. John Locke, in his article Second Treaties on Civil Government, published in 1690, gave the most effective statement on natural rights. But before that the theory of natural rights had been presented by Thomas Hobbes. His ideas related to natural rights can be understood by her concept called 'natural state'. It refers to the state of human life in the absence of a systematic political institution and government - in other words, the natural state of a human being against artificial condition under a government. According to Hobbs, the natural right he called 'Jas naturalis'.

The natural rights theory propounded by Locke other liberal thinker, declared that all men are born with certain inherent right. Rights inhere in individual human being rather than in society or state. 'God gives them to his children just as he gives them arms, legs, eyes and ears.' Rights, according to this theory, were attributed to the individual as they are the intrinsic property of man. Whatever right are granted to a man as citizen of this or that state, his natural rights go with him where he goes. Natural rights were drived from natural law and were propagated by the social contract theorists like Hobbes, Locke and Rousseau. They assumed that man had certain natural rights before the origin of the state and he surrendered some of them to a superior authority i.e. civil society in order to safeguard the rest of them. Hobbes considered right to life as a natural right. Locke declared right to life, liberty and property as the natural rights. Rousseau has prioritized the rights of Freedom and Equality.

Contemporary political philosophies which continue to believe in the liberal tradition of natural rights include libertarianism, anarcho-capitalism and Objectivism, and include scholars like Ludwig von Mises, Friedrich Hayek, Ayn Rand, and Murray Rothbard. A libertarian view of inalienable rights is laid out in Morris and Linda Tannehill's 'The Market for Liberty', which claims that a man has a right to ownership over his life and, therefore, also his property, because he has invested time (i.e. part of his life) in it and thereby made it an extension of his life. However, if he initiates force against and to the detriment of another man, he alienates himself from the right to that part of his life which is required to pay his

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© *Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi*

debt: "Rights are not inalienable, but only the possessor of a right can alienate himself from that right - no one else can take a man's rights from him."

Critics of Natural Rights

The idea of natural rights was not accepted by the latter political philosophers.

- It was felt that if rights are attributed to the individual absolutely, we cannot resolve the conflict between man and society. For example, in a situation like famine, one man's right to life could be violated by hoarding of food by another man's right to property. That is if the two equally absolute rights conflict, there is no principle upon which this can be solved.
- The most obvious criticism of this theory was what is meant by natural. It is found that the word nature was used in a multi-dimensional sense such as: nature as a whole universe, nature as the non-human part of the universe. In short, the term 'natural' remained vague at the hands of various writers.
- There can be no rights without a law. Rights imply certain duties; they imply social relations on which duties can rest. As was pointed out by Green later on, every right must be justified in terms of ends which the community considers good and that which cannot be attained without rights.
- The theory assumed that one could have rights and obligations independent of society. This was an erroneous view because the question of rights emerges only in the society and in the context of social relationship.

Theory of Legal Right

According to this theory, there can be no right in proper sense of the term unless it is so recognized by the state. No rights are absolute, nor are any rights inherent in the nature of man as such.' Rights are relative to the law of the land; hence they vary with time and space. Rights have no substance until they are guaranteed by the state.

Hobbes argued that the only fundamental right of the individual, viz. the right of 'self-preservation', is batter maintained by the state than by the individual himself. Hence, man must depend on the state for the maintenance of his rights. He is free to do anything which is not restrained by the state. In other word, man can have no right against the state. Bentham rejected the theory of 'natural rights' which had been advanced by the early liberals. He describes the theory as metaphysical, as a 'hodge-podge' of confusion and absurdity, as 'simple non-sense upon stilts'.

The legal basis of rights implies three things:

(I) The state defines and lays down a bill of rights. Rights are not prior to the state but state is the source of rights,

(II) The state lays down a legal framework which guarantees rights. It is the state which

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

enforces the enjoyment of rights,

(III) As the law creates and sustains rights never the content of the law changes, the substance of rights also chances. The legal theory of rights implies that there is no right where there is no power to secure the object of rights.

Criticism of Legal Right

The legal theory of rights was also found deficient by the later writers in certain respects.

- The legal theory did not cover the whole range of rights. It explained the nature of only those rights which had been given legal recognition by the state. It was incomplete because it did not tell whether that which is guaranteed is actually rights or really needed recognition. The theory assumed that what is guaranteed by the state is right.
- The legal theory did not take into consideration the rights of multiple associations in the society. For example, as Laski said, men enjoy rights not merely as members of the state but also a member of the society. He believed that to limit the rights to a single source i.e. the state is to destroy the personality of the individual and not to preserve it.
- The state does not create rights but recognizes, maintains, protects and coordinates them. As Wild remarked, the rights exist whether they are recognized or not. Higher than law is our conception of right and wrong. Rights must have a foundation of right.
- If the state and its laws are accepted as the sole source of rights, then there is no right against the state. The liberal writers like Green and Laski recognized the need to resist the state in certain circumstances. As Laski put it, the obedience to the state is limited and conditional. It is obedience to rights and not might, to justice and not to authority. The material source of rights is the community's sense of justice and not law. Law is nothing but the concretization of the feeling of the community. The legal theory is partly correct in asserting that rights are no rights until they are secured by the state.

Theory of Moral Rights

This theory of rights is associated with idealist thinkers, though T. H. Green merged it with liberalism. Laski, like T. H. Green, erects his theory of rights on moral foundations. However, he is seriously concerned with the satisfaction of material needs of the masses. Laski is much ahead of Green in dealing with the maladies of the capitalist system. Thus, Laski holds that rights are not concessions granted by the state. On the contrary, they are superior to the state, because they provide for a standard to judge the state itself. The moral theory associated rights with the achievement of moral freedom of man as member of the society. According to this theory, every right is derived from one basic right - the right to personality. Whether it is right to life, liberty, property, education or health, they are all

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

rooted in and are governed by the development of the personality of the individual. Rights are powers which an individual claims from the society on a moral plane and are recognized and enforced by the state through its law. Legal rights may or may not embody moral rights, but the ideal is the empowering of all moral rights through law. Such rights vary from time to time and from place in accordance with the moral consciousness of the community. With the growth of moral consciousness, certain rights which were once regarded as natural lose value. Every right that an individual has is dependent on the social judgment of its compatibility with the general well - being.

2.7.1 Rights and Duties

It must be emphasised, however that right have corresponding duties as well as obligation. The two are correlated. Rights and duties of citizens are two sides of the same coin. The relationship between them is two fold. Firstly, society functions on the principles of reciprocity. My rights involve a duty, on the part of others to respect my rights and also a duty on my part to respect the similar rights of others. Society works on the principle of, "he who takes gives and he who gives takes". Indeed, my enjoyment of a particular right has to be conceived in terms of the similar claims of other citizens. My right is integrally related to the right of my follow human beings. The one cannot exist without the other. A society, in which people care less for their own duties and more for their rights, sooner or later, disintegrates. In their frantic effort for the vindication of their own rights at the expense of fellow human beings, society will be reduced to the status of a jungle in which ultimately the law of might will prevail. In order that everyone enjoys his or her rights it is necessary that we recognise our obligation towards others. We cannot say that we shall be free while others will be bound with their obligation. Such a position is quite untenable and in human.

Secondly, logic of rights and duties also implies that if we have certain claims against the state, it is also our responsibility to contribute something towards its enrichment by doing a socially useful work. The state creates those conditions in which we can realise ourselves. In return for this, it is our duty to take advantage of these conditions and give our best to it. The best way in which we can contribute to the social stock is by following duties towards our nation, in recognising our social responsibilities and unscrupulously respecting the similar rights of others. One does not contribute only by being a son of a prime minister or a poet but by being oneself. I may not succeed in my life, but if I have given sufficient indications of sincere efforts to make such contribution, as I am capable of, my job is done. It is a duty of every one of us that we must develop. Our personality so as to be able to contributes our best to society. A citizen should make available valuable judgement on the various issues confronting it. One must pay one's taxes to the state and must refrain from interfering with the similar rights of the other members of the society. So long as the state helps in fostering a

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

climate conducive to happiness of the individuals, the citizens must also help it in maintaining law and order and must honestly perform their public duties. They should leave no stone unturned for strengthening their own country and if need arise must be prepared to defend it at any cost. These obligations by being reciprocal in character do not impose restrictions on the rights of individuals; rather, they give them fuller and greater reality. To think that my rights can be separated from my duties is to be guilty of gross selfishness. It is only by performing a useful function in society that we contribute towards its enrichment. A state in which citizens care more about their rights and less about their duties remains in a precarious situation. It would lead first to anarchy and then to its disintegration. In order to preserve c my right it is necessary that I must convince my fellow human beings that in granting such a right they wound be enabling me to participate in the goof of society. I must show, that so far as the society does not secure me this right, it derogates me from the status of a human being and my capacity to make my contribution to social welfare. It is only in the apprehension of the is equation between individual's function and social well-being by the members of society that a true theory of rights can be constructed and society can be built on stable foundations.

2.8 DEBATE: HUMAN RIGHTS- UNIVERSALISM OR CULTURAL RELATIVISM

As we are aware, the Universal Declaration of Human Rights has been in existence since 1948 when it was adopted by the General Assembly of the United Nations, however, an important issue of the past twenty years has been the conflict between two rival ideologies of human rights popularly known as universalism and cultural relativism. Most contemporary readings on the topic of Human Rights include one or more chapters on cultural relativism. The bulk of the existing literature revolves around a description of western versus non - western philosophies and argues as to which approach better defines human rights. While the Universalism holds that more "primitive" cultures will eventually evolve to have the same system of law and rights as the Western cultures, the cultural relativists hold an opposite, but similarly rigid, viewpoint, that a traditional culture is unchangeable, that cultures have fundamental or essential "properties, particularly their values and beliefs. All questions about the origins or the universality of human rights become questions about their validity. That is to say, if human rights are western, they cannot be universal. Put differently, both the universalists and relativists agree that the key point at issue is whether human rights are essentially linked with western culture but they disagree about the answer.

Human Rights are Universal

The Universal Declaration contains three distinct sets or generations of human rights. The first set or generation, known as negative rights, consists of civil and political rights. These

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

include right to life, equality before laws, freedom of speech and religion, freedom of movement and assembly, as well as guarantees against discrimination, slavery and torture. The second set or generation of rights known as positive rights and include a number of social, economic and cultural rights such as right to an adequate standard of living, adequate standard for the health and well - being of himself and of his family, including food, clothing, housing and medical care and necessary social services". In addition," motherhood and childhood are entitled to special care and assistance "and everyone has the right to free education at the elementary level. A third set or generation of human rights involves collective set (also known as group rights) or community rights such as right to development among nations. They were the solidarity among nations and individuals and form a core value of the declaration. This set of rights is the least developed among the three types of human rights.

Now, the above rights are also called universal rights. The concept of universalism came into prominence after World War II. With the adoption of the Universal Declaration of Human Rights, countries all over the world discussed and negotiated values that would become the basis for human rights. The horrific consequences of World War II left a legacy that great harm could result in allowing individual countries or nations to define and pursue their own values (as was demonstrated by Hitler that German is the most superior race on this earth), a core concept of Human rights included in the Declaration is that those rights belong to everyone, no matter as to what status that person holds in society. This notion of universalism is the basis of human rights. Every individual has a claim to the enjoyment of human rights, wherever the individual may reside. For example, human rights include adequate health care and nutrition for everyone. And the governments have an obligation to provide a framework for ensuring the delivery of these rights even if local cultures consider the procurement of these items a matter for the individual. Human rights are internationally agreed values, stand or rules regulating the conduct of states of their own citizens and toward non-citizens. In the words of the Preamble of the Universal Declaration of Human Rights, these rights are a common standard of achievement for all peoples and all nations. These rules, which the member-states have imposed upon themselves, serve to restrict the freedom of states to act towards their entire population-citizen as well as non-citizen, men as well as women, whites and non-whites, believers and non- believers, married persons and the unmarried etc.

The Universalists argue that at least some moral judgments are universally valid. They generally hold that something like the catalogue of rights enunciated in the Universal Declaration of Human Rights (UDHR) and other international covenants and conventions are universally valid. The universality of human rights derives from claims or arguments held to transcend cultures Modern Universalist theories of human rights can be based on natural law justice, reaction to injustice, dignity and equality of respect and concern. Grounded on ideas

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

of universality, empowerment and human-centeredness, the concept of human rights is considered an appropriate and vitally necessary radical framework for altering international relations and politics, including changing notions of humanitarian intervention.

Now, the important point to remember here is that this universalistic theory of Human Rights is largely based on Western philosophy and the value it places on the individual. It is a product of Greek philosophy, Christianity and the Enlightenment thinkers which contended that one can use nature or reason to identify basic rights, inherent to every human, which pre-existent society.

Briefly, this doctrine can be stated as:

(i) All human have rights by virtue of their humanity;

(ii) A person's rights cannot be conditioned by gender or national or ethnic origin

(iii) Human rights exist universally as the highest moral rights, so no rights can be subordinated to another person (e.g. a husband) or an institution (e.g. the state), also, it has been the practice of states to accept it, through ratification of international instruments. In other words, they are rights because they are natural or God - given or inherent to humanity. They are so fundamental that there should be no exception to their application.

Human Right and the Problem of Cultural Relativism

Since its inception that UDHR has been mired in controversy. There have been theoretical criticisms which include reactionary, communist, communitarian and pragmatist. Politically and ideologically motivated criticisms included socialist, Confucianist, African and religious fundamentalist as well as unaligned criticisms from developing countries. Such criticisms focus on the internal cohesion of the UDHR; problems with interpreting it because of few precise definitions; cultural relativism; globalization and recent changes on the world stage. These criticisms have raised important questions such as - whether human rights criteria deserve the authority they have acquired, whether their claim to universality are justified, or whether they are just another cunning exercise by western imperialism.

Cultural relativism is based on the idea that there is no objective or universal standards by which others can be judged. The debate between universalism and relativism is as old as the history of philosophy itself and its discussion of truth. Relativism was introduced, among others, by the Sophist Protagoras. He rejected objective truth by saying in so many words, later quoted by Plato: "The way things appear to me, in that way they exist for me and the way things appear to you, in that way they exist for you".

Relativism as linked to culture appeared late in the work of anthropologists who demonstrated empirically that there exist in the world many different cultures, each equally

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

worthy. However, international law has only recently begun to tackle the issue of cultural relativism, which first emerged after the publication of a book in 1971 by **Adda Bozeman** entitled **The Future of Law in a Multicultural World**. The central themes of the book were:

1. There exist profound differences between western legal theories and cultures and those of Africa, Asia, India and Islam.
2. In order to fully understand a culture, one must be a product of that culture.
3. Even if a culture were to borrow a concept from another culture, that concept's meaning would be filtered through the first culture's unique linguistic-conceptual culture,
4. There can be no universal meaning to a moral value.
5. A universal text on values is a futile exercise.

Similar, Polis and Schwab in their essay Human Rights: a Western Construct with Limited Applicability argued that the Western political philosophy upon which the Charter and the Universal Declaration of Human Rights are based provides only one particular interpretation of human rights, and that this Western perception may not be successfully applied to non-Western areas due to ideological and cultural differences.

Cultural relativism maintains that there is an irreducible diversity among cultures because each culture is a unique whole with parts so intertwined that none of them can be understood or evaluated without reference to the other parts and to the cultural whole, the so-called pattern of culture. Cultural relativism refers to a view that all cultures are equal and universal values become secondary when examining cultural norms. No outside value is superior to that of the local culture. If the local culture allows female genital mutilation, then the human right prohibiting cruel or degrading treatment shouldn't prevent the genital mutilation. If the culture accepts genital mutilation, then no outside principle should overrule the cultural norm. Relativists hold that "cultures manifest so wide and diverse a range of preferences, morality, motivations, and evaluations that no human rights principles can be said to be self-evident and recognized at all times and all places." There are no absolute values or principles by which any culture or society can be judged apart from those of the culture itself. This brand of cultural relativism must be distinguished from a more thoroughgoing moral relativism: cultural relativists typically do not deny truth or morality, but instead hold that while "for every culture some moral judgments are valid, no moral judgment is universally valid." Cultural relativism argues that each culture or society possesses its own rationality, coherence and set of values and it is in these terms only that one can properly interpret the organization, customs and beliefs (including ideas about human rights) of that culture or society. The cultural relativists typically maintain that there is a fundamental link between the cultural origins of a value or the principle and its validity for that culture.

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

Against the universalism that is the foundation of human rights; cultural relativism insists that cultural context determines pluralism in human rights, values and practices. Broader culturalism consists of the interrelated approaches of cultural essentialism (or reductionism), cultural determinism and cultural relativism. It turns culture-or cultures-into the trump card in any debate about human rights, or indeed world politics. It emphasizes the uniqueness and exclusivity of each culture. Thus, if human rights are not indigenous to a particular culture, their validity and applicability are in doubt. In Ann Maver's words, human rights are "alien and therefore incompatible" with non-Western cultural or religious traditions." The liberal doctrine of human rights does not speak the people's worldview. Cultural concerns are two sided- upholding one's cultures and traditions but also protection from cultural imperialism. Culture performs multiple roles: culture versus rights, rights to culture, rights as culture, and culture as a way of improving understanding and analysis of rights processes as situated social action.

2.9 SELF-ASSESSMENT QUESTIONS

1. What is the meaning of liberty. Explain the various notions of liberty?
2. What is the difference between positive and negative liberty?
3. Comment on the idea and concept of justice?
4. What do you understand by global justice?
5. Comment on what is the difference between Procedural justice and Substantive justice?
6. What is the difference between legal, political, social, economic justice?
7. Critically evaluate Rawls's theory of justice?
8. Analyse of the recent debates on the idea of right. Which of these view-points do you agree with and why?
9. Examine the idea of natural rights as advanced by John Locke.
10. Write a short not on 'Human Right.'
11. Trace the evolution right. Give an account of major critiques of natural rights theory.
12. Map out major debates on the question of "why should we obey the state"?
13. Make a short note on Human Rights and Cultural Relativism

2.10 SUGGESTED READINGS

- Acharya, Ashok, "Equality" in Rajeev Bhargava and Ashok Acharya ed. Political

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

- Theory An Introduction (New Delhi, Pearson Longman: 2008)
- Arneson, Richard J., "Equality" in Robert E. Goodin and Philip Pettit A Companion
- Contemporary Political Philosophy an Anthology (USA, Blackwell:1997)
- Menon, K. (2008) 'Justice', in Bhargava, R. and Acharya, A. (eds), Political Theory:
- An Introduction. New Delhi: Pearson Longman, pp. 74-86.
- Mill, J. S. (1991) On Liberty and Other Essays. ed. Jon Gray. Oxford: Oxford
- University Press.
- Berlin, I. (1969) 'Two Concepts of Liberty', in Four Essays on Liberty. England:
- Oxford University Press, pp. 118-172.
- Rawls, J. (1971) A Theory of Justice. Harvard: Harvard University Press.
- Miller, D. (2006) The Liberty Reader. Edinburgh: University of Edinburgh Press.
- Rawls, John (1971) A Theory of Justice Cambridge, MA: Harvard University Press.
- Rawls, John (2005) Political Liberalism: Expanded Edition Columbia University Press.
- Sandel, Michael (1998) Liberalism and the Limits of Justice Cambridge: Cambridge
- Talukdar, P.S. (2008) 'Rights', in Bhargava, R. and Acharya, A. (eds), Political
- Theory: An Introduction. New Delhi: Pearson Longman, pp. 88-104.
- Mckinnon, C. (2003) 'Rights', in Bellamy, Richard and Mason, Andrew (eds),
- Political Concepts. Manchester: Manchester University Press, pp. 16-27.
- Campbell, T. (2008) 'Human Rights', in McKinnon, C. (ed), Issues in Political
- Theory. New York: Oxford University Press, pp. 194-217.

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© *Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi*

Unit-3

DEBATES IN POLITICAL THEORY:
A. PROTECTIVE DISCRIMINATION AND PRINCIPLES OF FAIRNESS?
B. THE PUBLIC VS PRIVATE DEBATE: FEMINIST PERSPECTIVE CENSORSHIP AND ITS LIMITS

Dr. Mangal Deo
School of Open Learning,
University of Delhi

STRUCTURE

3.1 Objective

3.2 Protective discrimination: Theoretical Explorations

3.2.1 Other Backward Classes where caste and class intersects

3.2.2 Courts Stand in OBC reservation

3.2.3 Women, caste and reservation

3.3 Rawl's : Principles of fairness?

3.4 The Public Vs Private Debate: Feminist Perspective

3.4.1 Schools of Feminism

3.4.2 Waves of Feminism

4.3.3 Post Feminism

3.4.4 Personal is Political

3.4.5 Sex and Gender

3.5 The Public Vs Private Debate: Censorship and its limits

3.5.1 Types and Elements of Censorship

3.5.2 India and Censorship

3.5.3 Censorship and Media

3.5.4 Rule of Law, Freedom and Surveillance

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

3.6 Self-Assessment Questions

3.7 Suggested Readings

3.1 OBJECTIVE

- The aim of this chapter is to understand the implementation of Protective discrimination policy in India
- Indian case presents a unique case where disadvantaged among disadvantage group is considered.
- This phenomena is explored by understanding intersectionality of caste, class and gender
- There would be special focus on why reservations were extended to Other Backward Classes (OBC) and Dalit women

Protective discrimination is process to lessen inequality that is the result of certain ascribed identities in the society. Democratic countries all round the world have adopted some kind of Protective discrimination programme for groups that are at the bottom of the ladder due to structural in equality. In India one such identity is caste that had drawn constituent makers to take certain steps to redress this inequality. Over the period of time with strong mobilization all round the world, Protective discrimination programme was implemented for women also as they were seen invisible in all the spheres of life. The aim of this chapter is to understand the practise of Protective discrimination in India. This would be done but first trying to understand what is caste? Then we would see how Protective discrimination programme constitutional provisions that were inserted for removal of caste inequality. We would then discuss Protective discrimination programme in India with special focus on caste. Finally last section would discuss Protective discrimination programme for women with special focus on intersectionality between caste and gender.

DDCE/COL/SOL/University of Delhi

3.2 PROTECTIVE DISCRIMINATION: THEORETICAL EXPLORATIONS

G S Ghurye (1932) while discussing Caste system in India tried to underline some characteristics of caste system which are as follows:

(a) Hierarchy

(b) Restrictions on inter-dining

(c) Restrictions on inter-caste marriage

(d) Restrictions in freedom of occupation

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

(e) Segmental division of society

B.R Ambedkar (1936) while agreeing with G.S Ghurye characteristics also pointed out this fact that caste system kills the unity and prevents nation to be built up. In order to prevent the menanace of caste system to further infiltrate the new independent Indian Nation, Ambedkar had categorically crafted Article 15 of the Indian constitution that prohibits any kind of discrimination based on caste, religion, race.sex etc and this was re enforced through Article 38 that said that welfare of the people would be done by the state irrespective of religion, caste class etc. Despite making such forward looking law, makers of the Indian constitution saw that caste was rejuvenating itself. This was because caste system was used by politicians to further their ends on one hand and on the other it was enacted in the society through various ways. Bernard Cohn while tracing the history of Caste system in India points at British policy of use of census as a tool in dividing the society on basis of caste and religion by stratifying the caste system that was not prevalent then. M.N Srinivas (1956) while studying the nature of caste system in Independent India discovers 'sanskritization' process, where lower caste performs same rituals as upper caste do. This is done to uplift their status and it is promoted through discussions in print media, representative culture and thirdly use of English education. Rajni Kothari (1973) says that casteism in politics is no less then politicisation of caste. It is a system in which both the forces of caste and politics are brought nearer to each other. Specific purpose of organising public activity is through nature of interaction and differential organisation of caste system. Rajni Kothari has deciphered three ways where politics uses caste organisation. Firstly through secular aspect that is based on segregation principle of endogamy. This works on the principle of pollution and purity. Factionalism, caste cleavages, patterns of alignment and realignment has led to continuous social mobility. This secular tendency is seen through two ways first through governmental aspect and secondly through political aspect. Secular aspect is through education and regional variation. Brahmins responded to English education there was slow expansion of franchise. Since Brahmins were not powerful so vertical inter-caste ties provided an ongoing structure of political recruitment? Spread of new religious sects made different models of sequence for accession to power. Breaking through territorial restraint and widening of occupational forces. Secondly Integrative approach strengthened by caste system. In this wider loyalties are structured through prevailing differentiation and it involves competitive style of democratic politics by broadening ideological base. This involves segmentation and identification system in which leadership was forced to make concerns to local opinion. It involves not only distributive and conflictual aspects but also group actions and cohesions. This happens through fusion and aggregation and fission and segmentation. Interaction between caste and modern institutions distribution of economic benefits leads to caste consciousness and perceptions. Feeling of deprivation gave rise to ascendant caste. Bilateral struggle of power led to string of demands which gave rise to demands for benefits that exceeded availability of resources. Weakening of older identities created space for creation of

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

politicised values and gave rise to new changes. Consciousness is third aspect which was the result of sanskritization, westernization and secularization processes that has occurred through liberal education, patronage and slowly expanding franchise. Secular involvement has fostered new attitudes and offered new rewards. It has exposed caste and communal ties. Close identification with one caste alienates other caste. Political parties gain stability only by involving all major communities. Politicisation of caste leads to operation of competitive politics. It has drawn caste out of its apolitical context and given new status to caste system. There emerges dominant elite where different groups share common outlook. Caste takes new association in form of association of caste members, Creation of caste institutions and caste federation.

One direct result of interaction between caste and politics has been mapped by Rudolf and Rudolf (1987) who discussed about rise of bullock cart capitalist after green revolution was implemented in 1960's. These groups belonged to lower caste that rose to prominence and asserted themselves in Indian politics. This led to setting up of Mandal commission that ultimately created other backward classes who were erstwhile lower caste groups and who gave new direction to Indian politics. This was mapped by Christopher Jaffrelot (2003) when he saw rise of Other Backward Classes in North Indian states as India's Silent revolution.

3.2.1 Other Backward Classes where Caste and Class Intersects

While the policy of reservation for scheduled caste and tribes was implemented at the time framing of Indian constitution. This was not extended to other backward classes. This was due to contested power politics emerging at that time that failed to see them as disadvantaged group. The policy of reservation was extended to gain political benefits rather than actually trying to institutionalize equality for this category. Showing disdain towards caste structure, Nehru brought in category of 'Other backward classes'. However there was silence in the Constitution, on the definition of "classes". Only in Article 340, was there a reference to President having powers to appoint commission to identify 'socially and educationally backward classes'. With no entry point as to how to define this category it has led to a big debate and has ended up in recognizing "castes" as "classes". The semantic equivalence between "class" and "caste" goes against the meanings of these two words. One of the reasons for extending reservations to OBC'S was that it reflected in graded inequality rather than a sharp distinction between Scheduled Castes and caste Hindus.

The insight is gained through experience of first backward class commission that had used four main criteria to judge social backwardness which were a low status, lack of education, under representation in civil services and other governmental sectors (Jafrellot 2003: 549). This came down to belonging to lower caste. As a result first backward class commission recommended 2399 so called OBC caste which constituted 32 % of whole population as per 1931 census. However with a vision to make India modern, the first backward class commission report is shunned out. Political compulsions of the time again brought in this

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

question at the fore front. This was because Nehru's preferential policy towards class ignored the Indian reality of caste. Also other backwards classes reservation policy was being implemented in non-congress ruled states. With janta party coming to power second backward classes commission by name Mandal commission was set up. After this commission's recommendation, policy of preferential treatment was extended to other socially and educationally backward classes. However this was not an easy task as defining 'Other backward classes' was difficult. How should backwardness be measured? Who all should be included in this list? What will be the role of caste in its selection process? How will this case be similar to already existing policy for scheduled caste and tribes? The biggest challenge facing the commission was how to measure backwardness? Should it be based on relative deprivation experienced compared to the top or should it be based on average deprivation index thereby extending it to caste above scheduled caste and tribes. (Galanter 308) the inter-sectionality of caste and class figures out prominently when mandal commission chooses caste in connection to backwardness. This is done by seeing caste as social units whose backwardness will be measured and it proposes to use caste standing as measuring rod. This is done by complicated system based on eleven criteria's but these are weighted to emphasize traditional measures of low status (perceived in rank, manual labour and female participation in labour force). This understanding derives its inspiration from sociological understanding of poverty in India. Usually poverty is seen as group phenomena which are the result of their social backwardness stemming from inequitable status system. This was done as caste system in India had denied lower caste from gaining access to knowledge, political power and economy. This inequality got aggravated due to rapid progress in modernization the benefits of which were cornered by Upper caste. (Sheth 2000:257) The problem gets aggravated as there is no clear hierarchical listing of caste. The mandal commission had identified 3743 caste. In this case question arises whether caste can be merged with economic test? (Galanter 309).This is a problem as government has limited capacity to map the income status of individuals that would put this policy in danger. There was also this apprehension that major benefits of reservation would be cornered b more advance sections of backward communities thereby putting this policy in danger. This was somewhat minimized when Mandal commission' brought in concept of 'creamy layer' in which this policy would not extend to 'socially advanced sections' of backward classes.

One of the important contributions in the field of assessing the role of reservations in political sphere has been that of Christophe Jaffrelot (2003). He calls the inclusion of new groups in political process as "silent revolution", as there has been transfer of political power from upper caste elites to subaltern groups in norther India, The proportion of OBC elected representatives went from 11% in 1984 to 25 % in 1996 whereas that of Upper caste elected officials fell from 47% to 35%. (Jafrelot 2003: 310) However, he maintains that the constraints are clear and explicit: a) Upper castes have strong hold on power positions. b) There has been unevenness in the rise of low caste politics. For example, in states like UP

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

and Bihar it has been more successful than in Rajasthan. c) He argues that Liberalization opened new avenues and opportunities for upper caste, and decrease in government jobs, which has substantially reduced the scope for economic and social inclusion in true sense. d) Rise in lower castes is not linear or irreversible as there is no clear cut unity among caste parties or individuals. He finds that OBCs and SCs are often at odds, due to conflicting class interests, explicitly reflected in the struggle for power between Samajwadi Party (SP) and Bahujan Samaj Party (BSP) in UP.

3.2.2 Courts Stand in OBC reservation

The courts have also played significant role in determining whether caste could be used as class for analytical purposes, and deciding the targets of reservation policies. Firstly, in several cases, courts have endorsed the caste based definition of OBC. The Supreme Court in *Minor P. Rajendran vs. State of Madras* (1968) opined that: "A caste is also a class of citizens." The word "class" is used very expansively here, meaning a number of persons possessing common attributes and hence grouped together. The court in *Rajendran* case also laid down specific conditions for considering any caste as Backward Class, like- if the case as a whole is socially and educationally backward. However, in *State of Andhra Pradesh vs. U. S. V. Balaram* case (1972), the Supreme Court bench of C. Vaidyialingam held that a caste may be "Backward Class" notwithstanding the presence in it of a "few individuals both socially and educationally above the general average." In deciding whether caste can be the real test for backwardness, the court in *M. R. Balaji and State of Mysore* (1962) argued that though caste cannot be the "sole" criterion but it is relevant criterion or factor in determining backwardness. this judgment for some time reversed individual state measures in promoting the welfare of OBC's through reservation policy as there definition on classes rested on caste factor only. Nonetheless the contentious clause was on percentage of reservation given to them that beached 50%. However courts never denied that backwardness of classes cannot constitute backward caste. What the courts suggested that policy to reach real target groups list of OBC should be revised regularly. It has also allowed for sub-classification within OBC category to ensure that the elites do not control and misuse the benefits, attached with the policy, and that the targeted groups actively get benefitted by asserting the 'creamy layer' classification. In *N. M. Thomas* case, the court forced the importance of creamy layer among OBCs, whereby those individuals whose family income fell above an agreed threshold, would be exempted from the benefits of reservation policy. In *Ashok Kumar Thakur*, the courts opined that, as the reservations for SCs and STs was based on multiple factors, and not just in terms of class or economic status, the concept of creamy layer could not be applied to them. Similarly, the courts held that reservations will not apply for Minority institutions and "super-speciality" or technical posts.

Thus we see that the implementation of Mandal commission in reservation policy has again caste into political arena. This was affirmed in Indra sawhney vs Union of India case when

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

Supreme Court judges had declared that 'A caste can be and quite often in a social class in India'. It had also curtailed congress government's initiatives in 1991 to implement reservation based on economic criteria only. (Jafrellot 2003: 311)

3.2.3 Women, Caste and Reservation

Political participation of women has been a simmering debate across globe. The demand for equal political rights was at the centre of the discourse which led to the rise of feminist movements in the west during nineteenth century. Historically, different kinds of arguments were developed in order to justify women's exclusion from the political sphere. One of the assumptions was about *Nature vs. Culture* (John, 2005: 63-64) dichotomy that drew justification for women's confinement to private sphere on the basis of their natural role in society. Politics being a public activity was considered to be the prerogative of men. Since men earned control of public sphere as soldiers and workers while women's role was confined to private as mothers and educators, the sexual inequality was inbuilt in the logic of granting citizenship. (Pateman, 1988: 241) The result was that even though they gained equal political rights in terms of voting etc., it could not help them create space for themselves in representative institutions. Though procedural equality was ensured, it could not translate into substantive forms of democratic citizenship. It was reflected in women's skewed presence in legislatures. This propelled debates about how to ensure women's presence in politics which could translate in effective policies resulting in the demands for quotas. Within feminist struggles, it signified a progress from *"politics of ideology"* to *"politics of presence"*. Anne Phillips in her scholarly work *The Politics of Presence* argued that the issue now was about "*who*" is representing rather than "*what*" was being represented. Phillips maintained that the present form of democratic discourse did not deal with the forms of exclusion that many groups were facing in society, for example, the exclusion of women in politics. Based on the logic of experiential epistemology, she held that the experiences of these sections affect their life worlds and in order to take cognizance of their interests, their presence in representative bodies was imperative. It was argued that policies formulated for any group cannot be relevant if there was no representation of such groups during the deliberation of the policies (Philips 1995:4)

Philips advocated a combination of "politics of presence" and "politics of ideas", and gave four main reasons for the need of female representatives in response to such above mentioned claims. The first issue was about "symbolism", whereby the formerly excluded groups could get a sense of being represented and hence considered as equals in true sense. This symbolic representation, according to Philips, was important regardless of the outcomes such inclusion could ensure. The second argument was that there was a need for formerly excluded groups to be a part of formulating the agenda and changing the existing norms to ensure that their interests could be included. The third argument was about the importance of "experience" in

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

policy making. If women issues were neglected, a women representative could argue more effectively argue for such considerations. Further, during debates on policies related to women issues, a women representative, based on her experiences and interests as a group member, would be in a better position to bring out a true picture on the issues. The final argument is about the need to break the pre-existing hegemonies in the representative bodies. This, according to Philips, could only be ensured by the presence of aggressive spokespersons from the formerly excluded groups in the public arena who were able to challenge the existing patterns of representation based on power hierarchies (Philips 1995:6)

Iris M. Young supported quotas for women based on the idea of difference among various groups. According to Young, democratic public should provide mechanisms for effective recognition and representation of distinct voices and perspectives of groups that are oppressed or disadvantaged. "If women gain access to political power, they will opt for politics and policies that promote social and gender equality, peace and sustainable development." (Young 1990:184) Thus, quotas or other methods of ensuring high proportions of women in elected bodies could transform these institutions

Anne Phillips' argument for quota considers women as belonging to a special category due to differences born out of natural conditions. Iris Marion Young on the other hand discusses about quotas for women or any other group that faces oppression based on the arguments about experiences of "exploitation, marginalization, powerlessness, cultural imperialism and violence." (Young 1988:42) So her position on quotas is based more on the cultural aspects. While both Philips and Young demand quotas for different reasons, their notions try to produce women as homogeneous category.

It is this assumption of a universalized notion of women as a category that has invited severe criticism for both Anne Phillips and Iris Marion Young. It is argued that it seems to suggest that women are timeless subjects who are united by only a single term called "patriarchal oppression". It also seems to signify that all women face same kind of oppression. Critics have questioned this homogenized sense of understanding women's oppression. Feminist critics of different hues- Black, Postcolonial, and Dalit feminists have raised the following questions: a) how does the emergence of the interstices-the overlap and displacement of domains of difference-that inter subjective and collective experiences of nationness, community interest, or cultural values are negotiated. How are subjects formed "in-between", or in excess of, the sum of the parts of difference (usually as race/class/gender, etc.)? How do strategies of representation or empowerment come to be formulated in the competing claims of communities? Despite shared histories of deprivation and discrimination, the exchange of values, meanings and priorities may not always be collaborative and dialogical, but may be profoundly antagonistic, conflictual and even incommensurable? These concerns are not captured by universalized notion of gender. However, regardless of the differences in the conception of citizenship and the questions of representation, there has been a consensus

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

regarding the necessity of quotas for women in political sphere. It is recognized as the best available mode to challenge oppression and raise consciousness about women's issues in society.

The other related question that arose in the discourse was about the proportion of reservation required to bring about significant visible change. It meant presence of "critical mass" in political representation that women needed for bringing qualitative women friendly legislations. The expression critical mass stems from nuclear physics and refers to a certain quantity that is needed to start an irreversible chain reaction that could change a process. The percentage usually mentioned as the turning point is 30%. These numbers were derived to a great extent from the researches of Rosabeth Moss Kanter and Dahleruph who worked on the critical number required for the effective performance of quota system. (Kanter 1977: 965) Lena Wängnerud attempted to summarize some of the empirical results made from studies on both descriptive and substantive representation with the conclusion that although the empirical results of women's representations were rather mixed, "female politicians contributed to strengthening the position of women's interests". (Waneguard 2000:67)

nation-state renounces its sovereignty, there will surely be a possibility of allocation of goods.

3.3 RAWL'S : PRINCIPLES OF FAIRNESS

Justice is one of the most important moral and political concepts. The word comes from the Latin jus, meaning right or law. The Oxford English Dictionary defines the "just" person as one who typically "does what is morally right" and is disposed to "giving everyone his or her due," offering the word "fair" as a synonym. Quest for justice has been an important concern of political theory since ancient time. However, the meaning of justice has been understood differently during different times. In the ancient Greece for the sophist justice meant the interest of the stronger. Plato emphasized on the moral element in justice by saying that the justice meant performance of owns duty with all abilities and capacity toward the social whole. For Plato, justice is a virtue establishing rational order, with each part performing its appropriate role and not interfering with the proper functioning of other parts. Aristotle, on the other hand, held the view that justice meant equal share to the equal and unequal share to the unequal, it is distributing power and position proportional to the world or contribution of the individual. The modern idea of justice implies its legal, political and socio-economy dimensions. The legal dimension of justice assumes that law is the declare will of the state Constitution regulating activities of government. The political dimension of the justice implies political equality, universal franchise, full guarantee of the liberty, equality, and fraternity in that substantive expect. It argues for the reallocation of both materials and moral advantages of social life.

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

The contemporary debate on the natural of justice focuses on the distinctive between procedural justice and substantive justice. The notion of procedural justice is closely related to the tradition of liberalism. According to this view point, the function of justice is to regulate the mutual of relation between individual and groups. Hence the quest for justice should aim at evolving reasonable rules which should be (upheld, impartation) to all categories. In contrast, the idea of substantive justice demand failure of essential conditions or space within which the individual can develop their own self. In other word, the resources or opportunities should be provided to the unprivileged and this advantage section of society.

In modern time, significant part of political theory is directly or indirectly related to the problems of justice. This has given rise to diverse perspective in justice. Of these the following are particularly important:

1. Liberal perspective
2. Libertarian perspective
3. Marxist perspective
4. Democratic-socialist perspective
5. Feminist perspective

1. Liberal Perspective

John Rawls is the prominent liberal thinker .He considered justice as the first virtue of social institution. The problem of justice, according to Rawls is in ensuring a just distribution of primary goods. Rawls revived the social contract tradition in his Kantian version the principle of justice is a product of end original agreement in the original position. The person in the original position is rational, capable of a conception of good and have a sense of justice the two principles that the parties choose in the original position can be stated as follows;

(1) Liberal principle

Each person is to have an equal right to the most extensive basic liberty, compatible with a similar liberty for theirs.

(2) Equality principle

Social and economic inequalities are to be arranged so that they are both:

c) attached to the offices and position, open to all under conditions of fare equality of opportunity,

d) beneficial to the least advantaged section of the society

2. Libertarian Theory of Justice

Libertarian perspective on justice is based on the ideal of liberty. It regards the right to

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

properly as an important ingredient of individual liberty. It is largely opposed to the idea of welfare state. Robert Nozick provides a powerful philosophical defence of the libertarian position of the minimal state. Nozick identifies three principles on which this entitlement would conform to justice.

(1) Initial acquisition

The method whereby an individual comes to appropriate some previously unowned bits of the natural world. Those who come to settle in an uninhabited continent may legitimately acquire its land and natural resources on first come first served basis, as long as nobody is made worse off by their doing so.

(2) Voluntary transfer

It applies to all property whether acquired through initial acquisition or by mixing one's labour with the natural world, i.e. by means of one's talents, efforts, enterprise, etc. in a market situation.

(3) Rectification

This is precisely the area where the state of the international community will be justified to intervene in order to restore justice. Nozick concedes that the history of the world abounds with involuntary transfers as well as unjust acquisitions of natural sources.

3. Marxist Perspective

The Marxist perspective, Marxist claimed that liberal and libertarian failed to recognize the ultimate moral significant of the ideal of social equality, and its intimate linked with justice. The Marxist's are (vocal) about uneven distribution of income as an example of injustice. They believe it is only with the destruction of capitalism, private property, and bourgeois class that it is possible to construct a society based on social equality and realize justice. Capitalism generates inequalities of wealth and welfare because the markets and enterprise work to the advantage of the capitalists and property-owners and Marx explains this with reference to the labour theory of value. Capitalism dehumanizes the human being destroying his essence. With the abolition of private property and inauguration of common ownership, workers' exploitation ceases and society will be reconstructed to bring forth cooperation and fellow feeling.

In a communist society, because of the social ownership of the means of production, justice would mean equality of all and equality for all. It would mean absence of all discrimination, all exploitation and all oppression. It would mean work for all In accordance with their abilities as also fulfilment of all the needs of the entire person in return to what each are of

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

them does.

4. Democratic Socialist Theory

While Marxism seeks to bring about socialism thought revolutionary method, democratic socialism prefers evolutionary or democratic method. Unlike the Marxist the democratic socialist find justice in a regulated, restricted, and controlled system of capitalism. They believed that the goals of democracy and socialism are inseparable each other. It seeks to modify Marxian socialism in some important details. Democratic socialists hold that socialism does not require wholesale socialization of the means of production and distribution. Instead, if some essential means of production and distribution are placed under state ownership so as to ensure the supply of essential goods and services for the bulk of the population, this would be a substantial achievement in the direction of socialism. Democratic socialists insist that socialism should satisfy not only the material needs of the human being, but also should take care of the moral, intellectual and emotional need for proper development of each individual. They also advocate enquiring the individuals ensuring the freedom of thought and expression, freedom of religion and worship, freedom of movement, and other similar democratic freedoms.

Democratic socialism is opposed to all forms of dictatorship, even if it is a 'dictatorship of the proletariat' as expounded by the Marxian theory of socialism. Democratic socialism treats democratic structures – free competition for power among political parties, freedom of pressure groups, parliamentary institutions with an effective role for the opposition, etc. – as essential for achieving the ends of socialism. Among modern thinkers, Harold J. Laski (1893-1950) has made important contribution to the theory and practice of democratic socialism. Laski has, in fact, sought to combine the ends of socialism with the democratic method of liberalism. Democratic socialism seeks to provide for democratic rights and civil liberties as well as socio-economic rights of citizens.

5. Anarchist Perspective

Anarchist perspective on justice is based on the theory of anarchism. Anarchism holds that society should be organized without coercive power of the state. In its view government is intrinsically evil.

William Godwin (1756-1836), a British political theorist, is regarded to be the first modern defender of anarchism. He believed that a society of small producers united by cooperation, but without a state, would be conducive to political justice. Proudhon advanced a number of schemes for the organization of independent associations, decentralization of authority and circumspection of state authority. Mikhail Bakunin (1814-76) asserted that all political, social and religious institutions should be eliminated immediately, and in their place a free federation of independent associations should be created where all would have equal rights and equal privileges, including the right to secession. Mahatma Gandhi (1869-1948), an

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

Indian philosopher and a champion of non-violence, observed that the state, as a coercive institution, is based on violence. Gandhi stood for a stateless society and contributed to the theory of anarchism in his own way.

3.3.1 Rawls Theory of Justice

In Theory of Justice (1971) is Rawls' attempt to formulate a philosophy of justice and a theoretical program for establishing political structures designed to preserve social justice and individual liberty. Rawls writes in reaction to the then predominant theory of utilitarianism, which posits that justice is defined by that which provides the greatest good for the greatest number of people. In A Theory of Justice, Rawls begins with the statement that, "Justice is the first virtue of social institution," meaning that a good society is one structured according to principals of justice. Rawls asserts that existing theories of justice, developed in the field of philosophy, are not adequate: "My guiding aim is to work out a theory of Justice that is a viable alternative to these doctrines which have long dominated our philosophical tradition." He calls his theory -- aimed at formulating a conception of the basic structure of society in accordance with social justice -- justice as fairness.

Rawls' theory of justice aims to constitute a system to ensure the fair distribution of primary social goods. "All social values-liberty and opportunity, income and wealth, and the bases of self-respect- are to be distributed equally unless an unequal distribution of any, or all, of these values is to everyone's advantage". The institutions established for the fair distribution of primary social goods are the subjects of justice.

Rawls proposes to develop a theory of justice by revising the social contract tradition of theorizing about justice associated with the 17th and 18th century writers John Locke, Jean-Jacques Rousseau, and Immanuel Kant. Rawls imagines a hypothetical situation to determine the principles of justice. Individuals are considered to be rational and capable of making rationalistic decisions as a priory. Rawls set forth to determine the essential principles of justice on which a good society may be based. To identify fairness, Rawls develops two important concepts: the *original position* and the *veil of ignorance*:

The *original position* is a hypothetical situation. Among the essential features of this situation is that no one knows his place in society, his class position or social status, nor does anyone know his fortune in the distribution of natural assets and abilities, his intelligence, strength, and the like. The parties do not know their conceptions of the good or their special psychological propensities.

Fairness is achieved through the *veil of ignorance*, an imagined device where the people choosing the basic structure of society ('deliberators') have morally arbitrary features hidden

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

from them: since they have no knowledge of these features, any decision they make can't be biased in their own favour.

The principles of justice are chosen behind a veil of ignorance. This ensures that no one is advantaged or disadvantaged in the choice of principles by the outcome of natural chance or the contingency of social circumstances. Since all are similarly situated and no one is able to design principles to favour his particular condition, the principles of justice are the result of a fair agreement or bargain. Since all are similarly situated and no one is able to design principles to favour his particular condition, the principles of justice are the result of a fair agreement or bargain.

Principles of Justice

Rawls elaborates his ideas of justice as fairness in his two principles:

1. Each person is to have an equal right to the most extensive basic liberty compatible with a similar liberty for others.
2. Social and economic inequalities are to be arranged so that they are
   (a) attached to positions and offices open to all under conditions of fair equality of opportunity (*Equal Opportunity*);
   (b) to the greatest expected benefit of the least advantaged *(The Difference Principle).*

The "basic liberty" mentioned in principle 1 comprises most of the rights and liberties traditionally associated with liberalism and democracy: freedom of thought and conscience, freedom of association, the right to representative government, the right to form and join political parties, the right to personal property, and the rights and liberties necessary to secure the rule of law. Economic rights and liberties, such as freedom of contract or the right to own means of production, are not among the basic liberties as Rawls construes them. Basic liberties cannot be infringed under any circumstances, even if doing so would increase the aggregate welfare, improve economic efficiency, or augment the income of the poor.

Clause b of principle 2 provides that everyone has a fair and equal opportunity to compete for desirable public or private offices and positions. This entails that society must provide all citizens with the basic means necessary to participate in such competition, including appropriate education and health care.

Rawls do not overrule the possibility that these two primary principles will be in conflict with each other. To meet this difficulty Rawls proposes certain 'Principles of Priority'. Such priority is '*lexical'*, i.e., the first has to be fully satisfied before the second is to be considered.

These principles have been arranged lexicographically which means that the first principle of justice takes priority over the second and the principle of fair equality of opportunity takes

© *Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi*

priority over the difference principle. This implies that the equality of basic liberties and rights, including the fair value of the political liberties, is not to be overridden by other considerations.

Clause a of principle 2 is known as the "difference principle": it requires that any unequal distribution of wealth and income be such that those who are worst off are better off than they would be under any other distribution consistent with principle 1, including an equal distribution. (Rawls holds that some inequality of wealth and income is probably necessary in order to maintain high levels of productivity.)

The most important part of Rawls's second principle of justice is the difference Principle. It mandates that beyond achieving fair equality of opportunity, a just society must be organised so that any social and economical inequalities are to the greatest benefit of the least advantaged. Inequality is only permissible if it will benefit the least advantaged. The difference principle addresses the problem of inequalities due to talents, not by trying to equalise expectation across talent level directly, but by requiring that whatever benefit accrue to the more talented do so in a manner that maximally benefits the least advantaged.

Critical Assessment

Rawls' theory of justice has given rise to numerous debates in contemporary political philosophy. Some of the major criticisms are stated below:

Communitarian Critique

Communitarian critique is one of the most prominent critiques of Rawls' theory of justice. It is basically an attack on the universal aspect of Rawlsian idea of justice. Communitarians argue that in the original position, Rawls assumptions are based upon completely abstracted individuals. Abstracted individuals are those who are put outside their social, political and cultural context. Communitarians argue that any abstract individual can't make choices, and people in Rawls' theory are signing a contract.

Michael Walzer in his book 'Spheres of Justice' and Michael and J. Sandel in his book 'Liberalism and the Limits of Justice' give the counterargument to Rawls' hypothetical individualistic aspects. Walzer asks that since the Rawlsian veil of ignorance assumes individual out of their social context then how can those decisions be applied to real life situations in actual social contexts? People in real life take decisions on the basis of what they understand to be good. The idea of good, according to Walzer, could not be shaped on the basis of individual account. It is always shaped by the community and their beliefs and cultural and social practices. Thus any idea of good would be communal in character. Individuals are basically embedded in community. For example, a caste-based society defines justice on the basis of discrimination. In a caste based society, purity and pollution are decided by birth. Birth becomes the decisive factor in determination of access to water, land

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

and resources. Thus Walzer argues that distribution of goods in a society is dependent upon the specific meaning those goods have, which are socially constructed and embedded in the community, its practices and its institutions.

Feminist Critique

Carole Pateman, Susan Moller Okin and Martha Nussbaum are feminist scholars who gave the feminist critique of the Rawlsian understanding of justice. Carole Pateman, in her book 'The Sexual Contract'' starts with the criticism of all kinds of social contract theories, and argues that all social contract theories work on the repression of the sexual contract, though it is an integral aspect of contract theories. Turning specifically towards John Rawls, she points directly at his "original position". Rawls' task is to find a picture of an original position that will confirm our intuition about the existing situation, which includes patriarchal relation of subordination. Pateman blames that Rawls did so successfully by remaining silent on the matter of sexual identities of the participants to the contract. Pateman blames that parties in the original position would have choices and reason but they are sexless people – they cannot know their sexes. This silence about the sexual contract in Rawls' theory actually denies the conjugal relationship between man and woman, and denies the existence of rights to women against patriarchal domination. It gives priority only to political rights. Pateman argues that since all men and fathers who are the part of social contract come from the womb of women, the rights of women and the social rights should come prior to political rights.

Susan Moller Okin in her book 'Justice, Gender and Family,' gives a deeper analysis of the whole political philosophy of John Rawls than just his idea of original position. Okin argues that in the book "Political Liberalism" Rawls basically creates a divide between the public and the personal spheres. He limits any discussion about an idea of justice in the domain of public sphere. In 'Political Liberalism,' Rawls basically argues for a political conception of justice. It implies that Justice is only about the achievement of political rights in the public sphere. Okin criticises this aspects of Rawls' overall political philosophy arguing that this actually denies justice in matter of inequalities within the family and the household. The denial of justice within the personal domain actually denies the political aspects of what is considered to be private and personal. It also subordinates the personal domain. Feminism, on the other hand, has shown to philosophy that the personal is political. Thus Rawlsian divide between personal and public goes against the basic philosophy of feminism, and by extension, equality and justice itself.

Martha Nussbaum, in her book 'Women and Human Development: A Capability Approach,' argues that the Rawlsian conception of justice could be made just if he would add the development of capabilities of women and children in his list of primary goods. Nussbaum criticises Rawls on three simple grounds:

First, Rawls includes family as a part of basic structure, but he also established the family as

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

a voluntary institution analogous to the church and the university. Nussbaum argues that the family as an institution could not be compared with church and university. It's a most basic institution of society and it has its pervasive influence on every other institution. It should therefore come prior to the church and university.

Secondly, Nussbaum critiques Rawls' faith in the nuclear family. Rawls fails to acknowledge the parochial character of this. Nussbaum emphasises that in very large parts of world, like South Asia, the idea of extended family exists, with village groups, and different women collectives. Rawls gives no reasons why we should choose the nuclear family over any other form of family?

Libertarian Critique

A large portion of Robert Nozick's Anarchy, The State and Utopia (1974) is dedicated to refuting the theories of John Rawls. Specifically, Nozick takes issue with Rawls' conception of distributive justice with the former's entitlement theory. Nozick calls Rawls' distribution theory a patterned theory. To Nozick, no distribution is just and there should not be redistribution at all. Redistribution infringes individual's rights which, according to Nozick, trump all other considerations and subject matters.

Nozick, in general, contends that people are born with fundamental individual rights. These individual rights are paramount and that there is no need for a system to achieve moral equilibrium. He rejects all end-result theories, i.e. distributive theories such as Rawls theory of justice. Nozick rather adopts the 18th century philosopher Immanuel Kant's principle of "individual inviolability" that cannot be violated as a means to achieve particular ends, meaning the significance of each person's possessions of self-ownership is that people should not be used as resources or a means of achieving some end and this is exactly what Rawls proposes to do, Nozick criticizes. It is wrong to treat people as if they are merely of instrumental worth or to sacrifice one person for another. He claims that the rights of others determine constrains on our actions.

According to Nozick, the "classical liberal" view is that the right of people to control their bodies and actions is a property right, the right of self-ownership. He further argues for his entitlement theory where it is permissible for people to have and hold property on however an unequal basis provided it was acquired legitimately in the first place. Thus, if someone acquired a holding justly, any interference with his holdings i.e. via imposition of tax, would violate his rights. Nozick claims, a redistributive system invades that right making others "a part owner of you giving them a property right in you". Thus, a redistributive system institutes partial 'ownership by others of people and their actions and labour'. Consequently, he argues that taxation of labour income is "on a par with forced labour ".

Robert Nozick is primarily concerned with the distribution of property, and argues that justice

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

of any given distribution of income and wealth can be exhaustively covered by the repeated application of the three basic principles of justice in: acquisition, justice in transfer, and rectification when the first two principles have been transgressed: "the holdings of a person are just if he is entitled to them by the principles of justice in acquisition and transfer, or by the principle of rectification of injustice (as specified by the first two principles). If each person's holdings are just, then the total set (distribution) of holdings is just" .These principles set out the entitlement theory of justice: people are entitled to holdings that are acquired via (repeated applications of) the principles of justice in acquisition and justice in transfer, or via rectification of transgression of those first two principles. Any inequalities of income and wealth that happen to arise as a result of legitimate acquisition and legitimate transfer are a matter of complete irrelevance when it comes to determining the justice or otherwise of a given distribution – the only relevant question concerns whether the holdings were legitimately acquired and/or legitimately transferred (see pp. 150–153).

Marxist Critique

Marxists generally argue that any argument put forwarded about justice in capitalist system just aims to serve for the interest of dominant class. In other words, it is argued that since Marxism regard the notion of Justice as a product belonging to superstructure, any conceptualization and theorizing justice is entirely ideological and seeks nothing but legitimating social inequalities.

Rawls argues that a fair society can be constructed by means of two principles of Justice as Fairness, since these principles suggests a progressive tendency to equality transcending dichotomy of freedom and economic equality. Even though it can be argued that Rawls tries to alleviate economic inequalities in a society, his two principles do nothing but providing a permanent inequality among different groups where bourgeoisie class benefits. More importantly, what makes Rawls' Theory of Justice unjust is based on his argument that social and economic inequalities are a-priori and inevitable. That is, Rawls claims that economic and social inequalities are natural and a theory of justice should deal with to ease these inherent inequalities without swerving liberty.

The second or difference principle is another complicated proposition. Even though it is called by Rawls as an egalitarian principle, it also functions to justify inequality. After all, it is the standard justification for inequalities everywhere that they benefit for the least advantaged. Such a Rawlsian paradox stems from his exclusive emphasis on distribution rather than production, as well. As he regards the notion of free market as a crucial element of the basic structure of a just society (at least he does not strictly object it), his theory of Justice as Fairness implicitly or explicitly accepts class divisions.

over about the universality and homogeneity of truth.

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

3.4 FEMINIST PERSPECTIVE

How many political theorists do you come across while reading your political science text books? Probably very less number or sometimes no female at all, may be that is the reason some feminist claimed that the history of political theory is the history of male theorist. Not only political theory but most of the fields are male dominated and male managed. The term feminism first came in use during the period of 1890s. But the origin of modern feminism can only be traced back to late seventeenth century surely not in its present form. Initially feminist started in its liberal form and the first full expression of liberal feminism came in Mary Wollstonecraft's book "*Vindication of the Rights of Woman*" (1792). Here she claimed that like men, women are also rational beings, hence they should be entitled to the equal rights as per men. She challenged her contemporaries who excluded the women from enjoying the full citizenship rights. She argued that women have the same potential for rationality that men have and thus there is no reason why women should not enjoy the same status that men enjoy. Nurture, not nature, argued Wollstonecraft, is the cause of gender distinctions. Wollstonecraft criticized such appeals to the 'natural' differences between men and women.

Not only women like Wollstonecraft was concerned with the equal rights for men and women but some enlightened men like John Stuart Mill was also advocated for the same. In the "*Subjection of Women*" 1869 Mill came up with full scale analysis of women's situation and advantages to society of giving them full legal and political equality as per with men. He advocated this because he believes that what is now considered as the nature of women is completely spurious and a result of a forced suppression and fabricated incitement.

3.4.1 Schools of Feminism

Feminist movement as a whole was concerned with the women rights and advocated for equality of sexes Vis-a-Vis challenged male dominance. But did not prescribed a universalized single path, different feminist have advocated different roots for women cause. Broadly speaking there can be three varieties of Feminist traditions namely liberal, socialist and radical feminism.

Liberal feminism emphasizes upon the equal worth of all individuals whether male and female. The main focus is on achieving gender equality through political and legal reforms within the liberal democratic framework. Liberal feminism has a great admiration and belief for the respective laws, the political institutions and the education. As they are among the most relevant factors of human development, the major source of inequality is the denial of equal legal and political rights. Unlike other major brands of feminism, liberal feminism did not undermine the existing institutions of power in liberal democratic societies thus seems more inclusive and socially progressive. They also believed that men can be an

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

active participant in female struggle. As both are rational, they should be treating alike; both can complement each other in their fight. As some of men like JS Mill, have successfully done by advocating equal rights for women. The major feminist associated with this theory include Mary Wollstonecraft, Elizabeth Cady Stanton, John Stuart Mill, Helen Taylor, and Gina Krog, Gloria Steinem, Betty Friedan, Simone de Beauvoir, Rebecca Walker and many more. The primary concern for feminists is the liberation of women and liberal feminists believe that an enlightened version of liberalism can inspire a public philosophy that will help in counter the present social injustices.

Many feminists believe that liberalism is the source of the problem and not the solution. Liberal feminists initially wanted equal right as per men but treating men and women equally leads to two problems. This sameness approach denies the very particularities of male female difference. First while taking men as standard it undermines the idea of femaleness. A female and male are two different categories; women's identity cannot be compromised to attain an equality built on the male parameters. Secondly in the process of treating female and male as equals it fails to accept that women and men are actually different and so their problems. For example it is women who suffer the menstrual pain, carries the physical qualities to bear a child. Equal treatment here can be harmful to women and denied them of the maternity relief benefits and other such policies.

Socialist feminism focuses upon the interconnection between capitalism and patriarchy as both capitalist system of production and a gendered biased institutionalized system of patriarchy is collectively responsible for the women's condition. Between 1960s and 1970s this variant of feminism has spread widely. Socialist feminists believe that financial dependence over males is a major cause of women's oppression and discrimination. In capitalist system of production unequal ownership of wealth between women and men further give a boost to male domination. In this sense subjugation of women to men is a result of economic dependence. Gender equality can only be established by eliminating this economic and social structure. Women's liberation here is imperative to larger quest for economic, social and political justice. Some of main socialist feminist are Barbara Ehrenreich, Charlotte Perkins Gilman, Johanna Brenner, Silvia Federici, Clara Fraser, Donna Haraway, Emma Goldman and so on.

Though it did not repeat the mistake of liberal feminists who consider both men and women equal but they too were subject to certain criticism. Alexandra Kollontai criticized the feminists to neglect the poor working class women at the expense of upper-class bourgeois women who were still oppressing the poor working women. So, feminist movement is actually a movement for the so cold upper class women's dominance over the poor lower class women.

Radical feminism as its name suggests is a perspective which advocates for radical reordering of a male dominated society. The male dominated society is characterized

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

by the male supremacy in all social, economic and political sphere of life. Radical feminism advocated the elimination of male's supremacy and women's experiences should also be count along with other divisions like race, class, and sexual orientation. They proposed that the society is basically patriarchal based upon the women oppression by men. For this they wanted to abolish the patriarchy to liberate women from existing social norms and institutions. Janice Raymond, Andrea Dworkin, Catharine MacKinnon, Germaine Greer, John Stoltenberg, Monique Wittig, Mary Daly and Robin Morgan are some important radical feminist.

They collectively struggled against the sexual objectification of women; oppose the violence against women in form of rape and other such crimes. They are challenging the prescribed traditional gender role like limiting women to the household. Patriarchy is the fundamental reason of systematic oppression and marginalization of women, it make women other.

Besides having divergence of opinion about the gender discrimination, it's causes and the possible routes to improve the condition, there are certain points upon which all feminists agree. Three common points all feminist supporting are:

1. **Entrenchment of Gender**–Gender inequality is widespread in all societies in all times. All feminist are in one voice confirmed that the unequal bifurcation of individual roles on the bases of gender has been a major and common issue of concern as this gendered division lead to long term inequality in society. Assigning gender roles like private sphere for women (the household responsibility) and the public sphere to men (the breadwinner of household) is problematic to all feminists.
2. **Existence of Patriarchy–**Patriarchy literally means 'rule of father'. Normally it signifies towards a condition where all necessary and relevant decisions in a family are taken by the male member. Feminists have consensus over the existence of patriarchy in society. Kate Millett who wrote the *"Sexual Politics"* (1970) portrays patriarchy as a 'social constant' running through all the political, social and economic structures. It according to her is grounded in and operates from the family which works as a fertile ground for patriarchy. She has suggested a radical solution to patriarchal oppression, and the solution is the abolition of conventional family system along with consciousness-raising. Existence of patriarchy restricts women's reasoning and chances to participate in the decision making process, devoid them of the basic facilities in life.
3. **Need for Change**–All feminists believe that there is a deep need of change in the attitude and the manner hitherto society is running. Different path can be adopted for the betterment of the women. It can be through revolution the idea advocated by the revolutionary feminist or the through strengthening laws as the liberal feminist wanted. Shulamith Firestone in her best known work *"The Dialectic of Sex"* (1970) advocated an entirely different kind of solution to alter the status quo. Unlike socialist

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

feminist she belies that society cannot be structured through the process of production, but through the process of reproduction. She argued that women can only be emancipated by outdo their biological roles either by the use of modern technology like test tube babies or through other routes. This is more a kind of individual change she was talking about, but a collective change in the existing institutions, policies, values and practice is required.

3.4.2 Waves of Feminism

The present form of feminism did not develop gradually and overnight. It rather took a long period to systematize feminist thought. The period of its development can be seen in different waves.

First wave This wave of feminism was emerged in the 1840s and 1850s and closely associated with the women's suffrage movement. Feminists such as Mary Wollstonecraft Sylvia, John Stuart Mill, Emmeline, Christabel Pankhurst and Sojourner Truth have advocated for women rights in political and economic sphere. The major argument they presented to strengthen their claim over women rights was equality of sexes. So one group claimed that women were equal to men, other group argued that women were superior to the men. The major demand in this wave was women's interest cannot be sacrificed and not subject to any reductionism. Women should be able to vote and represent themselves and not politically dependent over their husbands or other male members of their family. The result was a partial success in building consciousness regarding women rights in Europe.

Second wave came in 1960s with more radical and sometimes revolutionary vigor. Women's Liberation Movement. It is associated with the resurgence of feminist activism, specifically the radical feminism, in 1960s and 1970s. Germaine Greer, Shulamith Firestone, Andrea Dworkin and Mar Daly are some key feminist in this wave. During this wave feminism, prime concern was male violence toward women particularly sexual violence. Major focus was on attacking this kind of violence, rejected the feminine norms like the sexual submissiveness and participation in beauty practices. Oppose those practices considered as common norm is society such as gendered distinction of work and do favor female solidarity and sisterhood.

A wide range of changes have taken place and many more laws have been initiated for the betterment of women but the radical and tragic change is still a far cry.

4.3.3 Post Feminism

It is characterized by the resistance towards the themes of second wave feminism by feminists like Katie Roiphe, Camille Paglia, Natasha Walter and Pat Califia. Feminists during this wave demanded that women must not see themselves as victims, rather consider

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

themselves as active agents. Sexuality should be thought as liberating and consensual sex should not be treated as a taboo. Feminism should focus on women's material equality rather than symbolic aspect of gender.

Throughout the different waves of feminism, the phrase 'personal is political' was used widely particularly in the second wave. The phrase was popularized by the Carol Hanisch through her article "*The Personal is Political*" in 1969. Let's discuss what it denotes.

3.4.4 Personal is Political

It means that unlike common belief personal is not so personal in fact it is very much political as what happens in household is a reflection of the political decisions. In "*Justice, Gender and the Family*" Susan Molar Okin argues that there are four major respects in which the personal is political. These are:

1. Power, a distinguishing feature of the political but private sphere is also a sphere of power. Power exists within the family, among the gender relations between husband and wife, sister and brother and so on. For example domestic violence is clear reflection of the use of power within family.
2. The domestic sphere itself is the result of the political decisions taken in other sphere. In that sense political sphere infiltrates private sphere. State interference in family matters and the institution of marriage reveals this infiltration. Marriages are sanction by the state; the state is the supreme authority to decide who can be marrying and whom you cannot marry. Every state has their own marriage criteria such as a particular age of marriage, guidelines about homosexual marriages and other such laws.
3. Domestic life is where most of individual's early socialization takes place. Private sphere creates the psychological conditions that can govern public life. The social construction (gender division of labor) and patriarchal surrounding (where key decisions are taken by the mal member in family) work as an initial setup.
4. The division of labor within majority of families raises psychological and practical barriers against women in all other spheres. The household responsibilities cause women's underrepresentation in most relevant public institutions like government, judiciary and economy (Okin, 1989: 128–33).

The slogan 'the personal is political' shows how deeply entrenched sexual differences are in society and requires us to consider closely the role of the family perpetuating the social inequalities. Feminists reject the liberal idea that the family is part of a 'private' realm where principles of justice cannot be actualized. Okin advocated the creation of a genderless society through the changes in education curriculum and the institution of marriage. She actually brings out the practical significance of the feminist idea of 'the personal is political'. To

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

remove the difference between personal and political, difference of sex and gender must be abolished first.

3.4.5 Sex and Gender

Simone De Beauvoir in "*The Second Sex*" (1949) argued that women's sex is defined relative to maleness, a woman is a 'not-man'. Men on the other hand are defined independently of their sex and of women, as autonomous and rational beings. This imbalance resulted in the inequality between male and female. Women needs civil liberties, economic independence, removal of passive femininity and sexual submission in order to achieve gender equalility. Further women identitty must be redefiend independent and autonomous of the male.

Feminists have confirmed the fact that gender and sex are two different things and gender distinctions are socially constructed. It means that it is the result of political arrangements and is acquiescent to social and political analysis. Since the seventeenth century, some feminist have argued that the women's nature which is characterized as natural and universal is actually artificial and distorted, a product of constructed societal upbringing. In the words of the Simone de Beauvoir, a French writer, 'One is not born but rather becomes a woman'. In the later period this statement starts formalized into the sex/gender distinction. As per this distinction, *sex* is about the biological characters of males and females, mainly those associated with reproduction. These differences are also seen in physical size and shape of men and women, the organs and functions of reproduction. It is distinct from the gender, which are socially constructed attributes of masculinity and femininity, and the social roles and arrangements prescribed by them like what should women do and what should men do. Gender refers to those differences that are imposed only by social norms such as girls should wear pink and boys should wear blue or the norm that women should be kind and emotional and men should be tough and rational.

Sex/Gender difference became quite relevant because constructed gender division forced women to sacrifice their careers for parenthood, do the majority of unpaid domestic work and are made vulnerable through the institution of marriage. These differences between men and women do not stem from biological differences but from unequal power relations between male and female. All feminists are united in their concern for liberating women and adopt diverse theoretical positions for identifying these injustices. In accordance with their findings they present different prescriptions of what needs to be done to create a more equal society.

But some feminists oppose the sex/gender distinction. They believe that biological categories of male and female are not as distinct as they seem. It is society, not the biology which makes these categories so significant.

Feminist political thought has been primarily concerned with at least two issues.

First, it analyses and explains the processes, institutions and practices through which women

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

have been subordinated to the men. The women have been marginalized through a set of constructed societal norms. Second, feminism is not limited to the analysis of the problem but it also tries formulated the most appropriate and effective ways to challenge this subordination and domination. Feminists have a firm belief that the gender is a political construct, normally based upon stereotyping of 'feminine' and 'masculine' idea about the gender behavior and their social roles.

To be a political theory as a 'feminist' theory it should be emphasizes upon the eliminating of oppression of women by men and also by women in all forms. Feminism should not be misunderstood as against the men as it is not against by but the male dominance over the women or for that matter any such domination either by men or women. It is characterized by its political stance and the attempt to advance the social role of women. They have highlighted the problem of unequal political relationship between the sexes, the supremacy of men in every sphere and the subjection of women in most the societies.

There is a famous saying of Karl Marx that 'the philosophers have only interpreted the world in various ways but the point is to change it'. The Feminism has not merely reinterpreted the contribution of major theorists and shed new light upon established concepts such as power, domination and equality, but also introduced a new sensitivity and language into political theory related to ideas such as connection, voice and difference. In *"Sex and Social Justice"* Martha Nussbaum defends a kind of feminism that has the following five features. First it should be internationalist not limited to a particular region or nation, second humanist humanity should be the highest consideration, third liberal means advocating equal rights for all, four the concern with the social shaping of preference and desire and finally the concern for sympathetic understanding.

3.5 THE PUBLIC VS PRIVATE DEBATE: CENSORSHIP AND ITS LIMITS

In case of India, the democratic set up of governance did not allow any larger scope for the government to exercise the power of censorship more commonly. The vibrant Indian civil society and the independent judiciary make s for a necessary check on the power of government. And if the executive power is widened to limit the scope for rights and freedom, the highest court has fundamental power and authority to intervene. In contrast to this, the party-state model of China does gives absolute power to the Communist Party of China (CPC) to exercise strict surveillance and censorship over its citizens. This is so regular and established in the Chinese system that many scholars refer to the Chinese state model as of being censorship state or Surveillance state. These are common words, which are often used, in the public discourse to refer Chinese political system.

3.5.1 Types and Elements of Censorship

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

In a democratic society secrecy and openness reflect conflicting values and freedom of thought in a political system. However, in case of censorship by the state or any kind of political establishment there are always efforts to control information in different contexts. Norms about the concealment of information and restrictions on communication are mostly present in different forms in Constitutional practice and in the running of government. For example, Britain's Official Secrets Act or the United States' Freedom of Information Act, are statutory laws with a character of secrecy and element of restricting information from the public domain.

One of the fundamental attribute of censorship involves Secrecy, which is the norm about the control of information, whether limiting access to it, destroying it, or prohibiting or shaping its' creation. Secrecy is a general and fundamental social process known to all societies. In preventing or restricting communication, the legally supported form of censorship discussed here involves secrecy. Press and broadcast organizations and the major newspapers and television networks have codes of ethics and voluntary standards. These agencies are often subject to censorship in various types by regimes in any of the democratic and authoritarian systems. The political system has a tendency to use state laws at times on different agencies, which are subject to control and regulation by the executive. Apart from secrecy censorship is also practiced in the name of populism and newly formed democratic states in the contemporary world. This can be seen in many third world countries and some democratic turned authoritarian states.

3.5.2 India and Censorship

In a democratic country like India there can be no scope for the exercise of any kind of censorship or surveillance by the state. The India constitution permits broad set of rights and protection against any kind of executive action, which violates the law and procedure. However, the development of democracy in the post independent era has does witnessed some steps and actions by the state which are often in the category of exercising censorship in India. Despite India's deeper democratic foundations, there have been instances when the government has tried to restrict freedom for the citizens. The infamous Emergency in 1970s is one such instance when we witness the use of extreme form of censorship and surveillance by the state in India. This was the time when in fear of public opposition and social upheavals the government of the day tried to suppress the freedom and rights for the citizens.

When we talk of censorship, it basically denotes the systematic repression or control of ideas and information, which is supposed to be circulated in an open society. A censorship is something, which goes against the basic principles of free flow of information. Any political system making way to this kind of process and practise is termed as establishing censorship. It is also interesting to understand that since the time of Greek republics to the contemporary modern form of Government, censorship has been used widely as a major tool to battle any unwanted criticism for the government.

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

Under Article 19 the right to freedom of speech and expression is guaranteed by our Constitution. In order to limit different form of public expression, which may cause some disruption to the executive interests and its authority, many states across the globe are bound to adhere to frequent use of censorship laws and regulations to consolidate their authority. In the government system, like India for instance it provides for a certain broad set of protection against censorship. In comparison to China, India is best placed in terms of rights protection globally.

3.5.3 Censorship and Media

A classic example of censorship in India is the institution of Central Board of Film Certification (CBFC). This comes under the authority of Ministry of Information and Broadcasting under Government of India. The Board is responsible to monitor and regulate anything, which is deemed offensive, or subjects considered being politically and socially untenable. While the board is one such institution for the exercise of censorships in the domain cinema and art in India. It needs to be understood that many times the activity and regulation of boards are subject to public criticism for the over exercise of censorship in India. The board has often become a contested point between the defenders of freedom and any executive authority.

In post independent India the Congress party has largely controlled the ruling establishment in the states and union level. The single party dominance by the Congress at most levels was largely present in the 1950s and 1960s. However, the step taken by the Congress government in the 1970s, which led to the declaration of Emergency in India, was another step, which led to new censorship in India. During this period the reaction of the print media to the imposition of emergency and new censorship laws in India became a matter of much criticism and debate among the civil society. This criticism can be divided into two phases.

1. The initial response was of sense of despair due to loss of freedom and choice.
2. After some time Press which was supposed to oppose the government became silent on executive criticism.

In the present age of Information and Technology, India has also passed and executed certain IT laws in order to better monitor and regulate this sector. However, there are also concerns raised due to some recent amendments in the IT laws of India. After the 2011 amendments to the Information Technology Act were issued in May 2011, the Indian government approached many IT corporations like Google and, Yahoo to pre-censor their web content, before they are brought into public domain. This was directed to monitor or filtering the information and content that was being produced by these platforms. According to the new rules, it was expected from these platforms to remove or disallow any content that was critical or objectionable in one way or the other. Especially sensitive dissemination of information was supposed to be restricted subject to public order, morality and health..

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

However, many leaders of these platforms and some public intellectuals do criticise these steps, which in their opinion was not fair and acceptable in the democratic setup. To them, these regulations are not aimed in monitoring the web content as desired by the executive action but are more designed to protect the criticism to the executive power. The amendments to the IT laws in India also led to the debate on the convergence of freedom, state power and censorship in India.

3.5.4 Rule of Law, Freedom and Surveillance

The rule of law is very much enshrined as a fundamental value in the concept of constitutionalism. The idea of limited government is key to constitutionalism and basically rests upon broad parameters of rule of law. It refers to the principle that law should 'rule', and 'supremacy of law', must be adhered at all levels of government. It must provide a legal framework for the governance at social, economic and political levels. The principle has found theoretical argument in ancient political writings. In the Greek political thought, Plato and Aristotle have discussed about rule of law. The conception of 'ideal state' in Plato's political thought is built around three key human virtues of wisdom, courage and appetite has also underscored its importance. He said, "Where the law is subject to some other authority and has none of its own, the collapse of state, in my view, is not far off; but if law is the master of the government and government is its slave, then the situation is full of promise and men enjoy all the blessings that the gods shower on the state". Similarly, Aristotle maintains that citizens must have good laws and must be habitual to adhere to them. His argument was that "law must govern". In his understanding of rule of law it represents a required habit of obedience and adherence. In the discipline of legal jurisprudence, contemporary legal positivists like Jeremy Bentham, John Austin and H.L.A. Hart share commonality with Greek political philosophers in understanding rule of law as a general habit of obedience on the part of a citizenry, a social fact of citizen acquiescence.

The rule of law owes much of its conceptual origin and advancement to the development of nation state model. The convergence between industrial revolution and renaissance period marked significant push for rule of law as a principle. This marked the end of medieval age theocracy and paved the way for emergence of modern nation state model with rule of law as its key foundational basis. The earlier theoretical exponents of rule of law include writings of John Locke. He emphasized that fundamental purpose of rule of law is to protect individual rights, which in Locke's view meant right to life, liberty and property. Later on A.V. Dicey, renowned British jurist and constitutional theorist popularized the principle of rule of law. In the view of Dicey rule of law embraces certain key characteristics. This includes that there must be punishment for breach of law, it requires 'equal subjection' to law, more commonly understood as equality before the law, with application of law at all times and circumstances and lastly, embodiment of individual rights in fundamental law of land. He discusses in detail

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

necessary mechanisms for rule of law to prevail at large. The basic parameters on which principle of rule of law has evolved for centuries serves to protect individual rights from the government abuse; at the same time, it ensures governance based on law and not of men. Such an idea was enshrined in German concept of Rechtsstaat, a state based on law, which came to be widely adopted throughout continental Europe and encouraged the development of codified and professional legal systems.

It is undeniable that rule of law stands one of the most important political ideal in contemporary world. Public intellectuals and scholars frequently invoke the concept in an attempt to justify or condemn state actions, political decisions, or whole legal systems. It has been used as a testing ground and parameter of governance in different countries. Despite this there exists wide disagreement among scholars on the conception of rule of law. The principle being intrinsic to liberal democratic model of governance is still much contested in west too.

The term is frequently criticized for having no determinate meaning. Waldron referred to it as an "essentially contested concept". The similar expression was made by Olufemi Taiwo who said that, "it is very difficult to talk about rule of law; there are as many conceptions of rule of law as numbers of people defending it". Accordingly, these observations have aroused in due course of evaluating the presence and level of rule law in a given society. There may be theoretical agreements but when it comes to application of this principle in testing different models of governance and their ability to protect individual rights difference of opinion emerge at large. There is also conflict of opinion on rule of law being a political ideal or moral value. Some argue that it is a value, albeit not a moral value, while others regards it as among the highest of political ideals.

3.6 QUESTIONS

- How do you understand relations between Censorship and Freedom?
- How censorship and surveillance restrict/challenge rule of law?
- Does China's political system supports surveillance and state censorship?
- What are major types of methods/tactics used by state for censorship?
- How do understand debate on censorship in India?
- What is the difference between legal, political, social, economic justice?
- Critically evaluate Rawls's theory of justice?
- What is feminism? Discuss different schools of feminism.
- Discuss the idea of feminism. Explain the different waves of feminism?
- Explain 'the personal is political' with reference to the understanding of Susan Molar Okin.

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

A.C.-22.11.2022
Appendix-117

- Differentiate between sex and gender. Define how gender plays role in society?

3.7 REFERENCES

- Ball, T. (2004). History and the interpretation of texts. In G. F. Gaus, & C. Kukathas *Handbook of Political Theory* Sage Publications Ltd.
- Bennett, J. (2004) Postmodern Approaches to Political Theory, In G. F. Gaus, & C. Kukathas *Handbook of Political Theory* Sage Publications.
- Bryson, V. (1993). Feminism. In R. Eatwell and A. Wright, *Contemporary Political Ideologies* (pp. 192-215). Pinter Publishers
- Bryson V. (2002) Gender. In G. Blakeley and V. Bryson *Contemporary Political Concepts A Critical Introduction* Pluto Press
- Chambers C. (2008) Gender. In Catriona Mckinnon *Issues in Political Theory* Oxford University Press
- Farrelly, C. (2004) Feminism. In *Introduction to Contemporary Political Theory* Sage Publications.
- Gauba, O.P. (2009) *An Introduction to Political Theory Fifth Edition* Macmillan
- Heywood, A. (2004) *Political Theory An Introduction Third Edition.* Palgrave Macmillan
- Pateman, C. (1991). Feminist Critique of Public Private Diachotomy. In P. Pettit *Issues in Political Theory* Macmillan.

© DDCE/COL/SOL/University of Delhi

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi